चारु चिन्तन



स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

चारु चिन्तन

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
मुम्बई / वृन्दावन

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन:(0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

प्रथम संस्करण : 2000
जुलाई 1979
द्वितीय संस्करण : 500
संन्यास जयन्ती, 3 फरवरी 2012

तृतीय संस्करण : 500
मकर संक्रान्ति 2022

●

मूल्य : 100/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
मो. : 9415624020

चारु चिन्तन

परमपूज्य महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजके भक्ति-ज्ञान-कर्म पर लिखित लेखोंका अद्वितीय संकलन है यह 'चारु चिन्तन'।

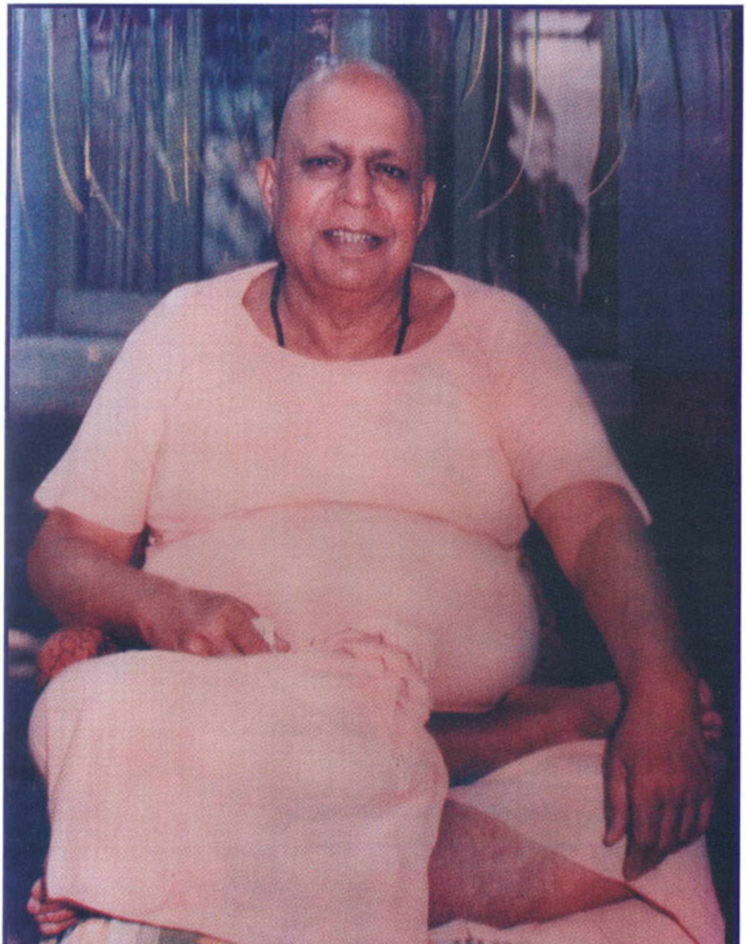
जुलाई 1979 में सुश्री मिथिलेश शाहके आर्थिक सहयोग से 'आनन्द वृन्दावन चैरिटेबल ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित होने के पश्चात् यह अप्राप्य हो गया था।

महाराजश्री के परमकृपापात्र मुम्बईवासी श्रीलक्ष्मी नारायण मूंदड़ाजी महाराजश्रीके अनुपलब्ध/अप्रकाशित ग्रन्थोंके प्रकाशनमें रुचि रखते हैं-उन्हींके द्वारा प्रदत्त आर्थिक-सहयोग-महन्त स्वामीश्री सच्चिदानन्द सरस्वतीजीके निर्देश पर सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा 'चारु चिन्तन'का यह स्वरूप आपके कर कमलोंमें शोभायमान है। विश्वास है आपको पसन्द आयेगा!

–ट्रस्टी

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई / वृन्दावन



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

आशीर्वचन

हमारे परम प्रेमास्पद स्व. श्री गोकुलचन्द शाह की पुण्य स्मृतिमें उनकी पतिव्रता एवं धर्मनिष्ठ पत्नी श्रीमिथिलेश कुमारी ने 'आनन्द वृन्दावन चैरिटेबल ट्रस्ट' को दस हजार रुपये देकर यह 'चारु चिन्तन' पुस्तक प्रकाशित करवायी है। इसमें हमारे लिखे हुए कुछ चुने हुए निबन्धोंका संग्रह हैं। वे धर्म, भक्ति, योग, ज्ञान, नामसंकीर्तन, साधना आदिके सम्बन्धमें समय-समयपर लिखे गये हैं। इनमें किसी प्रकारका क्रम या संगति अपेक्षित नहीं है। कुछ शास्त्रीय निबन्ध भी हैं। आशा है इसके अनुसन्धानसे साधकों एवं विद्वानोंको समान रूपसे आनन्दकी उपलब्धि होगी।

हमारा आशीर्वचन है कि श्री मिथिलेश कुमारी की अनन्य धर्मनिष्ठा सर्वदा बनी रहे और वे इस प्रकारके धर्म-सम्मत कार्यमें तत्पर रहें।

—स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

ट्रस्टाधिपति

आनन्द वृन्दावन चैरिटेबल ट्रस्ट, वृन्दावन

चारु चिन्तन

अनुक्रमणिका

भक्ति

चारु चिन्तन

भक्ति-दर्शनकी कतिपय विशेषताएँ

भक्तिकी आवश्यकता

जीवकी ब्रह्मभावापत्ति मुक्ति है। जीव ब्रह्मसे अत्यन्त अभिन्न है; तब जीवोंकी ब्रह्मभावापत्तिमें बाधा ही क्या है? सच तो यह है कि जीवोंका जन्म-मरणरूप संसार सहज नहीं त्रिगुणात्मक अन्तःकरणकी उपाधिके कारण है। ठीक वैसे ही जैसे जपाकुसुमके सान्निध्यसे स्फटिकमें लालिमा। भक्ति-दर्शनका कहना यह है कि औपाधिक होनेके कारण ही केवल ज्ञानसे उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती[1]।

उसकी निवृत्ति उपाधि अथवा उपधेय—दोनोंमें-से एककी निवृत्ति होनेपर अथवा सम्बन्धकी निवृत्ति होनेपर ही हो सकती है। उपाधिका संयोग रहनेपर चाहे कितना भी उच्चकोटिका दर्शन हो, स्फटिककी लालिमाका भ्रम निवृत्त नहीं हो सकता। अब इस प्रसंगपर दृष्टि डालिये, क्या सर्वसत्ता-स्फुरणात्मक परमात्मा मिट सकता है? उपाधि और उपधेयके स्वरूपसे अभिन्न सम्बन्धकी निवृत्ति होना सम्भव है? अन्ततः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उपाधिकी निवृत्तिसे ही भ्रमकी

---

१. आरोप्य जहाँ असन्निहित होता है, वहाँ अधिष्ठानके ज्ञानमात्रसे निवृत्त हो जाता है, परन्तु जहाँ सन्निहित होता है, वहाँ ज्ञानमात्रसे निवृत्त नहीं हो सकता, जैसे जपाकुसुमकी स्फटिकगत लालिमा। वह स्फटिकके ज्ञानमात्रसे निवृत्त नहीं हो सकती।

निवृत्ति सम्भव है, केवल आत्मज्ञानसे नहीं। उपाधि-हानके लिए कुछ दूसरा उपाय करना चाहिए। वह क्या है ? ईश्वर-भक्ति। वह अलौकिक होनेके कारण प्रत्यक्ष-अनुमान आदि द्वारा साध्य नहीं है, श्रुति-स्मृति-प्रमाणसे सिद्ध है। गीतामें (अध्याय १४) सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंको बन्धनका हेतु बताया गया है, साथ ही भक्तियोग द्वारा गुणातिक्रमण और ब्रह्मभावापत्तिका भी निरूपण है। इस प्रकार स्वयं भगवान् ही अपनी भक्तिको त्रिगुणात्मक अन्तःकरणके लयके अनन्तर ब्रह्मभावापत्ति रूप मुक्तिका हेतु वतलाते हैं। (स्व० भा०)

क्या आत्मज्ञान व्यर्थ है ?

इसपर पूछा जा सकता है कि तब क्या आत्मज्ञान व्यर्थ है ? उत्तर होगा—नहीं, वह भक्तिमें उपयोगी है। यह अश्रद्धारूपी मलका प्रक्षालन कर देता है। ज्ञानसे अन्तःकरणरूप उपाधिके धर्मका अध्यास दूर नहीं हो सकता; क्योंकि यह उपाधि जैसे ज्ञानके पूर्व अपरोक्ष है, वैसे ही ज्ञानके अनन्तर भी अपरोक्ष रहेगी। अतः भगवद्भावके अधिगमके लिए त्रिगुणात्मक उपाधिसे परे जो तत्त्व है, उसका ज्ञान अपेक्षित है। ज्ञान संशयको काटता है—**ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्** (गीता)। भक्ति-दर्शनके मतमें संसार अज्ञानकृत नहीं है। यदि अज्ञानकृत होता तो ज्ञानसे निश्चय ही निवृत्त हो जाता। संसारका कारण अभक्ति है। अतएव भक्ति द्वारा अभक्ति दूर होनेपर संसारकी निवृत्ति हो जाती है। पराभक्ति ही जीवन्मुक्ति है। विष्णुपुराणमें कहा गया है :

तावदार्तिस्तु सा वाञ्छा तावन्मोहस्तथा सुखम्।
यावन्नायाति शरणं त्वामशेषाघमोचनम्॥ (१.९.५९)

'हे प्रभो ! जबतक यह जीवन निखिल पापापहारी आपकी शरण नहीं आता, तबतक आर्ति, वाञ्छा, मोह और दुःख बने रहते हैं।' और भी कहा है कि 'जन्मपर जन्म होना, यमकिंकरोंके द्वारा घोर यातना प्राप्त होना, विविध प्रकारके दैन्य, यमराजके भयंकर दर्शन और अहंता-ममताकी लहरियोंसे युक्त मृगतृष्णाके जल—ये सब जीवको इस कारण प्राप्त हो रहे हैं कि वह भगवान्‌के चरणारविन्दसे विमुख हो रहा है।

जन्मानि घोरयमकिङ्करताडनानि
दैन्यानि तानि तपनात्मजदर्शनानि।

जन्तोरहंममतरङ्गकुरङ्गतृष्णाः

कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजपराङ्मुखतानुभावः ॥

इसके अतिरिक्त भक्ति-सिद्धान्तमें सत्य परमेश्वर और उनकी सत्य-शक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण प्रपञ्चको सत्य ही माना जाता है। यह संसार ईश्वरका सङ्कल्प है और ईश्वर सत्यसङ्कल्प है। इसी प्रकार सुखादिकी उपलब्धि भी अन्तःकरण द्वारा ही होती है। ऐसी स्थितिमें केवल आत्मज्ञानसे ही मुक्ति न होकर भक्तिसे वह प्राप्त होती है।

ध्यान देने योग्य बात है कि कुछ दर्शन त्वंपदार्थप्रधान होते हैं। जैसे; पूर्वमीमांसा, सांख्य एवं योग। पहलेमें त्वंपदार्थ कर्ता धर्मानुष्ठान कैसे करे, इसका निरूपण है। उसमें ईश्वरकी चर्चा नहीं है। ईश्वर हो, न हो, जीव द्वारा अनुष्ठित कर्म 'अपूर्व'—उत्पत्ति द्वारा अपना फल दे लेते हैं। फल चाहे लोकमें मिले, चाहे परलोकमें, इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें—यह एक बहिरंग दर्शन है। सांख्यदर्शन विवेक-प्रधान है। वह दृश्यसे द्रष्टाको विविक्त कर लेता है। इस दर्शनमें भी द्रष्टा और दृश्यका दो ही विभाग होनेके कारण ईश्वरका विशेष निरूपण नहीं है। यह त्वंपदार्थको कर्तृत्वसे मुक्त कर लेता है। योग-दर्शन चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर द्रष्टाके स्वरूपावस्थानका प्रतिपादन करता है। वृत्तियोंके निरोधकी प्रक्रियामें तत्पदार्थरूप ईश्वरका निरूपण किया गया है, परन्तु वृत्तियोंका निरोध हो जानेपर वहाँ भी ईश्वरकी उपयोगिता नहीं रहती। समाधिके साधन, विभूतियाँ और अन्तमें कैवल्य! कैवल्य त्वंपदार्थका ही होता है। अतः ये तीनों दर्शन त्वंपदार्थ-प्रधान हैं।

न्याय और वैशेषिक तत्पदार्थका प्रतिपादन करते हैं। भक्तिदर्शन मुख्यरूपसे उन्हींके द्वारा प्रतिपादित परमेश्वरको स्वीकार करके भक्तिविषयक मीमांसा करता है। यह श्रौत होनेके कारण द्रव्यों, परमाणुओं अथवा दूसरे पदार्थोंके अनुसन्धानमें न लगकर भगवान् और भक्तिका ही वर्णन करता है। यह दर्शन भी तत्पदार्थ-प्रधान ही है। अतः त्वं-पदवाच्यार्थ एवं तत्-पदवाच्यार्थमें एक लक्ष्यार्थका निरूपण करके शंकर-वेदान्तके समान अद्वैत तत्त्वका निरूपण नहीं करता। जिन आचार्योंने वेदान्त-दर्शनकी तत्पदार्थप्रधान व्याख्याकर उसमें भक्ति-दर्शनके समान ही भगवान् और भक्तिका प्रतिपादन किया है, उनकी

बात भिन्न है। भक्ति-दर्शन भगवान्‌में भक्तिपूर्वक बुद्धिका लय हुए बिना संसारकी निवृत्ति नहीं मानता। अतः इस मतमें आत्मज्ञान संसारका निवर्तक नहीं, केवल अन्तःकरणगत अश्रद्धा, संशय आदि मलोंके क्षालनमें ही उपयोगी है। जैसे कोई मनुष्य जब किसी सम्राट्‌के मिलनेके लिए जाता है तो क्षौर, स्नान, सद्‌वस्त्र, संस्करण आदि द्वारा अपनेको सज्जित करके उसके सम्मुख उपस्थित होता है इसी प्रकार जीव जब ईश्वरके सम्मुख उपस्थित होता है। तब प्रमाद, आलस्य, अशान्ति, क्रोध, लोभ, औद्धत्य, अभिमान आदिका परित्याग करके—क्योंकि ये आत्मधर्म नहीं, संगदोषसे जन्य आगन्तुक हैं—अपने सहज, निर्मल स्वरूपसे ही प्रपन्न-शरणागत होता है। यही आत्मज्ञानका उपयोग है :

क्या जीव और ब्रह्म वस्तुतः पृथक् हैं ?

पहले ही कहा जा चुका है कि जीवकी ब्रह्मभावापत्ति मुक्ति है। प्रश्न यह है कि यदि जीव और ब्रह्म वस्तुतः पृथक् हैं तो अन्य जीव ब्रह्म-स्वरूप कैसे हो सकता है? इस सम्बन्धमें भक्तिदर्शनका यह दृष्टिकोण है कि वस्तुतः जीव और ब्रह्म अनेक नहीं, एक ही हैं। उपाधिके योगसे नानात्व है और उपाधिके हानसे एकत्व है। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** यह श्रुति भक्तिदर्शनमें मान्य है। जैसे जलमें सूर्य अथवा चन्द्रमामें अनेक प्रतिबिम्ब दीखते हैं, वैसे ही उपाधिके कारण ब्रह्म भी अनेक दीखता है। जब पराभक्तिसे जीवकी उपाधि बुद्धिका प्रहाण (नाश) हो जाता है तब जीव ब्रह्म ही है। दर्पण आदिकी उपाधि हटा देनेपर प्रतिबिम्ब भी प्रकाशात्मा आदित्य ही है। (शा० भ० ३.२.१)

यदि ऐसा माना जाय कि जीव परमात्मासे पृथक् है और परस्पर अत्यन्त भिन्न है; क्योंकि ऐसा माननेपर बद्ध-मुक्तकी व्यवस्था ठीक-ठीक बैठ जाती है, तो यह भी उचित नहीं। कारण फिर जीवोंका परमेश्वरके साथ कोई सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होता। क्या जीवों और ईश्वरके द्रष्टा-दृश्यरूप सम्बन्ध सिद्ध हो सकेंगे? दीपकोंको परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं होती। ईश्वर ज्ञेय हो जायगा। प्रकाश्य जड़ हो जायँगे। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जगत्-प्रकाशक रूपसे ही चिदात्माकी सिद्धि होती है। वह भ्रम और प्रमाके अधिष्ठानरूपसे ही सिद्ध होता है।

भक्तिदर्शनकी यह एक विशेष बात है कि भ्रम और प्रमा—दोनों बुद्धिमें होते हैं और बुद्धि एक सच्ची वस्तु है। अनन्य भक्तिसे बुद्धि जब ब्रह्माकार होती है, तब वह ब्रह्ममें लीन हो जाती है; क्योंकि यह बुद्धि भी भजनीय ब्रह्मसे अभिन्न ही है। फिर जीवके ब्रह्मभावापन्न होनेमें कोई संशय नहीं रह जाता। अतः जीवके जन्म-मरणका कारण अज्ञान नहीं, अभक्ति है। भक्ति होनेपर जन्म-मरणकी निवृत्ति हो जाती है; साथ ही यह बात भी है कि अज्ञान किसी ठोस वस्तुका कारण नहीं हो सकता। वह तो केवल मानसिक विभ्रमोंका ही हेतु हो सकता है (शा० भ० ३.२)

क्या बुद्धि और दृश्यप्रपञ्च मिथ्या हैं ?

सगुण ब्रह्मविद्यामें परब्रह्म परमात्मा परमैश्वर्यशाली है। वह स्वभावसे ही अनेकानेक चित्र-विचित्र शक्तियोंसे युक्त है। उसका परमैश्वर्य अबाधित है। उसमें यह सूक्ष्म-स्थूल प्रपञ्च ऐसे ही रह रहा है जैसे घरमें बर्तन और बर्तनमें वस्तु। ब्रह्ममें शक्ति और शक्तिमें प्रपञ्च। यह शक्ति और शक्तिमान् दोनों मिलकर ही जगत्के कारण होते हैं। अतः इस दर्शनके दृष्टिकोणसे चेत्या प्रकृति और चिद् ब्रह्म—दोनों ही सत्य हैं; तीसरी कोई वस्तु नहीं है (शां० भ० २.१.१४)। विशेष यह है कि ब्रह्मकी शक्ति होनेके कारण चेत्या प्रकृति और उसके विलास मिथ्या नहीं हैं; **शक्तित्वान्नानृतं चेत्यम्** (शा० भ० १.२.१६)। अभिप्राय यह है कि जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निस्वरूप ही होती है, वैसे ही ब्रह्मकी शक्ति भी ब्रह्मस्वरूप ही है। इससे अद्वैत श्रुतियोंका विरोध नहीं होता है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्में, कारण और कार्यमें जो अभेद है उसीमें श्रौत-अद्वैतका तात्पर्य है।

वेद पौरुषेय है ?

भक्ति-सिद्धान्तमें तीन प्रमाण माने जाते हैं। जैसे रुद्रके तीन नेत्र हैं, विराट्के तीन चिन्ह हैं, सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि; वैसे ही भक्तिदर्शनमें शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष—तीन प्रमाण स्वीकृत हैं (३.२.७) भक्तिदर्शनका मुख्य प्रमेय परमेश्वर है और यह सम्पूर्ण प्रपञ्च उससे भिन्न नहीं है; क्योंकि सब कुछ शक्ति, शक्तिमान् उसीका स्वरूप है। शक्ति माया है और वह जड़-सामान्य है। वह नित्य ज्ञेय ही है, अतः उसे

मिथ्या नहीं कहा जा सकता। जितने भी व्याप्य हैं, उनमें व्यापक एक ही है, अतः ईश्वर ही सारी सृष्टिका मूलकारण और निर्माता है। सारी बुद्धियाँ भी उसीमें हैं। किसी प्राणीकी बुद्धिसे सृष्टि-निर्माण नहीं किया जा सकता। वही ईश्वर धर्माधर्मके अनुसार चराचर प्राणियोंकी सृष्टि करके उनकी भलाईके लिए वेदोंका निर्माण करता है। जैसे पिता पुत्रोत्पादनके अनन्तर उनके हितका ज्ञान और अहितके परिहारके लिए उन्हें शिक्षा देता है, वैसे ही परमात्मा भी जीवोंको इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहार के लिए श्रुतिका निर्माण करता है।

कर्मोंका फल भी ईश्वर ही देता है। इस सम्बन्धमें उत्तरमीमांसाके साथ भक्तिमीमांसाका मतैक्य है। पूर्वमीमांसामें कर्म अपूर्वोत्पादन द्वारा स्वयं अपना फल दे लेता है—ऐसा माना गया है, चाहे ईश्वर हो या न हो। भक्तिदर्शन ईश्वरप्रधान है। इसका सिद्धान्त है कि जैसे राजा अपने रोष-तोषके द्वारा निग्रहानुग्रह करता है, वैसे ही परमेश्वर भी। भक्तिसिद्धान्तमें यदि वेदको अनिर्मित मान लिया जाय तो वह ईश्वरसे भिन्न एक स्वतन्त्र सत्ताके रूपमें सिद्ध हो जायगा जो भक्ति-दर्शनके लिए अनिष्टकारक है। परन्तु वेदके पौरुषेय होनेका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह किसी जीवकी रचना है। जीवमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषोंकी सम्भावना रहती है, अतः वेद ईश्वर-रचना होनेपर भी अपौरुषेयके समान ही निर्दोष और प्रामाणिक है।

भक्ति वेदप्रतिपाद्य है

शाण्डिल्यने स्वयं कहा है—**भक्ति प्रमेया श्रुतिभ्यः, पुराणेतिहासाभ्यां च** (१.२.९-१०)। इसका अभिप्राय है कि ईश्वरने स्वयं अपनी वाणीरूप श्रुतिसे आज्ञा की है कि श्रुति तथा इतिहास-पुराणोंसे भक्तिका स्वरूप जानना चाहिए। इन सूत्रोंकी व्याख्यामें नारायणतीर्थने ऋग्वेदके ऐसे अनेक मन्त्र उद्धृत किये हैं, जिनमें नामस्मरण, श्रवण, कीर्तन, भगवदर्पण, शरणागति, भगवत्प्रसाद, आत्मसमर्पण आदिका वर्णन है, न केवल साधनरूपा श्रवणकीर्तनादिलक्षण भक्तिका ही वर्णन है, अपितु वेदोंमें भावमयी, रागात्मिका, रसमयी भक्तिका भी वर्णन है। ऋग्वेदके (६.१.५) में परमेश्वरका रक्षक एवं माता-पिताके रूपमें वर्णन मिलता है। ऋग्वेदके (८.९८.११) में अत्यन्त भक्तिभावके साथ माता-पिताके रूपमें स्मरण किया गया है। वहाँ इन्द्रको पिता ही नहीं,

पितृतम एवं श्रेष्ठ सखाके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है। किसी-किसी मन्त्रमें ऐसे अनुरागका वर्णन है, जैसे पत्नी अपने प्राणनाथ पतिदेवका आलिङ्गन कर रही हो :—**परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिम्** (१०.४३.१)। ऋग्वेद (१०.४०.२) में तो परमेश्वरके प्रति प्रेयसी-प्रियतम भावकी पराकाष्ठा ही कर दी गयी है। ऐसा लगता है मानो परकीया भावसे उपासनाका वही बीज हो।

भक्ति क्या है ?

सभी भक्ति-दर्शन तात्पर्यतः परमेश्वरके प्रति परमानुरक्तिको ही 'भक्ति' कहते हैं। नारदने भक्तिका रूप परमप्रेम और स्वरूप अमृत कहा है। शाण्डिल्यने अमृतको फल कहा है। अंगिराने स्नेह, प्रेम एवं श्रद्धाके अतिरेकसे ईश्वरके प्रति अलौकिक अनुरागको ही 'भक्ति'की संज्ञा दी है। अज्ञातकर्तृक भक्ति-मीमांसामें भक्तिको मनके 'उल्लास-विशेष'का नाम दिया गया है। यह आचार्य भक्तिको भाव कहना पसन्द नहीं करते। उनके मतमें रसकी समग्र सामग्रीसे भक्तिका आविर्भाव होता है इसलिए वह रस ही है। वह जन्य नहीं है, स्वयं उल्लसित रस है। स्वामी श्रीहरिहरानन्दारण्य भक्तिके दो भेद मानते हैं। जिसमें सुखोपलब्धि होती है वह 'अपरा भक्ति' है और जिसमें शान्ति होती है वह 'परा'। अपरा भक्तिसे पराभक्ति निष्पन्न होती है। दृढ़ रतिसे अन्यके प्रति वैराग्य हो जाता है और केवल भजनीयके स्वरूपकी ख्याति होकर उसमें निष्ठा हो जाती है। यह पराभक्ति है और इसीसे शाश्वती शान्ति मिलती है।

यह भक्ति ज्ञानरूप नहीं है; क्योंकि जिसका ज्ञान हो, उसकी भक्ति हो—यह नियम नहीं है। किसी-किसीका ज्ञान होनेपर उससे द्वेष भी हो जाता है। अनुराग द्वेषका विरोधी है। ज्ञान राग और द्वेष दोनोंमें अनुगत है। अनुरागीपर भगवान्की कृपा होती है और उसे पूर्ण निःश्रेयसकी प्राप्ति हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रयोजनकी पूर्तिके लिए भक्ति सर्वथा समर्थ है। जिन लोगोंका यह कथन है कि भक्ति एक क्रिया है और उससे प्राप्त होनेवाला फल अनन्त नहीं हो सकता, उनका वैसा आक्षेप यथार्थ नहीं है; क्योंकि भक्ति प्रयत्नानुविधायी नहीं है। संसारमें स्त्री, पुत्र, मित्र-विषयक प्रेम भी प्रयत्नपूर्वक नहीं किया जाता, स्वाभाविक ही हो जाता है तो ईश्वरविषयक भक्तिका तो कहना

ही क्या ! अतएव उसका फल न उत्पाद्य होता है, न विनाश्य। वह भी ज्ञानके समान ही पहलेसे विद्यमानको ही आविर्भूत करती है, निर्माण नहीं करती। इसीसे गीतामें भगवान्की प्रपत्तिका निरूपण है, देखिये (७.१९)। वास्तविकता यह है कि बिना भक्तिके धर्म, योग और ज्ञान भी सम्पुष्ट नहीं होते। उन्हें भी भक्तिकी अपेक्षा होती है। गीतामें ही कर्मी, ज्ञानी और योगियोंसे भक्तको श्रेष्ठ बताया गया है। जहाँ-जहाँ भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्ति कही गयी है, वहाँ-वहाँ देव-भक्तिमें तात्पर्य है।

किसी-किसीका यह आक्षेप है कि राग अविद्याकी वंशपरम्परामें है और वह एक क्लेश है, परन्तु वह सिद्धान्त केवल संसार-रागके सम्बन्धमें है। भक्ति परमेश्वर-विषयक राग है। इसमें केवल वृत्ति-निरोध करना होता अथवा द्रष्टाको अपने स्वरूपमें स्थित होना होता, तो उनका आक्षेप सत्य होता। यहाँ तो सम्पूर्ण विश्व-सहित बुद्धिको परमेश्वरमें लीन होना है और वह भी अपने अभिन्ननिमित्तोपादान कारणमें। इसलिए उत्तमास्पद, कारणास्पद, ईश्वरास्पद राग होनेके कारण उपाधि-विलयके द्वारा वह मोक्षका हेतु है। कोई भी राग या संग इसलिए त्याज्य नहीं है कि वह राग या संग है, वह संसारानुबन्धी होनेके कारण ही त्याज्य होता है।

भक्ति कर्मांग भी नहीं है; क्योंकि परोक्षफलक स्वर्गादि-साधनके अनुष्ठानके लिए श्रद्धाकी आवश्यकता होती है, उसके लिए ईश्वर-भक्तिकी आवश्यकता नहीं है। कहीं-कहीं एक ही साथ 'श्रद्धा-भक्ति-समन्वित' ऐसा उल्लेख मिलता है। **'श्रद्धावान् भजते'** ऐसा गीतामें भी है।

भक्तिकी पहचान

प्रतितन्त्र-सिद्धान्तोंका खण्डन कर देनेपर और समान-तन्त्रोंका समन्वयकी दृष्टिसे आलोचन करनेपर निर्विवादरूपसे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वरमें परमानुराग ही 'भक्ति' है। परन्तु परमानुराग एक स्वसंवेद्य वस्तु है, उसे दूसरा कोई नहीं पहचान सकता। ऐसी स्थितिमें सहज ही यह प्रश्न उठता है कि उसकी व्यावहारिक पहचान क्या है?

(क) पराशरनन्दन व्यासका अभिमत यह है कि पूजा (वित्तजा, तनुजा और मानसी) आदिमें अनुराग होना भक्तिका लक्षण है। जिससे प्रेम होता है उसकी सेवाके रूपमें वह अभिव्यक्त होता है।

(ख) गर्गाचार्यका मत है कि जिससे प्रेम होता है उसका चरित्र, नाम, गुण आदिका श्रवण-वर्णन और उनको गुनगुनाना प्यारा लगता है। ईश्वर-भक्तिकी भी यही पहचान हैं।

(ग) शाण्डिल्य ऋषिका कथन है कि परमप्रियतम ईश्वरको जो भी वस्तु अपनेको प्यारी लगे उसीमें रम जाना भक्तिका लक्षण है।

(घ) भरद्वाज कहते हैं कि परमानन्दमें मग्न होकर परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करना भक्ति है; अर्थात् जिससे/जिसका प्रेम होता है वह उसकी महिमाका ख्यापन करता है।

(ङ) कश्यपका मत है कि अपने सभी कर्म भगवान्के प्रति अर्पण करना भक्तिका लक्षण है। इसका अर्थ यह है कि जो कुछ भी करे उसकी प्रसन्नता और सेवाके लिए। इसमें कर्मका नियम नहीं है। शौच-स्नानादिके द्वारा भी अपनेको शुद्ध करके परमेश्वरके सम्मुख होना भक्ति है।

(च) श्रीकृष्ण, शुकदेव, प्रह्लाद एवं वसिष्ठादि—ऋषियोंका अभिप्राय है कि सम्पूर्ण जगत्को भगवद्रूप समझकर उसकी सेवा करना भक्तिका लक्षण है।

(छ) देवर्षि नारद कहते हैं कि अपना समग्र आचरण प्रभुको अर्पित कर दें और यदि कभी भगवद्विस्मरण हो जाय तो परम व्याकुलताका उदय हो।

(ज) व्रजवासियोंका मत है कि अपनी मति, रति, गति, जीवन एवं प्राण भगवान्में लीन कर देना ही भक्ति है।

ये सभी लक्षण अन्ततः अन्तःकरणरूप उपाधिका जगत्के अभिन्न-निमित्तोपादान कारण, अचिन्त्य-अनन्त-कल्याणगुणगणनिलय, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरमें लीन कर देते हैं इसलिए सभी भगवद्भक्तिके ही विशेष विलास एवं अनुभाव हैं।

भक्ति कैसे मिले ?

इसमें सन्देह नहीं कि भक्ति-सिद्धान्तका सर्वस्व ईश्वर ही है। जीव और जगत् उससे अभिन्न हैं। ऐसी स्थितिमें ईश्वरकी अथवा उससे अभिन्न भक्तजनोंके अनुग्रहके बिना भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु यह अनुग्रह प्राप्त करना जीवके पौरुषके वशमें नहीं है। अतः

साधनके रूपमें अनुग्रहकी गणना नहीं की जा सकती। जीव केवल इतना ही कर सकता है कि वह इस अनुग्रहकी प्रतीक्षा करे आकुल-व्याकुल अन्तरसे। दूसरी बात यह हो सकती है कि क्षण-क्षण और कण-कणमें अनुग्रहका ही समीक्षण किया जाय। यह प्रतीक्षा और समीक्षा जीवकी ओरसे की जाती है। अतः इसका साधन-कोटिमें सन्निवेश हो जाता है। इसीसे देवर्षि नारदने महत्कृपा अथवा भगवत्कृपा-लेशसे भक्तिकी प्राप्ति बतलायी है।

स्वधर्मका निष्काम आचरण करके उसके द्वारा भगवान्की आराधना उनके सन्तोषका हेतु है। योगाभ्यासके द्वारा विषयाभिमुख मनको लौटा-कर ईश्वरके सम्मुख करना भी भक्तिका हेतु है। विनय और दैन्य द्वारा अपने अहंको अत्यन्त क्षीण कर देनेपर भी अन्तःकरणमें भगवान्का आविर्भाव हो जाता है। भक्तिसिद्धान्तमें मुख्य बात यह है कि विषयभोग और आसक्तिका परित्याग करके निरन्तर भगवद्भजन करनेसे भगवान्के आनन्द-रसात्मक स्वरूपका आविर्भाव होकर अन्तःकरण-वृत्तिको भगवदा-कार बना देता है, यही भक्ति है। रस है—परमेश्वर। रसात्मिका वृत्ति है—भक्ति। भजन अर्थात् रसास्वादन। ऐसा रसास्वादन जिसमें भोक्ता, भोग और भोग्यकी त्रिरूपता भंग हो जाय। क्या भोग्य है और क्या भोक्ता? इसका पता ही न चले। ऐसी भक्ति प्राप्त करनेके लिए अंगिरा ऋषिने सात भूमियोंके अवलम्बनकी चर्चा की है।

(अ) **भगवान्के नामका आश्रय :** मन्त्र वे होते हैं जिनकी ध्वनिका सम्बन्ध अधिदेव जगत्से होता है। पूर्वमीमांसकोंने तो यहाँतक माना है कि देवता नामका कोई अर्थ और जाति न होनेपर भी मन्त्रोच्चारण समकाल ही देवताकी उत्पत्ति हो जाती है। परन्तु उपासना-शास्त्रके अनुसार देवताका वास्तविक अस्तित्व होता है। भिन्न-भिन्न मन्त्रोंके द्वारा भिन्न-भिन्न देवताओंकी आराधना की जाती है। परन्तु भगवान्का नाम उस कोटिका नहीं है। भगवान्का नाम जीवोंके कल्याणके लिए उन्हींका एक आविर्भाव-विशेष है। नाम ब्रह्म है। जो भगवान् हैं, सो नाम है। इस प्रकार नामका आश्रय लेकर उसके कीर्तन, जप, श्रवण, ध्यान, स्मरण आदिके द्वारा उसको अपने हृदयमें उतारा जाता है। नामाकार-वृत्तिमें नाम स्वयं भगवान् है और प्रीतिमयी वृत्ति साक्षात् भक्ति है। नामकी स्वयंप्रकाशता ही भक्तिकी स्वयंप्रकाशता भी है।

(आ) **रूपका आलम्बन :** यद्यपि भगवान्‌के नाम और रूपमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है तथापि साधनकी दृष्टिसे नाम कर्मभूमिमें अवतीर्ण होकर साधकका कल्याण करता है और रूप ज्ञानभूमिमें। वाक् कर्मेन्द्रिय है और नेत्र ज्ञानेन्द्रिय। इस दृष्टिसे नामकी अपेक्षा रूप सूक्ष्मभूमिमें प्रारम्भ होता है। इसमें सन्देह नहीं कि नाम रूपके बिना भी भगवत्स्वरूपको प्रकट करनेमें समर्थ है तथापि सामान्यरूपसे नाम प्रकाशक और रूप प्रकाश्य है। जैसे बाह्यवस्तुके दर्शनके लिए रूप प्रमेय है और नेत्र प्रमाण, वैसे ही भक्तिराज्यमें भगवद्रूप प्रमेय है और नाम नेत्रस्थायी प्रमाण। आप नाम दुहरायें, हृदयमें रूपका दर्शन होने लगेगा। रूपमें प्रीति और तन्मयता, तन्मयतासे उपाधिका विलय और भगवान्‌से एकता। इस प्रकार रूपका आलम्बन अन्तःकरण-वृत्तिको परमेश्वरमें लीन कर देता है। उपाधि लीन हो जानेसे आत्मा-परमात्मामें भेद करनेवाली कोई वस्तु नहीं है।

(इ) **विभूतिका दर्शन :** गीताके दसवें अध्यायमें योग और विभूतिका वर्णन है। योग है हृदयमें ध्यान और विभूति है व्यवहार-दशामें प्रत्येक वस्तुको भगवद्भावसे परिपूर्ण देखना। दोनों दशामें परमात्माका दर्शन होनेसे अविकम्प योग अर्थात् भगवान्‌में अखण्ड समाधि प्राप्त होती है। इसके लिए जन-जनमें, कण-कणमें, क्षण-क्षणमें भगवान्‌की विभूतियोंका दर्शन करना आवश्यक है। इस प्रकारकी सावधानी उपाधिको तन्मय कर देती है और जीव भगवान्‌से मिल जाता है।

(ई) **सर्वत्र भगवान्‌की शक्तिका चिन्तन :** जैसा कि गीतामें कहा गया है, आदित्यमें तेज, चन्द्रमामें आह्लादन एवं अग्निमें दाहन आदिकी जितनी शक्तियाँ हैं सब परमेश्वरकी ही हैं। पृथिवीमें धारण, जलमें आस्वादन, वायुमें प्राणन एवं आकाशमें अवकाशदान—सब परमात्माका ही है। इस प्रकार जगत्‌की समग्र स्थूल-सूक्ष्म शक्तियोंमें भगवद्भावका चिन्तन करनेसे मन परमात्मामें लीन हो जाता है।

(उ) **गुणोंका दर्शन :** इस नामरूपात्मक प्रपञ्चमें जो कुछ है वह सब त्रिगुणमयी भगवच्छक्तिका विलास है। जो कुछ तमोगुणी मूढद्रव्य, रजोगुणी स्पन्द और सत्त्वगुणी ज्ञानप्रकाश है—सब भगवान्‌के आश्रित और उनके द्वारा नियन्त्रित ही है। जब जीवकी दृष्टि गुणोंकी सीमा पार करके गुणाधार, गुणनियन्ता, गुणप्रकाशक, गुणोपादान, गुणविलासी

परमेश्वरका दर्शन करने लगती है तब सब गुण परमेश्वरमें लीन हो जाते हैं और जीव सगुण ईश्वरमें समाधिस्थ हो जाता है।

(ऊ) **परमात्मभावकी भावना :** जो कुछ ज्ञात होता है और जो कुछ प्रिय लगता है, वह सब सच्चिदानन्दात्मक परमेश्वरका ही भावोन्मेष है। अतः समग्र वस्तु, ज्ञान और प्रियताके रूपमें परमेश्वरकी भावना महा-भाव-समाधिका हेतु है। इससे आकारकी भिन्नता, वृत्तियोंकी अनेकता और प्रियकी विविधता समाप्त हो जाती है। सबमें एकताका स्फुरण होने लगता है। वह एकता जीव और ईश्वरके बीचके व्यवधानको गला देती है।

(ऋ) **स्वरूपकी अनुभूति :** यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि जीव और ईश्वरके स्वरूपमें वस्तुतः भेद नहीं है, केवल बुद्धिकी उपाधि ही भेद उपस्थित करती है। जब बुद्धिमें स्वरूपकी एकता आरूढ हो जाती है तब वह अपनेको पृथक् नहीं दिखाती। ऐसी अवस्थामें प्रभु और प्रभुकी शक्तिके सिवा और कुछ शेष नहीं रहता। इस एकरस अनुभवमें समाधि और व्यवहार एक हो जाते हैं।

यहाँतक यह कहा गया कि भक्तिका प्रत्येक अंग साधन भी है, फल भी है। भक्ति स्वयं फलरूप है—ऐसा सनत्कुमार, नारद, शाण्डिल्य आदि सभीका मत है। सर्वफलोंके फल हैं भगवान्। जहाँ वृत्ति उनसे एक हो जाती है वहीं वह भक्ति हो जाती है। भक्ति चाहे जैसे भी मिले, भक्तिमें आग्रह है, साधनमें नहीं।

भक्तिका परिपाक :

जैसे 'मैं जानता हूँ', 'चाहता हूँ' ये वृत्तियाँ स्वप्रत्यक्षगम्य ही हैं वैसे ही 'मैं अनुरागी हूँ', 'सेवक हूँ' ये वृत्तियाँ भी स्वप्रत्यक्षगम्य ही हैं। परन्तु इनके परिपाकका निर्णय प्रत्यक्षके द्वारा नहीं हो सकता। लोकमें जानकारी, चाह, अनुराग, सेवा—ये सब बदलते हुए देखे जाते हैं। अतः लौकिक दृष्टिसे ही इनके सम्बन्धमें निर्णय किया जा सकता है। जैसे अपने प्रियतमके नाम, चरित, चिह्न आदिके दर्शन-श्रवणसे आँखोंमें आँसू, शरीरमें रोमाञ्च, मुँहकी लाली आदि देखकर हृदयके प्रेमका अनुमान किया जाता है, वैसे ही भक्तिके सम्बन्धमें भी है। महात्माओंने भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें इनका वर्णन किया है। यथाः

१. सम्मान : चाहे अर्जुन किसी भी अवस्थामें हों, श्रीकृष्णका दर्शन होते ही भक्ति और प्रेमसे उठकर खड़े हो जाते थे।

२. बहुमान : राजा इक्ष्वाकु कमल, हरिण और मेघ देखकर कमल-नयन, कृष्णसार और मेघश्यामके स्मरणमें मग्न होकर उनका भी सत्कार करते थे, अर्थात् जिस नाम, रूप, वस्तु, चिह्न या सम्बन्धसे अपने प्रियतमका स्मरण हो, उसका भी आदर करना।

३. प्रीति : विदुर कहते हैं कि 'पुण्डरीकाक्ष ! आपके इस घरमें स्वयं पधारनेसे जो प्रीति, तृप्ति और आनन्दका उदय हुआ है हृदयमें उसे मैं क्या बताऊँ ? आप तो हृदयमें ही विराजमान अन्तरात्मा हो।'

४. विरह : गोपियाँ कहती हैं—'सखि ! क्या बताऊँ, गुरुजनोंके सम्मुख कहना योग्य नहीं है अथवा सखि, हम जब विरहकी आगसे जली जा रही हैं तो ये गुरुजन हमारा क्या कर लेंगे ?'

५. इतर विचिकित्सा : शिवभक्त उपमन्यु वर देनेके लिए आये हुए इन्द्रसे कहते हैं—'मैं शंकरजीकी आज्ञासे कीट-पतंग बन जाऊँगा, परन्तु इन्द्र ! मैं तुम्हारा दिया हुआ त्रिलोकीका राज्य भी नहीं चाहता।'

६. महिमाकी वृद्धि : यमराजने नरकमें दुःख भोगते हुए प्राणियोंसे कहा—'तुमने क्लेशनिकन्दन केशवदेवकी आराधना क्यों नहीं की ?' यमराजने अपने दूतोंके कानमें भी कहा—'मैं वैष्णवोंका शासक नहीं हूँ। तुम उन्हें मेरे लोकमें मत लाया करो।'

७. तदर्थ प्राणस्थान : श्री हनुमानजीने भगवान् रामचन्द्रसे कहा—'मैं आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिए पृथिवीपर तभीतक रहूँगा, जबतक संसारमें आपकी पावनी कथा सुननेको मिलती रहेगी।'

८. तदीयता : उपरिचर वसु कहते हैं—'मेरा सब कुछ शरीर, राज्य, धन, पत्नी, पुत्र, वाहन, भगवान्का ही है।' उनकी ऐसी दृष्टि निरन्तर बनी रहती थी।

९. सबमें भगवद्भाव : प्रह्लादका कहना था—'जो कुछ मैं-मेरा, तू-तेरा और निखिल जगत् है, वह सब भगवद्रूप ही है।'

१०. अप्रतिकूलता : भगवान् अपनी मान्यता और मनके विपरीत करें तब भी अनुकूल ही रहना। भीष्मको मारनेके लिए रथ-चक्र लेकर

श्रीकृष्ण दौड़े। भीष्मपितामह कहते हैं—'आइये-आइये, प्रभु! अपने कर-कमलोंसे ही इस शरीरका अन्त कर दीजिये। आपको मार, दुलार और प्यारसे भी बड़ी है।' आदि।

भक्तिका अधिकारी :

सभी दर्शनोंमें और धर्मशास्त्रोंमें अनुबन्ध-चतुष्टयके प्रसंगसे अधिकारीका विचार मिलता है। जैसे ब्रह्मविचारमें शमदमादि-सम्पन्न मुमुक्षु अधिकारी है। यज्ञ-यागादिके अनुष्ठानमें अर्थी, समर्थ, विद्वान् एवं शास्त्र द्वारा अनिषिद्ध अधिकारी है। शास्त्रीय निषेध वर्णाश्रमकी दृष्टिसे होते हैं। ब्राह्मण राजसूय नहीं कर सकता और न क्षत्रिय वृहस्पति-सव। परन्तु भक्तिमें सबका समान अधिकार है। अज्ञातकर्तृक भक्तिमीमांसामें कहा गया है कि यदि अधिकारीको कुछ विशेषण देना ही हो तो उसे नामादिके उच्चारणमें समर्थ, इच्छुक अथवा ज्ञाता कहा जा सकता है। उसे किसी भी अवस्थामें शास्त्रसे निषिद्ध नहीं कहा जा सकता। **'सामर्थ्यमर्थिता विद्या वाधिकारिविशेषणं नान्यदश्रुतेः'**। भक्तिमें ज्ञानकी भी उतनी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि ज्ञान-अज्ञानमें कैसे भी नामोच्चारण किया जाय, वह अज्ञात अमृतके समान अपना फल देता है **अज्ञानादथवा ज्ञानात्** (भागवत) **'अविदुषाम्'** (भा०)। अपेक्षित ज्ञान गुरूपदेशसे भी प्राप्त हो सकता है। पूर्वजन्मके श्रवणादि संस्कार भी उदित हो सकते हैं। मनुस्मृति और महाभारतमें भी ऐसे प्रसंग हैं। **अन्त्यादपि परं धर्मम्** (मनु०)।

जैसे अपने स्वामी, माता-पिता और तो क्या अपने आत्माको सुख पहुँचानेका, सेवा करनेका सभीको अधिकार होता है; इसीप्रकार सबके पिता, सबके स्वामी, सबके आत्मा परमेश्वरकी सेवा-प्रेममयी भक्ति करनेका सभीको अधिकार है। इसीसे शाण्डिल्य भक्ति-दर्शनमें यह निर्देश है—**आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्** जो नीच-से-नीच योनिमें उत्पन्न हुए हैं, वे भी भक्तिके अधिकारी हैं; क्योंकि सभी समानरूपसे दुःखकी निवृत्ति चाहते हैं और उन्हें भी इतिहास, पुराण, गुरुपरम्परा आदिके द्वारा भजनीयके स्वरूपका ज्ञान और भजनकी प्रक्रिया ज्ञात हो ही सकती है। इस सूत्रकी टीका 'भक्ति-चन्द्रिका'में एक श्रुति उद्धृत की गयी है—**अपि वा चाण्डालः शिव इति वाचं वदेत् तेन सह संवसेत्**। भक्तिसिद्धान्तमें यह बात मान्य है कि भक्ति प्रारब्ध-

जन्य जात्यादि-कृत अपवित्रताको भी मिटा देती है। **श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते** (भा० ३.३३.६)। इसकी व्याख्यामें श्री जीवगोस्वामीने कहा है कि अधिकारीको यज्ञ-यागादि करनेसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह फल भक्तको नामश्रवण-कीर्तनादिसे ही प्राप्त हो जाता है।

आंगिरस भक्तिदर्शनमें सबके अधिकारी होनेका यह हेतु बताया गया है कि भगवान्‌की भक्तिमें सबकी समता है, अर्थात् हृदयमें अनुराग, भगवदाकारवृत्तिका भगवान्‌में विलय, नामकीर्तन आदि सभी कर सकते हैं। अनुरागमें अधिकार-भेदका प्रश्न ही कहाँ है? जिसके हृदयमें भगवान्‌के प्रति अनुरागका उदय होता है, वह चाहे कोई क्यों न हो, पशु-पक्षीतक भी पवित्र हो जाता है—**भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्** (भा०)।

नारद भक्तिदर्शनमें स्पष्ट कह दिया गया कि भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं होता। इसका कारण यह है कि वे सब इन बाह्य भेदोंकी ओरसे दृष्टि हटाकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाते हैं, भगवान्‌के अपने हो जाते हैं, (सूत्र ७२-७३)।

सबका निष्कर्ष यह है कि जैसे अन्यान्य साधनोंमें विवध प्रकारके अधिकार-भेद होते हैं वैसे अधिकार-भेद भक्ति-मार्गमें नहीं हैं। यह इसकी एक असाधारण विशेषता है।

ध्यान-सम्बन्धी नियम :

भक्ति-सिद्धान्तमें कहाँ बैठकर, किस समय, किस रूपका ध्यान किया जाय—ऐसा कोई नियम नहीं है। जहाँ कर्मकाण्डमें, 'पूर्वदिशामें ब्रह्मयज्ञ करे', 'प्राचीनप्रवण होकर वैश्वदेव-याग करे', ये सब नियम होते हैं; वैसे भक्तिमें नहीं। कहीं भी, किसी मुखसे बैठ जाइये। 'अपराह्णमें पितृयज्ञ करना चाहिए', 'वसन्तऋतुमें अग्न्याधान' आदि, यह कालनियम भी भक्तिमें अपेक्षित नहीं है। अपने इष्टदेवको सोते, बैठते, चलते, खाते-पीते, किसी भी अवस्थामें देख सकते हैं। अपनेको जो प्यारा लगे वही। इस प्रकार पूर्वमीमांसाके कोई नियम भक्तिमें मान्य नहीं हैं। ऐसा होनेका कारण है। पूर्वमीमांसामें ईश्वरकी आवश्यकता ही नहीं। वह न जगत्‌का आधार है, न उपादान, न कर्ता है, न फलदाता। न वेदका वक्ता है, न हमारा अन्तर्यामी स्वामी। वहाँ तो कर्म ही सब कुछ बना बैठा है। उसकी

करुणाका लेश भी नहीं है। अपना पौरुष बेचारा, कहाँ तक, क्या करे? भक्ति-सिद्धान्तमें सब कुछ ईश्वर है, उसका अनुग्रह, करुणा, प्रसाद जीवका सर्वस्व है। इसलिए जीव जब कहीं, जब कभी, जिस किसी रूपसे उसका स्मरण करता है, तब वह अनुकम्पा-कम्पित होकर जीवके भीतर-बाहर प्रकट हो जाता है।

वस्तुतः हम अगले जन्ममें या परलोकमें कुछ प्राप्त करनेके लिए ईश्वरका ध्यान करते हों और उसके लिए अपूर्वोत्पादनकी अपेक्षा हो, तब हमें बहुत-से देश, काल आदि नियमोंके बन्धनमें बँधना पड़ेगा। जब हम केवल यह चाहते हैं कि हम प्यारेको देखें और वह हमें देखे, तब स्थान और समयका बन्धन नहीं हो सकता। 'खटखट, पटपट' चाहे जो भी संकेत हो सकता है। पथपर चलते-चलते या झरोखेसे झाँकते-झाँकते भी, नयन तृप्ति हो सकती है। भक्तिका ध्यान है—मनस्तृप्ति, आनन्दका आविर्भाव। जहाँ चित्त निर्मल हो, जहाँ इष्टदेव-स्मरण हो, जहाँ उनके रूप, लीला, नाम, धाममें तन्मयता हो; वही काल, वही देश, वही स्थिति सर्वोत्तम है। भक्तिका ध्यान माने तत्काल भजन-रसका अनुभव। इसमें अदृष्ट नहीं, दृष्ट सुखकी प्रधानता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्में और गीतामें जो स्थानकी समता, पवित्रता आदिका वर्णन है, वह प्राणायामकी दृष्टिसे है। प्राणायाममें गर्मी, सर्दी, धूल होनेसे स्वास्थ्यकी हानि होती है। भक्तिमें हम इतने समयसे इतने समयतक केवल इस स्थानमें, केवल इस अवस्थामें अपने प्रियतमको सुख पहुँचायेंगे, दूसरे समयमें नहीं—यह नियम हो ही नहीं सकता। यह सिद्धान्त वेदान्तदर्शनको भी अभीष्ट है **'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्'** (ब्रह्मसूत्र ४.१.११)। अतः पूर्वमीमांसाकी रीतिसे ध्यानका नियम भक्तिदर्शनको मान्य नहीं है। यह एक भक्तिदर्शनकी असामान्य विशेषता है।

थोड़ी-सी भक्ति : महापाप निवारणकी शक्ति

भगवान्का थोड़ा-सा भी स्मरण अथवा नामकीर्तन बड़े-से-बड़े पापोंको नष्ट कर देता है। श्रीमद्भागवतमें, अज्ञानसे उच्चरित भगवन्नामको ही महापापका दाहक माना है। संकेत, परिहास, टेक, डाँट-फटकार और अवहेलनासे भी नामोच्चारण समस्त पापोंका नाशक होता है।

अजामिलने मरते-मरते अपने 'नारायण' नामक पुत्रको पुकारा था और वह कल्याण-पथका पथिक हो गया था। सात्वतसंहितामें कहा गया है कि अशुद्ध नाम भी कानमें पड़नेपर मुक्तिका साधन हो जाता है।

जहाँ अज्ञान है, वहाँ श्रद्धाका तो प्रश्न ही नहीं उठता। तब प्रश्न यह है कि बिना ज्ञान और श्रद्धाके दुष्टचित्त पुरुष भी यदि नामका फल प्राप्त करता है तो इसका कोई महान् कारण होना चाहिए। यही विवेचन-का विषय है। धर्मानुष्ठानमें शास्त्रोक्त अधिकारी, विधि-विधान, द्रव्य, समय, स्थान, मन्त्र आदिकी समग्रता अपेक्षित होती है : उससे जो अपूर्व उत्पन्न होता है, वह कर्तामें रहता है और समयपर अपना फल प्रकट करता है। परन्तु भक्तिमें ऐसी बात नहीं है। भक्तिसिद्धान्तमें जीवका पौरुष अकिंचित्कर है। भगवान्‌का अनुग्रह ही सर्वस्व है। नाम, धाम, स्मरण, पूजाका कोई भी बहाना मिला और भगवान्‌की कारुण्यशक्ति वहाँ अवतीर्ण हो गयी। वहाँ जीवका पौरुष जीवका हित नहीं करता, भगवान्‌की अनुकम्पा ही जीवका कल्याण करती है। अतएव वास्तविक नामकी आवश्यकता नहीं पड़ती, नामाभाससे ही भगवान्‌की कृपा उतर आती है। धर्म त्वं-पदार्थप्रधान है और भक्ति तत्-पदार्थप्रधान—यह पहले ही कह चुके हैं।

प्रश्न यह है कि जब अत्यन्त हल्के-फुल्के नामाभाससे भी सन्तुष्ट होकर प्रभु सब पापोंका विनाश कर देते हैं तो कोई कृच्छ्र, चान्द्रायण, सान्तपन, क्षौर, तीर्थस्नान, सांवत्सरव्रत आदि बड़े-बड़े प्रायश्चित्त क्यों करेगा ? इसका उत्तर यह है कि पहली बात तो यह है कि इतने बड़े-बड़े प्रायश्चित्तोंके जानकार महाजनोंको यह विश्वास ही नहीं होता कि केवल नामोच्चारण मात्रसे भी प्रायश्चित्त हो सकता है। स्वल्प-पुण्यवान्‌को नामादिपर विश्वास नहीं होता। दूसरी बात यह है कि एक ही रोगका औषध सेर भर काष्ठौषधि भी हो सकती है और जीरेभर संजीवनी-बूटी भी। परन्तु जो संजीवनीको पहचानता नहीं है वह उसको औषध कैसे मानेगा और औषध कैसे बतायेगा ? अतः जिनकी रुचि महान् अनुष्ठानोंमें है, वे महान् अनुष्ठान करेंगे और जिनकी रुचि मृतसञ्जीवनी नाम-सुधामें है वे उसका सेवन करेंगे। यह कस्तूरी है, केवल तिल-भरका सेवन ही बड़े-से-बड़े रोगका निवर्तक है। कर्मकाण्डमें भी सत्रका तिरस्कार करके विश्वजित् किया जाता है। ज्योतिष्टोमका फल प्राप्त

करनेके लिए दर्श, पूर्णमासका अनुष्ठान होता है। बड़े धर्ममें जीवकी शक्ति काम करती है और छोटेसे काममें ईश्वरकी शक्ति। स्कन्दपुराणमें ऐसे वचन मिलते हैं कि जिस पापका प्रायश्चित्त अल्पसाध्य हो उसका प्रायश्चित्त भी दुःसाध्य बताना चाहिए; इससे मनुष्य पाप करनेमें डरता है। हल्का-फुल्का प्रायश्चित्त नहीं बताना चाहिए; क्योंकि इससे बतानेवालेको पापकी प्राप्ति होती है। इसका अभिप्राय यह निकलता है कि दुःसाध्य प्रायश्चित्त भी एक विभीषिका है और लोगोंकी पाप-प्रवृत्ति रोकनेके लिए उनके निर्देशकी आवश्यकता है। पाप हो जानेपर तो भक्तिभावके अंगोंके द्वारा ही उसका निवारण करना चाहिए। इसीसे शाण्डिल्यका वचन है—**'लघ्वपि महत्क्षेपकम्'**।

वैसे तो सामान्यरूपसे पुराणोंमें अर्थवादकी कल्पनाको अनुचित बताया गया है। अर्थवाद माननेवालेके पुण्य भी अर्थवादमात्र रह जाते हैं और उन्हें नरककी प्राप्ति होती है। परन्तु नामके सम्बन्धमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि नाम-माहात्म्यको कभी अर्थवाद नहीं मानना—

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु नाममाहात्म्यवाचिषु।
येऽर्थवाद इति ब्रूयुर्न तेषां निरयक्षयः॥

इससे अन्य विषयोंमें मीमांसाका द्वार खुला रहता है, पाण्डित्य भी चरितार्थ होता है और यह निष्कर्ष भी निकलता है कि अविरुद्ध अर्थका निरूपण करनेवाले इतिहास-पुराणको अप्रामाणिक नहीं मनाना चाहिए। नाम-महिमाको अर्थवाद मानना नामापराध है इससे नामका फल प्रतिबद्ध हो जाता है।

नाम-महिमाको अर्थवाद माननेका क्या कारण है? क्या नाम-कीर्तन, स्मरणादिकी विधि नहीं है? या वह केवल किसी विधि-विधानका शेष ही है? अथवा उसका तात्पर्य नामोच्चारणमें न होकर कहीं अन्यत्र है? यह कहनेमें कोई संकोच नहीं है कि सम्पूर्ण पापोंके नाशके लिए नामोच्चारणका स्पष्ट विधान प्राप्त होता है। जैसे ब्रह्महत्यासे संतरणके लिए अश्वमेधका विधान है, वैसे नाम-स्मरणका भी। यह दूसरी बात है कि अश्वमेध एक बार होकर समाप्त हो जायगा और नाम—स्मरण अन्तर्देशके सूक्ष्मतम प्रदेशमें प्रवेश करके ऐसा जम जायगा कि मुक्तिपर्यन्त उस अन्तःकरणका परित्याग नहीं करेगा। इस प्रकार यदि द्रव्यादिकी दृष्टिसे अश्वमेध महान् होगा तो जीवके अन्तर्जीवनमें व्याप्त हो जानेके कारण

नाम भी महान् हो जायगा। ऐसी स्थितिमें नाममाहात्म्यको अर्थवाद मानना सर्वथा अनुचित है।

यह कहना कि नाम-संकीर्तनकी महिमा केवल कलियुगके लिए है, यह नामकी महिमाका यथार्थ कथन नहीं, निन्दा है। किसी भी वस्तुके सम्बन्धमें यह कहना कि यह इसी गाँवमें या इसी समय अच्छी है; उसकी महिमाको संकुचित करना है। नाम-महिमाको हम ऐसे भी कह सकते हैं कि सत्ययुग, त्रेता आदिमें दोष कम हैं और वे ध्यान, याग एवं अर्चाके द्वारा दूर कर दिये जाते हैं; परन्तु कलियुगमें दोष बड़े-बड़े हैं, अनेक हैं, गहराईमें घुसे हुए हैं, उनको दूर करनेके लिए स्वयं भगवान्ने ही नामावतार ग्रहण किया है। नाम भगवान्के अनुग्रहका आविर्भाव है। यह रूपको प्रकट करता है। यह ध्यानको सहारा देता है। यज्ञको पूर्ण करता है और अर्चामें मन्त्र बनता है। वेदोक्त साधन होनेके कारण यह नित्य है और चारों युगोंमें अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखता है। न्यूनकी पूर्णता और छिद्रका समाधान नामसे ही सम्पन्न होता है।

लोक-व्यवहारमें दो प्रकारके लोग देखनेमें आते हैं। कोई कठिन कर्तव्य पूर्ण करनेमें उत्साहसे प्रवृत्त होते हैं और कोई सुगमको पूर्ण करनेके लिए। कोई कठिन सुनकर डर जाते हैं, कोई सरल सुनकर उपेक्षा करते हैं। ऐसी स्थितिमें जिनकी रुचि सांवत्सरिक-व्रत, कृच्छ्र-चान्द्रायण आदिमें हो, प्रायश्चित्तके लिए उन्हें उसीका अनुष्ठान करना चाहिए। जिन लोगोंका नाममें विश्वास है, उन्हें नाम-जप आदि करना चाहिए। किसीकी रुचि महत्में होती है, किसीकी अल्पमें। भक्तिसिद्धान्त मीमांसकोंके विश्वास और अनुष्ठानपर कोई आक्षेप नहीं करता; परन्तु वह जीवके पौरुषके सम्मुख भगवान्के अनुग्रहको महान् मानता है और नामाभाससे भी भगवान् प्रसन्न होकर जीवका कल्याण कर सकते हैं, इसका पूर्णतः प्रतिपादन करता है। अजामिलके प्रसङ्गमें, एक टीका-कारने लिखा है कि गँवार वैद्य और मर्मज्ञ वैद्यमें जो अन्तर होता है वही इस प्रसङ्गमें समझना चाहिए।

भक्तिके गुण :

भक्ति-मीमांसाका मत है कि भागवत-मतमें भक्ति ही परम पुरुषार्थ है, मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं है। इसके लिए भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें भक्तिको फलरूप अथवा स्वयंफलरूप कहा गया है।

'भक्तिरसामृत-सिन्धु' में श्रीमद्भागवतके इस श्लोकका अभिप्राय बतानेके लिए कि भक्तजन भगवान्के देनेपर भी सालोक्यादि मुक्तिको स्वीकार नहीं करते, भक्तिका लक्षण स्पष्ट किया गया है।

१. **क्लेशघ्नी :** भक्ति क्लेशका नाश करती है। क्लेश तीन प्रकारके होते हैं—पाप, पापके बीज और अविद्या। पाप दो प्रकारके होते हैं—अप्रारब्ध-पाप और प्रारब्ध-पाप। भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें कहा गया है कि जैसे प्रदीप्त अग्नि ईंधनको भस्म कर देती है वैसे ही भगवद्विषयक भक्ति सञ्चितादि पापसमूहोंको सम्पूर्णतः भस्म कर देती है। प्रारब्ध-पापके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि जातितः श्वपच भी भगवन्नामके श्रवण-कीर्तनादिसे यज्ञके योग्य हो जाता है। 'दुर्गम-संगमनी'में स्पष्ट किया गया है कि दुर्जातिप्रापक प्रारब्ध-पापका नाश करके यज्ञ-योग्य, जाति-जनक पुण्यका लाभ हो जाता है। अप्रारब्धफल-पाप तीन प्रकारके होते हैं—कूट, बीज और फलोन्मुख। वे सब भक्तिसे नष्ट हो जाते हैं—यह पद्मपुराणका वचन है। भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें यह आता है कि इन्द्रियोंके संयम और मनको निर्विषय बनानेमें ग्रन्थिभेद नहीं होता, परन्तु भक्ति कर्माशय-ग्रन्थिको सर्वथा निर्ग्रन्थ बना देती है। इसका अर्थ है कि भक्तिमें अविद्याको नष्ट करनेका भी सामर्थ्य है।

२. **शुभदा :** भगवान्की भक्ति सर्वात्माकी सेवा है; क्योंकि वे सर्वात्मा हैं। इसीसे भक्ति करनेपर सम्पूर्ण विश्वको तृप्त करनेका फल मिल जाता है। भक्तमें सारे सद्गुण निवास करते हैं। भक्तको लौकिक सुख, ब्रह्मलोक-पर्यन्त पारलौकिक सुख और भागवत-सुखकी भी प्राप्ति होती है।

३. **मोक्षसुख छोटा है :** हृदयमें भक्ति महारानीके किञ्चित् स्थिर विराजमान होते ही चारों पुरुषार्थ तृणवत् हो जाते हैं। मुक्ति आदि सिद्धियाँ और अद्भुत भुक्तियाँ भक्तिकी दासी हैं। अर्थ-पुरुषार्थ वाह्य है, स्पष्टतः नश्वर है। भोग श्रमसापेक्ष एवं वासनाके द्वारा बन्धनका हेतु है। धर्म क्रियाजन्य होनेके कारण अनन्त फलका हेतु नहीं है। मोक्ष तत्त्वज्ञानके द्वारा बाधित यथास्थितिसे उपलक्षित अपना आत्मा ही है। उसके साथ कोई प्राप्य-प्रापक भाव नहीं है। चाहे विषय भासमान हो, चाहे न हो, वह बाधित होना चाहिए। आत्मा ही मोक्ष है। भक्ति-सिद्धान्तमें

बुद्धिरूप उपाधिका लय हो जानेपर स्वाभाविक परमेश्वरैक्य ही मोक्ष है। परन्तु भक्ति बन्धन और मोक्ष दोनोंमें रहती है।

४. **भक्ति दुर्लभ है** : दुर्लभता दो प्रकारकी है। एक, जीव यज्ञादि साधन-सहस्रसे भी अपने पौरुषके बलपर भक्तिको सुगम नहीं बना सकता। दो, स्वयं भगवान् भी भजन करनेवालोंको मुक्ति सुलभ कर देते हैं परन्तु भक्ति सबको नहीं देते। भागवतमें कहा है—'**मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्**'।

५. **भक्ति एक विशेष प्रकारका घनानन्द है** : यहाँतक कहा गया है कि ब्रह्मानन्दको यदि परार्ध गुणित कर दिया जाय तो भी वह भक्ति-सुखाम्भोधिकी परमाणुकी तुलना भी नहीं कर सकेगा। ब्रह्मानन्द शान्त है और भागवतानन्द उल्लासात्मक। इसमें प्रेम-पिपासा और रसतृप्ति युगपत् निवास करते हैं। श्रीधर स्वामीने कहा है कि 'कथामृत-समुद्रके विहारमें इतना परमानन्द है कि चतुर्वर्ग=धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष तृणके समान लगते हैं।'

६. **भक्ति श्रीकृष्णको आकृष्ट करती है** : सगुण-ब्रह्मविद्याकी यह एक असाधारण विशेषता है कि यह भगवान्को प्रियतमसे प्रेमी बना देती है। इतना आकर्षण धर्मानुष्ठान, विवेक, योगाभ्यास, विद्या, तपस्या एवं त्यागमें नहीं है; क्योंकि भक्ति केवल श्रम, जानकारी अथवा स्पर्शमात्र नहीं है। यह प्रेम है। आकर्षण है। हृदयकी एकता है। इसमें स्वयं भगवान् भक्तसे आनन्द लेते हैं। वे पाण्डवोंके घर बिना बुलाये जाते और रहते हैं। यशोदा नन्दकी गोदमें सिर रखकर रोते हैं। सुदामाके आलिंगनसे इतना आनन्द पाते हैं कि नेत्रोंसे अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। रुक्मिणीके लिए इतने बेचैन होते हैं कि रात्रिमें निद्रा नहीं आती। यशोदाके हाथों बँध जाते हैं। गोपियोंके प्रति अपनेको निछावर कर देते हैं। कहीं हमारे कठोर स्पर्शसे राधारानीके अंगमें खरोंच न लग जाय, इस डरसे मनके हाथोंसे छूनेमें भी डरते हैं। इस प्रकार भगवान्को वश करनेका सामर्थ्य भक्तिमें है।

'भक्तेः फलमीश्वरवशीकारः।'

स्पन्द-तत्त्व

[एक प्राचीन साधना-पद्धतिका विवरण]

सिद्धपरम्परामें अत्यन्त प्राचीनकालसे परमतत्त्वका ही एक नाम 'स्पन्द' प्रचलित है। शुद्धात्मा, शंकर, शिव, भाव, स्वभाव, ज्ञाता और सामान्य—ये इसके नामान्तर हैं। 'कश्मीरी प्रत्यभिज्ञादर्शन'के नामसे भी यह जाना जाता है। सर्वदर्शन-संग्रहमें इसको 'शिवदर्शन' कहा गया है। अभिनवगुप्तकी साधनपद्धतिसे इसका मेल है। आचार्य भट्ट कल्लटने अपने गुरु वसुगुप्तसे इसका रहस्य प्राप्त करके पचास कारिकाओं-में निबद्ध कर दिया था। दसवीं शताब्दीके मध्यमें उत्पलाचार्यने 'स्पन्द-प्रदोपिका'के नामसे इसपर टीका लिखी। यह पुस्तक संस्कृत-भाषामें है और केवल एकबार सन् १८९८ ई० में मेडीकलहाल प्रेस, काशीसे प्रकाशित हुई थी। हिन्दी पाठकोंकी जानकारीके लिए इसका सार-संक्षेप प्रस्तुत है।

स्वयं परमतत्त्व स्पन्द ही शब्द द्वारा अपनेको अभिव्यक्त करता है (आगम-रहस्य एवं षाड्गुण्य-विवेक)। जैसे सतमंजिले महलपर चढ़नेके

लिए सोपानकी और नदी-पार करनेके लिए नावकी आवश्यकता होती है, वैसे ही भगवान् शास्ताके अधिगमके लिए शास्त्रकी अपेक्षा होती है (पञ्चरात्र) । सिद्ध एवं साधारण पुरुषमें एक विलक्षण सम्बन्ध होता है, उसके बिना इस यथार्थ तत्त्वकी अनुभूति नहीं होती । इस ग्रन्थमें स्पन्द वाच्य है और शब्द वाचक है । 'स्पन्द' शब्दका अर्थ होता है—किञ्चित् हिलना । निस्तरङ्ग परमात्मामें जो एकसाथ सर्वरूपसे उन्मुख होनेकी योग्यता है वही किञ्चित् चलन है । इससे उसकी निर्विकल्पताका भंग नहीं होता । व्यवहारमें जितने ज्ञान होते हैं उनमें पदार्थोंके उदयका क्रम होता है । परन्तु उनसे विलक्षण एक अनन्त चिद्रूप प्रमाता है, संविद् है । वस्तुतः वही महेश्वर है । उसीसे सभी भेदोंकी सिद्धि होती है (ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा) । यही चित्, संवित्, ज्ञान और बोधके नामसे भी प्रसिद्ध है । वस्तुतः यही निवारण चित्स्वरूप होनेके कारण दिक्कालादिके अवच्छेदसे रहित है, अद्वितीय है और यह केवल श्रद्धागम्य अथवा परोक्ष नहीं है, स्वानुभवैक्यप्रमाण है । यही शक्ति-चक्रका परमेश्वर आत्म-चिन्तामणि है । यही उपेय होनेके कारण अभिधेय है ।

अच्छा, तो यह चिन्तामणि क्यों है ? यह शास्त्रोंके द्वारा उद्घोषित स्वानुभूति होनेके कारण । पौष्कर-संहितामें कहा गया है—चिन्तामणिमें ढूँढ़नेपर स्वरूपतः किसी वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती, परन्तु जो चाहो वही वह दे देती है । सर्वशक्ति ब्रह्म ऐसा ही है ।[1] परमार्थसारमें भी कहा है—भगवान् तो सब कुछ है परन्तु जिस-जिस भावसे उसकी उपासना की जाती है, चिन्तामणिके समान वही-वही होकर मिलता है ।[2] ज्ञान-सम्बोधमें भी ऐसा ही है । ज्ञानकी शक्ति स्वभावसे एकरूप होनेपर भी संकल्पभेदसे नानात्वको प्राप्त हो जाती है जैसे एक ही चिन्तामणिसे लक्ष्मी अनेक रूप धारण कर लेती है ।[3] इसीसे इसका नाम शिवशंकर

---

१. चिन्तमणौ स्वरूपेण न किञ्चिदुपलभ्यते ।
अथ चाभिमतं सूते ब्रह्मैवं सर्वशक्तिकम् ॥

२. सर्वाकारा भगवानुपास्यते येन येन भावेन ।
तं तं भावं भूत्वा चिन्तामणिरिव समभ्येति ॥

३. स्वभावादेकरूपाणि नानात्वं प्रतिपद्यते ।
ज्ञानस्य शक्तिः सं॰ल्पैर्लक्ष्मीश्चिन्तामणेरिव ॥

है; क्योंकि यही आत्यन्तिक श्रेयका मूल है। वस्तुतः वह निर्नामक है। अभेदार्थ-कारिकामें सिद्धनाथने कहा है—परमार्थवस्तु भावशून्य, अग्राह्य और निराकार है। उसका शिव नाम भी कल्पनामात्र ही है। परमार्थ वस्तुमें न कहीं परिणाम है, न विवर्त। अथवा दोनों ही हों तब भी परमार्थ वस्तुके कोई खण्ड-खण्ड नहीं बनते।[1] संवित्-प्रकाशमें भी यही बात कही गयी है—निर्मलबोधैकस्वरूप परमार्थमें विवर्त और परिणाम दोनोंसे ही देह-परिग्रहकी सिद्धि हो सकती है। परमार्थ अच्युत है। विवर्तमें वैसा न होकर भी वैसा भासता है। परिणाममें भी वही है जैसे कुण्डलमें सुवर्ण।[2]

अब प्रश्न यह है कि ऐसा तत्त्व निरावरण कैसे है? हम तो जहाँ देखते हैं वहाँ उसको सुख, दुःख, मोह, स्पन्द, निःस्पन्द आदि गुणोंसे आवृत ही देखते हैं। इस आक्षेपका समाधान यह है। ये सुख-दुःखादि ज्ञेय होनेके कारण स्वयं सत्ताशून्य हैं। ज्ञाताके आश्रयसे ही इन्हें प्रतिष्ठा-सी प्राप्त होती है। जिनकी बुद्धि अप्रबुद्ध है, वे अपने शुद्ध-बुद्ध स्वरूपका परित्याग करके कामनावश अहंभावसे तादात्म्यापन्न हो जाते हैं और अपने अनन्तस्वरूपको संकुचित (छोटा) कर देते हैं और यह संकोच केवल अविद्याकृत है। निज संवित्-स्वरूप तो अद्वितीय ही है। अतः स्वरूप-स्थित महापुरुषोंको यह भ्रम नहीं होता। आगे चलकर यह बात स्पष्ट हो जायगी।

धातुसमीक्षामें कहा गया है—यह अविद्याशबल आत्मा ही प्रमेयके रूपमें स्थित है अर्थात् द्रष्टा और दृश्यका भेद सच्चा नहीं है। अविद्या-

---

१. वस्तुनो भावशून्यस्य त्वग्राह्यस्य निराकृतेः।
कल्पनामात्रमेवैतत् यच्छिवव्यपदेशनम्॥
नेत्थं विभोर्विवर्तोऽस्ति परिणामश्च न क्वचित्।
अथ वा द्वयमप्यस्तु तथाप्यस्य न खण्डना॥

२. इति निर्मलबोधैकरूपे देहपरिग्रहः।
विवर्त - परिणामाभ्यां द्वाभ्यामप्युपपद्यते॥
विवर्तेऽप्यतथारूपस्तथा भासि त्वमच्युत।
परिणामे स एव त्वं सुवर्णमिव कुण्डले॥

शबलित आत्माने अपने निज स्वरूपका ग्रहण नहीं किया। अविद्या स्वयं अनृत है, असत्य है। अनृत वस्तु नहीं होती। अवस्तु वस्तुका नाश या विकार नहीं कर सकती। अन्धकारसे आच्छादित होनेपर भी रज्जु-खण्डमें कोई विकार नहीं होता और न तो नाश ही होता है। इसीप्रकार अविद्यासे आत्मामें कोई विकार या नाश नहीं होता। अतः इस ज्ञानरूप परमात्मामें न स्वतः बन्धन है, न परतः। अज्ञातसे ही यह बद्ध जान पड़ता है और अज्ञान मिट जानेपर मुक्त तो पहलेसे है ही।[1]

तत्त्वयुक्तिमें कहा गया है कि संसारके प्राणी जिन-जिन भयङ्कर कर्मोंसे बँधते हैं, वे भी मुक्तिके उपाय ही हैं। किन्तु मूर्खतावश वे उसीसे भवबन्धनसे मुक्त नहीं हो जाते। कुलयुक्तिमें भी कहा गया है कि पतन और अभ्युत्थान दोनोंका एक ही कारण है। अज्ञानी जिससे बँधता है, ज्ञानी उसीसे मुक्त होता है। उत्पलाचार्यका कहना है कि जिन कारणोंसे मूर्ख दुःखी होता है, उन्हींसे प्रज्ञावान् दुःख पार हो जाता है। लोहेका गोला पानीमें डूब जाता है और उसीका पात्र बना दें तो तैरने लगता है।[2]

गीतामें भी स्पष्ट कहा गया है कि जिसमें सारी कामनाओंका प्रवेश हो जाता है, उसीको शान्ति मिलती है, कामकामीको नहीं (२.७०)। इससे भी पहले राग-द्वेष रहित इन्द्रियोंसे किये गये भोगको प्रसादका साधन कहा गया है (२.६४)। एक महात्माका वचन है—जो परमार्थ-ज्ञानी आत्मभावका परित्याग किये बिना विषयोंपर अनुग्रह करते हैं वे

---

१. अविद्याशबलस्यास्य स्थितं मेयत्वमात्मनः।
गृहीतं न निजं रूपं शबलेन तादात्मना॥
सा चाऽनृतात्मिकाऽविद्या नानृतस्य हि वस्तुता।
नाऽवस्तु वस्तुनो नाशं विकारं वा करोत्यतः॥
नाच्छादितस्य तमसा रज्जुखण्डस्य विक्रिया।
नाशो वा क्रियते यद्वत् तद्वन्नाऽविद्ययाऽऽत्मना॥
नाऽतः स्वतो न परतो बन्धोऽस्य परमात्मनः।
बद्धोऽस्याऽविद्यया जीवो मुक्तिस्तस्त हि तत्क्षये॥

२. सीदति येनैव जडः प्राज्ञस्तेनैव सन्तरति दुःखात्।
पिण्डितमयोऽप्सु मज्जति तदेव पात्रीकृतं प्लवते॥

ही जीवन्मुक्त हैं। विषय आत्माके ही स्पन्द हैं; जैसे नट अन्य रूपमें प्रतीत हो।[1] चिच्छक्ति-संस्तुतिमें योगिनाथने कहा है कि शक्तिकी प्रवृत्ति और निवृत्तिसे ही उदय और प्रलय होते हैं। अतः ये सब शक्तिके ही स्पन्द हैं सादृश्य न होनेपर भी ये ठीक वैसे ही हैं जैसे अग्निसे धूएँका निकलना, आकाशमें नाना आकृतियोंका दीखना। अद्वैत परमात्मामें यह द्वैतरूपा सृष्टि वैसी ही है। सूर्योदयके पूर्व नाकसे पानी निकलने लगता है साकार और सूर्योदय होनेपर वह शान्त हो जाता है निराकार।

अब इसी विषयपर विचार प्रारम्भ करते हैं। क्योंकि शास्त्रका प्रयोजन है उपाय और उपेयका प्रदिपादन। उसके ज्ञानसे उपेयस्वरूपकी अनुभूति स्थिर हो जाती है। यह भी ध्यानमें रखने योग्य है कि यह दर्शन स्वतन्त्र है और इससे अद्वैत-प्रतिपादक शास्त्रोंकी सङ्गतिमें कहीं बाधा नहीं पड़ती। विमर्शस्वरूप स्पन्दभूमिपर आरूढ़ हो जानेपर पश्यन्ती आदिके क्रमसे वार्णोकी उत्पत्ति होती है और 'संवित्प्रकाश'के अनुसार वह वाणी ही विश्वका उदय-विलय करती है; कार्यानुरूप नाम धारण करती है और चराचरकी विचित्र जीवन-यात्राका निर्वाह करती है। प्रणयन और संकोच—दोनों उसीके रूप हैं। इन्हींमें नाम-रूप तथा व्यवहारका निर्वाह निवास करता है। यदि इस शक्तिकी सत्ता स्वीकार न करें तो किसी वादीकी ही सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि वादका प्रकाशक भी यही है। 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा'में इसको आदिसिद्धि कहा गया है। यह अपना आत्मा आदिसिद्ध, ज्ञाता, कर्ता एवं महेश्वर है। कोई भी चेतन पुरुष इसका निषेध अथवा सिद्धि करनेके लिए अपेक्षित नहीं है। जिससे सब सिद्ध होता है, वही आत्मा है। सबका निषेध करने पर जो शेष रह जाता है, वही तो आत्मा है।[2]

ऐसे सम्पूर्ण विषयाकार-वृत्तियोंके आदि, मध्य, अन्तमें प्रकाशमान स्वयं सिद्ध परमार्थके सम्बन्धमें विप्रतिपत्ति (अग्रहण अथवा अन्यथा-

---

१. असन्त्यक्तात्मभावानां विषयाननुगृह्णताम्।
विज्ञातपरमार्थानां जीवतामेव मुक्तता॥
ते चैवास्यात्मनः स्पन्दो नटस्येवान्यरूपता।

२. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः?॥

ग्रहण, संशय) होनेका कारण केवल मोह ही है। जैसे कोई छोटा राजा चक्रवर्ती सम्राट्से कुछ थोड़ी-सी चतुरंगिणी सेना और सामग्रीकी याचना करके प्राप्त कर ले और फिर उसीसे साम्राज्य छीननेके लिए युद्ध करे तो वह छोटा राजा अपना विनाश ही कर बैठता है, वैसे ही आदिसिद्ध आत्मासे शक्ति प्राप्त करके जो वृत्ति या वृत्त्यारूढ़ पदार्थ आत्माका ही अपलाप करता है; अन्ततोगत्वा उसकी च्युति निश्चित है। इसप्रकार इस आत्मसत्ताका किसीसे पराजित न होना स्वतःसिद्ध है। कारिकाका प्रथम श्लोक यह है—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः॥ १॥

मङ्गल श्लोकमें शंकरकी स्तुति-नति है। जो भोग और मोक्ष, श्रेय और प्रेय—दोनोंका दाता है, वह शंकर है। निर्मलता अर्थात् अद्वैत ही उसका स्वभाव है। इस सिद्धान्तमें जीवन्मुक्ति ही मोक्ष है। संविद् ही ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता एवं ईश्वर है। यह कोई अध्यारोप अथवा अध्यास नहीं है। इस संविद्में एक साथ सब है। 'सर्वज्ञभैरव' में कहा है—किसी और स्थानपर जाना या कोई स्थानविशेष मोक्ष नहीं है। अज्ञान-ग्रन्थिका खुल जाना ही मोक्ष है।[1]

महाभारतके मोक्षधर्ममें राग-द्वेषादि क्लेशसे दूषित चित्तको ही संसार और उनसे विनिर्मुक्त चित्तको मोक्ष कहा गया है। बौद्धसिद्धान्तमें भी रागादि-मलिन चित्तको संसार कहा गया है और पवित्र चित्तको मोक्ष। 'नारदसंग्रह' का भी यही कहना है कि सभी विकल्प संसार है। विकल्पके अतिरिक्त कोई बन्धन नहीं है। ग्रन्थकर्ताका कहना है कि बन्धक, बन्धनकर्ता और बद्ध—ये तीनों एक ही हैं। सब अपने विकल्पसे ही बँधे हुए हैं। 'आत्मसप्तति'में उल्लेख है कि वस्तुस्थितिसे बन्धन नहीं है, फिर मुक्ति कहाँ होगी। दोनोंको विकल्पने गढ़ा है। वस्तुतः बन्धन-मुक्ति कुछ नहीं है। 'पञ्चरात्र' में आत्मसंवित्के लिए भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वेश्वर एवं सर्वशक्ति शब्दका प्रयोग किया गया है। 'भगवान्' शब्दकी वही व्याख्या है जो वैष्णवमतमें। यदि भगवान्, और संवित्की

---

१. नान्यत्र गमनं स्थानं मोक्षोऽस्ति सुरसुन्दरि।
अज्ञानग्रन्थिभेदो यः स मोक्ष इति कथ्यते॥

अभिन्नता अभिमत न होती तो एकतत्त्वमें स्तोता, स्तुत्य और स्तुतिका भेद कहाँ-से आता? जैसे अपनी छायाका उल्लंघन सम्भव नहीं है, वैसे ही अद्वैतका उल्लंघन सम्भव नहीं है। ज्ञेयको अपने स्वरूपसे एक करके ज्ञानको देखो; फिर ज्ञान और ज्ञेयका कोई भेद नहीं है। ये सारे भेद केवल शाब्दिक हैं और वह भी केवल विकल्प। शब्दका कारण विकल्प है और विकल्पका कारण शब्द। 'राहुका सिर' अथवा 'घृतकी धारा'— इन वाक्योंमें प्रतीयमान भेद केवल विकल्प ही है। जो अपने संविद्में अभिन्न है वह वाग्व्यवहारका विषय होनेपर भी अभिन्न ही है।

व्यवहारका निर्वाह वचनसे ही सम्पन्न होता है। 'संवित्प्रकाश'में कहा गया है कि इस विश्व-व्यवहारका कारण वाक् ही है। यह युक्तिसिद्ध है, केवल शास्त्रोक्त परोक्ष स्वर्गवत् नहीं है। कोई कार्य बिना संकल्पके नहीं होता और वाक्के बिना कोई विकल्प नहीं होता। इस वाक्का मूल बोध है, आत्मा है। 'जयाख्यसंहिता' में इससे विस्तारसे उपपादन किया गया है। मात्रा, अतिसूक्ष्म, परम, मध्यम, स्थूल और स्थूलतर शब्दके अनेक भेद होते हैं। प्रत्येक व्यवहारमें वह किसी-न-किसी रूपमें स्थित रहता है। यही शिवशंकररूप संवित् शारीरिक, शाब्दिक अथवा मानसिक व्यवहारका पूर्वरूप है। मङ्गलाचरणमें उसीकी स्तुति की गयी है।

वह क्या है? जिसके उन्मेष अर्थात् उन्मुखतासे विश्वका उदय होता है और परम्परा चलती रहती है। जिसके निमेषसे—विश्रामसे प्रलय हो जाता है वही है। जैसे जाग्रत्-कालमें दृश्यका उदय और सुषुप्ति-कालमें दृश्यका प्रलय। आत्मसंवित्के उन्मेष और निमेषसे अतिरिक्त उत्पत्ति-प्रलय नामकी कोई वस्तु नहीं है। यह आत्मरूप ईश्वरकी शक्तिका प्रसार और विराममात्र है। विमल संवित्के दोनों ही आकार हैं। 'तत्त्वविचार' में कहा गया है कि जगत्का उदय और विलय शक्तिके प्रसार और संकोचके साथ बँधे हुए हैं। जिसकी वह शक्ति है, वही शिव—आत्मा है। 'कक्ष्यास्तोत्र' में भी यही भाव है—'तुम्हारे आशयके उन्मेष-निमेष मात्रको ही सृष्टि और प्रलय कहते हैं। यह बात विचित्र निर्माणको देखकर स्वयं स्पष्ट हो जाती है। उन्मेषमें ज्ञान-क्रिया आदिसे गर्भित इच्छा-शक्तिका निवास है और वह फैलती है। इच्छासे ज्ञान प्रवृत्त होता है और क्रिया-करणके संयोगसे पदार्थकी उत्पत्ति होती है।

इसका विराम ही प्रलय है। उन्मेष और निमेष शब्दोंका मूल प्रयोग मङ्गलार्थक है, पादपूर्णार्थिक है अथवा सृष्टिके आद्य होनेके कारण है। इसमें शब्द-क्रम विवक्षित नहीं है। उन्मेषमें मुक्ति है और निमेषमें मुक्ति; क्योंकि निमेष निस्तरंग है।

आत्मसंवित् रूप शिवशङ्करको 'शक्तिचक्र-विभवप्रभव' कहा गया है। शक्तियाँ अनेक होती हैं। 'मालिनीविजय'के अनुसार जगत्-स्रष्टाकी समवायिनी शक्ति इच्छा है। वही जब जगत्को प्रकट करती है तब ज्ञानशक्ति हो जाती है कर्योन्मुखी होनेपर क्रियाशक्ति। अर्थकी उपाधिसे इसके अनेक नाम हो जाते हैं, जैसे चिन्मामणिके। जैसे माता पचास वर्णोंके पुष्पोंकी माला पहने हुए हो, वैसे ही यह अकारादि स्वर-वर्णोंकी माला धारण करती है। शक्तिचक्रके चार प्रकार हैं—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी। इन्हींको परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भी कहते हैं। इन्हीमें आनन्द, इच्छा ज्ञान और क्रिया निवास करती हैं। ये सभी शक्तियाँ आत्मसंवित्से अभिन्न ही हैं। पाञ्चभौतिक शरीरसे रहित केवल चिदात्मामें जो परमानन्दका उल्लास है; वही परा वैष्णवी शक्ति है। इन्हीं शक्तियोंसे संवित् विग्रह धारण करती है; दानवोंका नाश करती है। हितकारिणी होनेसे इन्हीं शक्तियोंको माता कहा जाता है। ये सब शक्तियाँ विज्ञानदेह ही हैं।

यहाँ शक्तियोंके रहस्य-स्वरूपके प्रकाशनका प्रसंग नहीं है। उन्हें आप किसी भी मतके अनुसार कुछ भी मान लें। भिन्न-भिन्न मतोंमें खेचरी, इच्छा, परा, अघोरा, वामा, ब्राह्मी, वैष्णवी, शैवी, सौरी, बौद्धी आदिकी प्रधानतासे इनका वर्णन है। कोई-कोई इन्हें अक्षररूप और करणरूप भी मानते हैं। कुछ भी हो, हम इतना ही कहना चाहते हैं कि इन सभी शक्तियोंके मूलकारण स्पन्दरूप भगवान् ही हैं। 'मायावामन-संहिता' में सभी शक्तियोंसे परिवारित एक ही भगवान्को ध्येय एवं उपास्य कहा गया है। 'कुलयुक्ति'का कितना सुन्दर वचन है—वेदान्त, वैष्णव, शैव, सौर, बौद्ध एवं अन्यान्य मत-मतान्तरोंमें एक शुद्ध आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञेय—दोनों है। जाननेवाला ही जाना जानेवाला है। ठीक ही कहा कि जिसका उन्मेष और निमेष ही जगत्का उदय-विलय है, उसको हम नमस्कार करते हैं। सच तो यह है कि शक्ति-समूह ही अनन्तरूपमें स्फुरित हो रहा है। शक्तिमान् आत्मा महेश्वर है और शक्तियाँ जगत् हैं जैसे श्रेष्ठ सुन्दरीके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे राशि-राशि लावण्य

छलकता है, वैसे ही परमात्माकी चिन्मात्रता ही जगत्के रूपमें छलक रही है। शक्तियोंके बलसे ही आत्माकी 'प्रभु' संज्ञा अन्वर्थ होती है।

अब प्रश्न यह है कि संसारी अवस्थामें आत्माका यह वैभव क्यों ढक जाता है? इसका उत्तर देते हैं मूल कारिकामें—

यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्।
तस्यानावृतरूपत्वतान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित्॥ २॥

जिस स्पन्द-तत्त्वमें यह सम्पूर्ण कार्यजगत् ज्ञानरूपसे शक्त्यात्मक होकर अवस्थित है, निमेष दशामें भी वह ज्ञानरूप होनेके कारण अनावृत—अनाच्छादित ही रहता है। उसका कभी, कहीं, किसीप्रकार निरोध नहीं होता। बात यह है कि बोध्यकी स्वयं सत्ता नहीं है, अवबोधस्वरूप आत्मा दोनों अवस्थाओंमें अनावृत है। प्राचीन आचार्यका वचन है—'स्वर्णके आभूषणोंमें विचित्रता स्वर्णसे पृथक् नहीं है। नित्य स्वरूपकी विश्वरूपता भी ऐसी ही है। आभूषणरूप-रहित स्वर्ण पिण्डात्मक है। वेद्यरहित आत्मा चिदात्मक है।' 'ज्ञानसम्बोध'में भी ऐसा ही है—'विश्वका आश्रय आकाश है, आकाशका आश्रय विश्व नहीं है। ज्ञान आकाशके समान अनन्त है और ज्ञेय विश्वके समान अल्प है, किञ्चित् न्यूनसत्ताक है। जैसे आकाशमें किसीके द्वारा परिच्छेद वा प्रतिबन्ध नहीं है; क्योंकि वह व्यापक है। इसीप्रकार यह ज्ञानस्वरूप भी प्रतिबन्ध-रहित है।'

अच्छा, तो भले ही सर्ववृत्त्युपसंहाररूप-निरोध उसका न हो, किन्तु जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें वह अनिरुद्ध कैसे रह सकता है? इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्यकी यह कारिका है—

जाग्रदादि विभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः॥ ३॥

यह सच है कि जाग्रत् आदि अवस्थाएँ बदलती हैं परन्तु वे सब आत्मसंवित्से अभिन्न ही हैं। अवस्थाओंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी स्पन्द-तत्त्व अपने निज उपलब्धिमात्र स्वभावसे च्युत नहीं होता; क्योंकि वह उपलब्धा है। उपलब्धा तीनों अवस्थाओंमें समानरूपसे रहता है। भेद अवस्थाओंमें होता है, अवस्थाताओंमें नहीं। विषवृक्षका अंकुर क्या छोटा, क्या बड़ा, विषमें भेद नहीं होता। जाग्रत्, स्वप्नमें संवेदन प्रसिद्ध है। सुषुप्तिके उत्तरकालमें भी सुख-निद्राका संवेदन होता है।

संवेत्ता अक्षुण्ण है। जलकी लहरियोंके साथ प्रतिबिम्ब हिलता है, परन्तु, चन्द्रमाके साथ उस क्रियाका स्पर्श नहीं होता। अवस्थाएँ नाचती हैं, अपना रूप बदलती हैं, परन्तु परमात्मासे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे अंगकी कोई चेष्टा अंगसे अभिन्न ही है, वैसे ही कोई भी भेद परमात्माकी अंगचेष्टा ही है। द्रष्टा इन्द्रियोंसे अर्थ ग्रहण करता है तो जाग्रत्, उनके बिना केवल मनसे अर्थ ग्रहण करता है तो स्वप्न और जहाँ न अर्थ है, न स्मरण वह सुषुप्ति। परन्तु आत्मा शुद्ध बोधैकस्वरूप है, ज्यों-का-त्यों। यही उसकी तुरीयता है।

किसी-किसीका कहना है कि अवस्थाएँ तो विश्वके अन्तर्गत हैं परन्तु अवस्थाता नहीं। प्रत्यभिज्ञा आदि युक्तिसे उसका खण्डन करनेके लिए अगली कारिका है।

अहं सुखी च दुःखी च रक्तश्चेत्यादिसंविदः।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ताः स्फुटम् ॥ ४ ॥

मैं सुखी-दुःखी, रागी आदि हूँ—यह सब संवेदन अर्थात् अवस्थाएँ हैं। वे भिन्न-भिन्न संवेदनोंसे अलग संवेत्ता-अवस्थाता अर्थात् सुखादिके उपलब्धामें उपरागरूपसे (ग्रहणकी कालिमाके समान) स्पष्ट रहती हैं। संवेत्ताके बिना भिन्न-भिन्न संवेदनोंकी भी सिद्धि नहीं होती। क्षणिक ज्ञानवादियोंके मतमें अनेक नदियाँ समुद्रमें मिलकर तादात्म्यके कारण एक जान पड़ती हैं परन्तु यह संवेत्ता केवल अवस्थाओंका तादात्म्य नहीं हैं। कार्य-कारण भाव अथवा बाध्य-बाधक भाव तबतक सिद्ध ही नहीं हो सकता, जबतक पूर्वदशा और उत्तरदशाका एक ही प्रमाता न हो। जब प्रत्येक क्षण विलक्षण होंगे, प्रत्येक संविद् पृथक्-पृथक् होगी तो पूर्ववर्ती प्रमाणसे उत्तरवर्ती प्रमेयको बोध कैसे होगा? सम्बन्धका ग्रहण हुए बिना प्रमाणकी क्या गति होगी? संवेत्ताके बिना मिथ्या ज्ञानका मिथ्यात्व कैसे सिद्ध होगा? एक क्षणके अनन्तर शुक्तिका रजत हो जाय तो उनको कौन रोक सकेगा? वस्तुतः संवेत्ताके एक हुए बिना प्रमाण-अप्रमाणका भेद ही नहीं रहेगा। घटकी सिद्धि होगी और अनुभव पटका होगा। 'यह वही है' यह प्रत्यय भी क्षणिक विज्ञानवादियोंके मतमें नहीं हो सकता। अतः पूर्वविज्ञानकी स्मृति जिसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं—सर्वथा प्रामाणिक है। इसलिए नित्यस्वभाव आत्मा ही संवेत्ता है। सच्ची बात तो यह है कि एक प्रमाता आत्माकी सिद्धिके बिना प्रमाण भी अप्रमाण

हो जायगा; क्योंकि सबकुछ क्षणिक और अनिश्चित होगा। क्षणिक ज्ञानमें कार्य-कारणकी सिद्धि कैसे होगी? स्मृति-बीज कैसे होगा? कारणका नाश कैसे हो गया! यदि नाश नहीं हुआ तो विनाशी कार्यका कारण कैसे हुआ? अभावसे भाव-परम्परा कैसे चल सकती है? यदि कार्यका नाश नहीं होता है तो वह क्षणिक कैसे हुआ? जो दूसरे क्षण रह सकता है, वह सौ क्षण तक भी रह सकता है। अभिप्राय यह है कि भाव सब स्थिर हैं। स्वरूपतः भावका अभाव नहीं होता। आत्मज्ञानसे कुछ भी क्षणिक नहीं है। निश्चयके बिना बाध्य-बाधक भाव भी सिद्ध नहीं होता। स्थिरताके बिना शुक्तिमें रजत-भ्रान्ति मिटानेका क्या अर्थ होगा? अतः ज्ञान एक है, नित्य है। वह क्षणिक और अनेक नहीं होगा।

'सत्कार्य-सिद्धि'में कहा गया है कि 'यदि प्रत्येक विज्ञान स्वतन्त्र हो तो एक दूसरेका संवेदन नहीं हो सकता, इसलिए पूर्वावस्था और उत्तरावस्था—दोनोंका ज्ञाता एक प्रमाता होता है और वह विचित्र वृत्तियोंके द्वारा व्यवहारका आश्रय बनता है। अनेक वृत्ति-ज्ञानोंका अनुसन्धान एक अजन्मा ज्ञानको होता है। गीताका यह वचन सर्वथा सत्य है कि एक ही चेतन स्मृति-ज्ञान और अपोहनका हेतु है।' विरोधियोंके कुतर्क-पाषाणोंको चबानेमें कोई लाभ नहीं।

संवेत्ताका स्वरूप क्या है? सुख-दुःख, राग-वैराग्य, मोह-प्रबोध आदि जितनी अवस्थाएँ होती हैं, उनमें वह मणियोंमें सूतकी तरह अनुस्यूत रहता है। 'मैं' पहले सुखी था, आज दुःखी हूँ, सुख-दुःखमें भेद है, मैं-में भेद नहीं है। इस स्मृति और प्रत्यभिज्ञाका अनुसन्धान उसीको होता है। इन अवस्थाओंमें भी वह सावरण नहीं है; क्योंकि ये अवस्थाएँ विकल्पमात्र हैं और अनित्य हैं: संवेत्ता इनसे अतिरिक्त है। अविद्यावरण तो केवल उपरागमात्र है; जैसे चन्द्रमा या सूर्यपर ग्रहण। अन्धकारसे आच्छन्न होनेपर रस्सी साँप नहीं बन जाती और न तो नष्ट होती है। इसी प्रकार अविद्या आत्माका कुछ बिगाड़ नहीं सकती—यह भर्तृहरिका वचन है।

'संवित्प्रकाश'का कहना है—'स्फटिकका स्वभाव अत्यन्त निर्मल है परन्तु जपाकुसुम आदिका उपराग होनेपर स्फटिक लाल दीखता है। भगवान् संवेत्ताका अत्यन्त निर्मल शरीर भाव-समासक्त होकर विविध

प्रकारका उपलब्ध होता है। जैसे स्फटिक रङ्गीन नहीं हो जाता, वैसे भावयुक्त होनेपर संवित् वैसी नहीं हो जाती। यह आत्म-संवित् उपरक्त होनेपर भी अपने निजरूपका परित्याग नहीं करती। रूपान्तरित न होनेपर भी यह रूपान्तरित दीखती है। बात यह है कि जो कुछ दीखता है—सब कुछ उसीका तो विलास है। शुद्ध अनुभव विविध आकारोंसे अपने आकारका परित्याग नहीं करता, निर्मल ही रहता है। श्वेत वस्त्रपर कोई रङ्ग चढ़ा, उतर गया; दूसरा चढ़ा, उतर गया। श्वेत वस्त्र ज्यों-का-त्यों है। इसी प्रकार शुद्ध चेतन तत्तत् आकारके रागसे तत्तदाकार भासता है परन्तु रहता है शुद्ध। क्या ही सुन्दर वचन है—नील, पीत, सुख-दुःख—सबमें चित् स्वरूप अखण्डित ही रहता है। चित्र-विचित्र उपाधि-सम्पदासे विकल्प उसको विशिष्ट-विशिष्ट दिखा देता है।'

विकल्पोंसे विलक्षणका स्वरूप बतलाते हैं—

न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः॥ ५॥

वह स्पन्दतत्त्व परमार्थतः है; क्योंकि वह नित्य है। उसमें न आध्यात्मिक दुःखादि हैं और न वैषयिक सुख। घटपटादि ग्राह्य भी नहीं है। मैं इन्हें ग्रहण करनेवाला सविकल्प ग्राहकरूप प्राकृत अहंकार हूँ—ऐसा भी नहीं है; क्योंकि अहंकार तो अविद्याके बिना होता ही नहीं है। इससे अधिष्ठातारूप ग्राहक अहंकारका अभाव बताना अभीष्ट नहीं है; क्योंकि उसको तो जानता ही है। 'तत्त्वगर्भ' में कहा गया है कि परमार्थमें ग्राह्य और ग्राहक कुछ नहीं। परमार्थके ज्ञानके बिना अपनी छाया ही आभासके समान जान पड़ती है। तब वह स्पन्दतत्त्व क्या पाषाणके समान मूढ़ या शून्य है? नहीं-नहीं, वह जड़ नहीं है, स्वप्रकाश सर्वावभासक है। जैसे शीतकाल और उष्णकालके मध्य न शीत है, न उष्ण है, वैसे ही सुख-दुःखके मध्यमें न सुख है, न दुःख है परन्तु वह दोनोंमें हैं।' 'तत्त्वस्तुति' में ऐसा वचन है—'जैसे आकाशमें बिना अन्य-भावके' सम्बन्धके सूर्यका उदय होता है, इसी प्रकार वेद्यके बिना ही अपनी स्वताका प्रकाश होता है। विशेषके बिना सामान्य अथवा व्यक्तिके बिना जातिका पृथक् निर्देश नहीं किया जा सकता, परन्तु यह तो नहीं कहा जा सकता कि सामान्य = जाति है ही नहीं। स्वसंवेदन—सवेद्य,

सविन्मयी स्थिति नित्य शुद्ध निजस्वरूप है। उसमें सुख-दुःखकी कोई विशेषता नहीं है।' और तो और, नागार्जुनने भी कहा है—'सब आलम्बन, धर्म, सब तत्त्व और सब क्लेशाशयसे सम्पूर्णतः शून्य है वह तत्त्व, परन्तु परमार्थतः शून्य नहीं है।' 'आलोकमाला' और विलक्षण ढंगसे तत्त्वको प्रकाशित करती है। उसका कहना है— 'वह तमोवृत्तिके विरुद्ध है, इसलिए तमोवृत्तिको कभी अवकाश नहीं देती। वह सचमुच साधारण जनोंके लिए कोई अविज्ञेय अवस्था है, उसे हम शून्यता कहते हैं। लोकरूढ़िमें जो नास्तिकताका बोधक शून्यता शब्द है, वह हमारे 'शून्य' का अर्थ नहीं है।

यह जड़ नहीं है और निश्चित रूपसे है, इसका उपपादन करते हैं—

यतः करणवर्गोऽयं विमूढा मूढवत्स्वयम्।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्ति-स्थिति-सहृतीः॥ ६॥
लभते तत् प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात्।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा॥ ७॥

इसी स्पन्दतत्त्वसे यह बाह्य करणवर्ग अर्थात् ज्ञान-कर्मेन्द्रिय अन्तः-करण-चक्रके साथ मूढ़ चेतन होनेपर भी विचेतनके समान स्वयं प्रवृत्ति, स्थिति और संहारकी अवस्थाओंको प्राप्त करता है। आप देखते ही हैं कि चुम्बकके सान्निध्यसे लौह क्रियाशील हो जाता है। वायु और अग्निके सम्पर्कसे लौह-पिण्ड अग्निवत् दाह-पाक प्रकाशमें समर्थ हो जाता है भला, यह तो सोचिये कि जो दूसरोंको चैतन्य बनानेमें समर्थ है, वह स्वयं निः-स्वभाव कैसे हो सकता है? इसका अभिप्राय यह है कि सभी चेष्टाएँ ज्ञानपूर्वक हैं। ज्ञानहीन शरीर मिट्टीका डला हो जाता है। निश्चय ही जड़वर्गका अधिष्ठाता और धारक है, अन्यथा आकाशमें पत्थरका टुकड़ा क्यों न टिक जाता? अतः उद्योग और श्रद्धा—दोनोंके द्वारा इस तत्त्वका परीक्षण एवं समीक्षण करना आवश्यक है। इस सिद्धपुरुषकी वाणीपर विचार कीजिये—'ब्रह्म नेत्रके समान ही अदृश्य है और नेत्रके समान द्रष्टा है। अपने आपमें ही इसकी उपलब्धि है, घटादिके समान दृश्य नहीं है।' इसकी स्थिति अकृत्रिम और स्वतन्त्र है। जैसे यह देहस्थ करणवर्गको चैतन्य बनानेमें स्वतन्त्र है वैसे ही सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर और दृश्यवर्गको भी।

स्वातन्त्र्य ही उसकी इच्छाका सामर्थ्य है। देखिये, उसके विवेककी युक्ति—

नहीच्छानोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते।
अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥ ८ ॥

यह जीवात्मा पुरुष केवल इच्छा-प्रेपण या करण-समूहकी प्रेरणाका स्वतन्त्र कर्ता ही नहीं है, प्रत्युत अपने निरावरण चिद्रूप ज्ञत्व, कर्तृत्व आदिरूप बलके स्पर्शसे वही हो जाता है अर्थात् यह स्वयं ही सर्वज्ञ, सर्वकर्ता है।

अबतक आत्माके पूर्ण स्वातन्त्र्यका निरूपण किया गया। यदि इसके अभिमानात्मक क्षोभका क्षय हो जाय तो कहना ही क्या! अगली कारिका है—

निजाशुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥ ९ ॥

अनादि अशुद्धि अविवेकमूला अविद्या भोगाभिलाषा-मलसे आत्माकी शक्तिको संकुचित, सामर्थ्यहीन कर देती है। फिर उसको अपनी भोगाभिलाषाओंको पूर्ण करनेके लिए अनेक कर्तव्य करनेकी इच्छा होने लगती है। यही अज्ञान है। श्री सात्वतने कहा है कि अज्ञान, परिच्छिन्नता, सुखीपना, दुःखीपना—ये सब सर्वज्ञ आत्मतत्त्वमें इसलिए आजाते हैं कि वह कर्मचक्रका आलम्बन ले लेता है। इसीको दूसरे शास्त्रोंमें गमनागमन, प्रकृति, अशुद्धि, कर्मवासना, माया, अविद्या, भ्रम, मोह, अज्ञान एवं मल आदि नामोंसे कहा जाता है। प्रकृति और पुरुषकी अनादिता समान होनेपर भी मायारूप प्रकृतिका लय हो जाता है और आत्मसंवित् ज्यों-की-त्यों रहती है। 'संवित्प्रकाश'में कहा गया है—'मायाका मायापन यही है कि तत्त्वसाक्षात्कार होते ही मिट जाती है। रज्जुका ज्ञान होनेपर सर्प, माला आदि माननेका प्रश्न ही कहाँ?'[1] और भी कहा है कि 'तुम्हारे अतिरिक्त जो कोई दूसरी वस्तु है, इस प्रकार मालूम पड़ती है, वह विचार करनेपर गन्धर्वनगरके समान विलीन हो जाती है। केवल तुम्हीं शेष रहते हो। इसलिए तुम्हारा नाम

---

१. मायात्वमेतदेव स्यान्नाशस्तत्त्वप्रदर्शनात्।
नहि विज्ञातरज्ज्वात्मा सर्पादीन्मन्यते पुनः ॥

शेष है।'[1] विद्याधिपतिका कहना है : 'समाधिका स्वभाव है—विषयका भक्षण। जब युक्तिपूर्वक समाधि लगानेसे वह विषय प्रकाशको खा जाती है तब आपकी पदवी हो जाती है 'सर्वभोक्ता' और केवल आप ही अभक्षित रह जाते हैं। वह जादूगरके जादूके समान या ऐन्द्रजालिककी मायाके समान अपने बाधकमें ही रहती है; अर्थात् माया मायावीकी बुद्धिमें कोई भ्रम उत्पन्न नहीं करती—अपने आश्रयको दुःख नहीं देती। जैसे आगसे धुआँ, जैसे दर्पणपर मल, जैसे पानीमें बुलबुले, ऐसा ही उसका स्वरूप है—फिर निर्विकार ही निर्विकार है'।[2]

यह क्षोभ क्या है? अशुद्धिजनित विकार। उसका केवल एक ही रूप है—देहमें अहंभाव। विवेकसे आत्मबलका स्पर्श होनेपर वह नष्ट हो जाता है तब परम पदकी प्राप्ति अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थिति होती है। 'षड्धातु-समीक्षा'का कथन है कि 'मोहमूलक कर्म संसारके कारण होते हैं। मोहका मिट जाना और कर्मका मिट जाना एक ही बात है। वही सच्ची शान्ति और स्वस्थता है।" नारद-संग्रह'का वचन देखिये—'जैसे भुना बीज अंकुरित नहीं होता, वैसे ही विकल्परहित चित्त पुनर्जन्मसे मुक्त हो जाता है। यह क्षोभक्षय अभ्याससे धीरे-धीरे होता है।' 'स्वात्म-संवोध'का कहना है कि 'जैसे किसी पात्रसे आग हटा दी जाय तो भी वह धीरे-धीरे ठण्डा होता है, वैसे अज्ञान-कीचड़के धो फेंकनेपर भी शनैः-शनैः कैवल्यका अनुभव होता है।' 'षाड्गुण्य-विवेक' में आत्मा और परमात्माका केवल इतना ही भेद बतलाया गया है कि अविद्याके कारण अहंभावका संकोच होनेसे यह आत्मसंवित् परमात्माको अभिन्न होनेपर भी भिन्न भासती है। जैसे स्वप्नावस्थामें कोई डर जाय।

---

१. त्वत्तो द्वितीयमिह वस्तु यदस्ति किञ्चित्
तत्तद्विचारपदवीमवतारितं चेत्।
गन्धर्वपत्तनमिवोपलयं प्रयाति
त्वं शिष्यसे ध्रुवमतस्तव शेषसंज्ञा॥

२. भक्षणप्रकृतिना समाधिना युक्तितो विषयधाम्नि भक्षिते।
सर्वभक्षपदवीमुपेयुषः शिष्यसे परमभक्षितो भवान्॥
सा चेन्द्रजालिनो मायेवाऽऽस्थिता बाधकात्मनि।
यथाऽग्नेर्धूमलेखेव मलवद् दर्पणस्य वा।
बुद्बुदाः सलिलस्येव तच्छान्तौ निर्विकारिता॥

वस्तुतः स्वप्नद्रष्टा निर्भय है, पर वह डरके मारे घबरा जाता है। क्या स्वप्नद्रष्टा और स्वप्न-दृश्यमें कोई पारमार्थिक भेद है ? जब किसी वस्तुको 'मेरी' मान लिया जाता है तब मिथ्या भयका उदय होता है। 'यह पदार्थ स्वप्नवत् है' यह समझते ही भय भाग जाता है। इसी प्रकार 'मैं परमात्मरूप ही हूँ' इस भावनासे जिसकी अहंकार-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, वह अपनेको परमात्मस्वरूप ही देखता है।' 'संवित्प्रकाश'में कैसी सयुक्तिक उक्ति है—'ये सारे कर्म तुम्हीं करते हो और तुम्हीं हो। अहंकार नहीं है तो केवल तुम्हीं शेष हो। अहंभाव ही आत्माका परमात्मासे भेद है। वह भावनाभ्याससे नष्ट हो गया तो एकता-ही-एकता है।

स्वरूपस्थ, स्वस्थ पुरुषके गुणोंका निरूपण करते हैं—

तदाऽस्याऽकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्व-कर्तृत्वलक्षणः।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च ॥१०॥

जब क्षोभका प्रलय हो जाता है तब आत्मा स्वरूपस्थ हो जाती है और उसका सहज स्वभाव प्रकट हो जाता है। सहज स्वभाव क्या है ? सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता। वह जो जानना चाहे, जान सकता है; जो करना चाहे, कर सकता है—अपने लिए भी, औरोंके लिए भी। 'पञ्चरात्र'में यह सहज धर्म 'विवेकज ज्ञान'के नामसे कहा गया है। जब उसका प्रादुर्भाव होता है, तब क्या होता है ? यह आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वेश्वर एवं सर्वशक्ति हो जाता है। यह बिना इन्द्रियोंके भी होता है। जैसे अग्नि दाह्य क्या है, इसका विचार नहीं करती, वैसे ही आत्मा 'ज्ञेय क्या है' इसका विचार नहीं करता; क्योंकि वह स्वयं बोधस्वरूप है। 'षाड्गुण्य-विवेक'का कथन है कि 'बोध विचित्र पदार्थोंके निर्माणके लिए किसी दूसरे सहकारी कारणकी अपेक्षा नहीं रखता। वह स्वयं संकल्पसे ही सहस्रों रूपोंकी सृष्टि कर लेता है।

किसी-किसीका ऐसा कहना है कि आत्मामें ज्ञातृत्व और कर्तृत्व आदि किसी दूसरे परतत्त्वसे आते हैं, वे वस्तुतः आत्माको अनीश्वर ही मानते हैं। 'आगम-रहस्य'का वचन है कि 'जो ईश्वरकी क्रियाको किसी सहकारी कारणसे की हुई मानते हैं, उन्होंने ईश्वरताको ही तिलाञ्जलि दे दी। वे तो ऐसा कहते हैं, मानो परस्त्रीके अधीन पुरुषका नाम कामीश्वर रख दिया गया हो।'

इस सहज धर्मकी स्थिरताके लिए उपायका निर्देश करते हैं—

तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन् ।
स्मयमान इवास्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः ॥ ११ ॥

जो शुद्ध आत्मस्वभावको अर्थात् अधिष्ठातृभावसे अपनेको स्वयं प्रकाश चिद्रूपसे सर्वव्यापक रूपमें देखता है वह मुस्कराता हुआ, विस्मयाविष्ट-सा, खिलते हुए फूल-सा रहता है। अविद्याका विलय हो जानेके कारण उसके लिए यह क्षुब्ध संसार कहाँ है? यह योगकी एक ऊँची भूमिका है। इसकी दृष्टि द्रष्टारूपसे सबका अनुभव है। 'इष्टोपदेश'में कहा गया है : 'बेटा! तुम्हारी दृष्टिसे यह जो कुछ दीख रहा है, उसका आग्रह छोड़ दो। जिससे देखते हो, उसको देखो। उसको देख लेनेपर सब कुछ देख लोगे।'[1] ऐसी स्थितिमें विकल्पकी कारीगरीके अधीन होकर कुमार्गमें चलना नहीं होता, सदा अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। वही सत्यसंकल्प ईश्वर है। अभ्यास और भावनासे सारे दुःख मिट जाते हैं। रसायन आस्वादनके बिना केवल ज्ञानमात्रसे भी सिद्धि देता है। "वैसे तो प्रभो! आपको चरवाहे, बच्चे और स्त्रियाँ भी जानती हैं, परन्तु साधन या युक्तिके न होनेसे आप उन्हें मुक्त नहीं करते। गायमें स्थित दूध भूख-प्यास नहीं मिटाता। पान करनेपर ही वह दूध भूख-प्यास मिटाता है।"

जो लोग अभाव-चिन्तनका उपदेश करते हैं शून्यवादी, उनका खण्डन करनेके लिए आगेकी दो कारिकाएँ हैं—

नाऽभावो भाव्यतामेति न च तत्रास्त्यमूढता।
यतोऽभियोगसंस्पर्शात् तदासीदिति निश्चयः ॥ १२ ॥
अतस्तत्कृत्रिमं ज्ञेयं सौषुप्तपदवत् सदा।
न त्वेवं स्मर्यमाणत्वं तत्तत्त्वं प्रतिपद्यते ॥ १३ ॥

अभाव शशशृंगके समान होता है। अतः अवस्तु होनेके कारण वह कभी अनुभवका विषय नहीं हो सकता। अभाव एक मूढावस्था है, चेतन नहीं। अभियोग अर्थात् अभिलाषके संस्पर्शसे उसके अभावकी भावना हुई : वह बीत गयी। वह मेरी शून्यावस्था थी—ऐसा स्मरण होता है।

---

१. यदिदं दृश्यते दृष्ट्या ग्रहं पुत्राऽत्र सन्त्यज।
येन पश्यसि तं पश्य यं दृष्ट्वा पश्यसेऽखिलम् ॥

कहा भी है : 'जिस भावके द्वारा अभाव बाधित होता है, वह 'है' या 'नहीं'? उसके अभावके बाधक भावका सद्भाव कौन काट सकता है? अतः वह है और चिन्मय है। उसीसे सबका अनुभव होता है, अभावका भी।'[1] यही कारण है कि अभावकी भावना कृत्रिम और अनित्य ही होती है। वह सुषुप्तावस्थाके समान है। यदि ऐसा न होता तो बादमें मूढावस्थाके समान उसका स्मरण न होता। उस अवस्थाके कारण ही सदा प्रकाशमान आत्मा स्मृतिका विषय बन जाती है। आत्मा देखकर ही तो स्मरण करती है। अतः वह चिद्रूप एवं नित्योदित है। यही कारण है कि गुरुसे उपदेश प्राप्त करके आदरपूर्वक उसका विचार करना चाहिए।

अभीतक ऐसा लगता है, मानो दो अवस्थाएँ हों : एक स्मर्ता और दूसरी स्मर्तव्य। इनमें कौन नित्य है और कौन अनित्य? इसका विचार अगली कारिकामें करते हैं—

अवस्थायुगलं चाऽत्र कार्य-कर्तृत्वशब्दितम्।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम्॥ १४॥

इस स्पन्दतत्त्वमें जो दो अवस्थाएँ हैं—कार्य-कर्त्ता, भोग्य-भोक्ता, या दृश्य-द्रष्टा। इन्हें वेद्य और वेदक भी कह सकते हैं। इनके अध्याससे जो कार्यता है वह क्षयिष्णु और उत्पत्ति-विनाशयुक्त है तथा जो शुद्ध कर्ता, भोक्ता, द्रष्टा अर्थात् आवेदक है वह अक्षय है। वह निर्बाध, निरवधि चित्स्वरूप है।

अतएव—

कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्र लुप्यते।
तस्मिल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते॥ १५॥

यह बाह्यार्थ कार्यवर्ग जब क्षीण होने लगता है, तब कार्य-सम्पादनानुकूल बाह्येन्द्रियोंका व्यापाररूप प्रयत्न लुप्त हो जाता है। वह सिकुड़कर आत्मामें लीन हो जाता है, अतः नहीं दीखता। इन्द्रियाँ स्थगित हो गयीं तो प्रयत्नका सामर्थ्य कहाँ रहा? लुप्त होता है, प्रयत्न

---

१. अभावो येन भावेन बाध्यतेऽस्ति न नास्ति सः।
तस्य भावस्य सद्भावो वद केन निवार्यते।
सोऽस्त्यतश्चिन्मयो भावो येन सर्वं विभाव्यते॥

पर अज्ञानी मान बैठता है कि मैं ही नष्ट हो गया। वस्तुतः चिद्रूपका विनाश नहीं है। कहा भी है—'शरीरका' विनाश हो जानेपर भी विज्ञप्तिका विनाश नहीं होता। सूर्यकान्तमणिका अभाव हो जानेपर भी सूर्यकी कोई हानि नहीं होती।

ऐसा क्यों ?

न तु योऽन्तर्मुखो भावः सार्वज्ञादिगुणास्पदम्।
तस्य लोपः कदाचित् स्यादन्यस्यानुपलम्भनात् ॥ १६ ॥

देश-कालादिसे परिच्छिन्न कार्यकी ही निवृत्ति होती है। अन्तर्मुख भाव जो बाहर नहीं फैलता है, स्वस्वरूपस्थ-स्वस्वभाव सर्वज्ञता आदि गुणोंका आश्रय है, उस भावकी निवृत्ति कभी नहीं होती। क्यों नहीं होती ? इसलिए कि चिद्रूपके अतिरिक्त द्वितीयकी उपलब्धि नहीं होती। उसीकी सर्वत्र सर्वदा उपलब्धि होती है। जैसा कि कहा है—'देश-काल-क्रिया एवं आकारोंसे परिच्छिन्न वस्तुओंमें आप ही अनवच्छिन्न रूपसे प्रकाशित हो रहे हैं; क्योंकि आप उनसे बाहर हैं।' यहाँ भी है कि सर्वज्ञता, ज्ञान आदिमें भेद नहीं है; क्योंकि चिद्रूप ज्ञानकी ही सब स्थितियाँ हैं। 'षाड्गुण्यविवेक'में कहा गया है—'सभी गुणोंके आदि-अन्तमें ज्ञान ही होता है। केवल इसीसे तत्त्वका निश्चय हो जाता है। बल, वीर्य, ओज आदिकी शक्तियाँ धर्मरूपसे स्वीकार हैं।' 'कक्ष्यास्तोत्र'में बाह्यविमर्शसे शक्तिको अविद्या और ज्ञानको सर्वज्ञता कहा गया है। बल तृप्तिमूलक है और अनादि बोध तेज है, इसलिए बलका मूल बोध है। तेज प्रभाव है जो दूसरोंको झुका देता है। वह वेद्य होनेसे बोधका ही विलास है और वही जगत्को झुकाता है। यही ईश्वर है और इसकी स्वतन्त्रता ही ऐश्वर्य है। यह संविदात्मा सब कृत्योंमें स्वतन्त्र है। न किसीका नियोज्य है और न विघ्नवान्। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों दशामें यह ईश्वर ही है। यह अलुप्त शक्ति और अविनाशी है। इसका वीर्य यह है कि इसकी आत्मसत्ता कभी परिभ्रष्ट नहीं होती। यह कार्यमें अन्वित नहीं होता, स्वयं होता है। आभूषणमें स्वर्णकी अनुगति नहीं है, वह स्वर्ण ही है। स्वर्णका कण-कण स्वर्ण है।

उसकी उपलब्धि किसे होती है ?

तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी।
नित्यं स्यात्सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्ते परस्य तु ॥ १७ ॥

योगीको चिद्रूप आत्माकी निरन्तर उपलब्धि, अनुभूति होती है। योगी कैसा ? जो सदा सावधान—जागता रहे। उपलब्धि कैसी ? जो जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंमें बनी रहे, निवृत्ति न हो। वह कार्यदशामें भी निर्भ्रान्त है। कहा भी है—'ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिसमें संवित् नहीं रहती। अतएव योगिगण चिद्घनस्वरूपकी ही उपासना करते हैं। यदि योगी पूर्ण प्रबुद्ध न हो तो भी कार्यके आदि-अन्तमें संवित्का अनुभव होता है। कार्यकी पहली अवस्था और अन्तिम अवस्था चिन्मय ही होती है। बीचमें कार्य संविद्रूप होनेपर भी अन्य रूपसे भासता है। इसका यह अभिप्राय भी हो सकता है कि आदि, अन्त, मध्य, जाग्रत्, स्वप्न सर्वत्र प्रबुद्ध योगीको संवित्की ही स्पष्ट उपलब्धि होती है।

यह परमात्मा योगीके लिए कहाँ और कैसे है ? देखिये—

ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या शक्त्या परमया युतः।
पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मयः॥ १८॥

चिद्रूप परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है और अत्यन्त उत्कृष्ट सामर्थ्यसे युक्त है। वह जाग्रत् और स्वप्नमें देदीप्यमान रहता है। उसकी शक्ति ही ज्ञान और ज्ञेय—दोनों है। इसीसे दोनों अवस्थाओंमें दो प्रकारका कार्य करती हैं। दो तरहकी उपलब्ध होती है। इन दोनों अवस्थाओंसे अन्यत्र सुषुप्ति और तुरीय—दोनों अवस्थाओंमें वह चिन्मात्र हो रहता है; क्योंकि वहाँ ज्ञेय नहीं होता, ज्ञानस्वरूप ही रहता है।

प्रश्न यह है कि जब गुणस्पन्दादि अनेक पदार्थ स्थित हैं तब उसकी उपलब्धि कहाँ ? इस शंका-कलंक-पंकका परिमार्जन किया जाता है—

गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः॥ १९॥

सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण और महान् अहंकार आदिके जो स्पन्द हैं उन्हींके निष्यन्द अर्थात् प्रवाह हैं—सुख, दुःख, मोह आदिकी तरंगें। वे सामान्य स्पन्दके अन्तर-लीन अनन्त विशेषोंका आलम्बन प्राप्त करके ही सत्तावान् होते हैं। अतएव तत्त्वज्ञ योगीके स्वरूपमें उनसे कोई व्यवधान नहीं पड़ता। वे योगीके विरोधी नहीं, स्वरूपके विलास हैं। जैसे पुष्पका रस उसके स्वभावका आच्छादक नहीं है, वैसे स्पन्दके निःष्यन्द अरविन्दके मकरन्दके समान ही हैं। एक सिद्धका वचन है—

'प्रकाशके महलमें प्रकाश्य वस्तु नहीं दीखती। अनन्त संविद्‌में संवेद्य भी संविद्रूप है।' 'मतंग पारमेश्वर'में भी यही है—'शिवसे लेकर पृथिवीपर्यन्त यह जो विस्तीर्ण मार्ग है, वह चिद्‌वस्तुसे सिद्ध होता है और उसीसे जाना जाता है। गीतामें मायाको, 'दैवी' कहनेका यही अभिप्राय है।'

अज्ञके लिए तो—

अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि ॥ २० ॥

मूढ़ पुरुषके लिए ये ही स्पन्द-निःष्पन्द चित्स्वरूपके आच्छादक बन जाते हैं, क्योंकि वह मूढ़बुद्धि पुरुष अपनेको गुणात्मक ही देखता है, शुद्ध-बुद्ध नहीं। कहा भी है—'जैसे बालक स्वच्छ शीशेको अपने ही श्वासोंसे मलिन कर देता है, वैसे ही अज्ञानी अपने विकल्पोंसे विज्ञानको मलिन कर देता है। इसका फल यह होता है कि वे जन्म-मरणके संसारप्रवाहमें भेज देते हैं। उस प्रवाहमें अत्यन्त क्लेश है और उससे पार पाना कठिन है।' 'ज्ञानसम्बोध में' कहा गया है—'यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही आत्मशक्तिसे संचालित होते हैं, तथापि एक स्वतन्त्र है और दूसरा परतन्त्र। शुद्धबोध पुरुष विषमस्थलमें भी साक्षिवत् स्वतन्त्र रहता है। मन्दबोध पुरुष अन्धेके समान समस्थलमें भी परतन्त्र होता है।'

अब अज्ञानीके संसारसे पार जानेका उपाय बताते हैं—

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥ २१ ॥

स्पन्दके निःष्पन्द अज्ञानीको सर्वदा पतित बनानेके लिए उद्यत रहते हैं। अतः अपने विकस्वर स्वभावसे स्पन्दतत्त्वका विवेक करनेके लिए सर्वदा उद्योग करते रहना चाहिए। इसीसे स्वरूपको अभिव्यक्ति होती है। सचमुच अपना स्वरूप उद्योक्ता है, विकस्वर है, शिव है। शिवसूत्रोंमें उद्योगको ही 'शिव' कहा है। इसलिए जाग्रत्-अवस्था अर्थात् व्युत्थान-दशामें शीघ्र-से-शीघ्र उसे अपने स्वरूपका अधिगम हो जाता है। जो लगा रहता है, वह जागता रहता है। इसका विवेचन यों है—मैं हूँ शुद्धबोधैकस्वरूप। यह जगत् मेरा विस्तार है, विलास है, जृम्भा है, मुसकान है। क्या सुन्दर कहा है—'यह सब मेरा वैभव है। ऐसा

ज्ञान हो जानेपर वह विश्वात्मा हो जाता है और विकल्पोंके विस्तारमें भी वह महेश्वर ही रहता है।' पञ्चरात्र में कहा गया है—'जब आत्मामें सर्वभूतोंको देखता है और अपनेको उनमें देखता है तथा उनसे अपनेको पृथक् देखता है, तब जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है।' दूसरे स्थानपर भी ऐसा ही कहा है—'अजो! तुम निर्मल, अनन्त, एकमात्र बोधस्वरूप हो। भव्यबुद्धि सावधान पुरुष तुम्हें ज्ञाता और ज्ञेय—दोनोंमें ही देख लेता है।' तत्त्वार्थ-चिन्तामणि'में यह वचन है—'विवेकके द्वारा विशाल मोहान्धकारका विदलन हो जानेपर योगीके स्वरूपका उदय हो जाता है। अनात्मभावका तिरस्कार हो जानेके कारण वह प्रत्येक दशामें अपने परमानन्दस्वरूपमें मग्न रहता है। वह द्रष्टा-दृश्यके विवेकका रहस्य समझ गया। संसारका ऐसा कोई क्षण-कण और कोण नहीं है, जहाँ वह नहीं है। भवरोग मिट गया। उसके व्युत्थानमें भी समाधि है। सच्ची मोक्ष-लक्ष्मी तो उसकी पुत्री है।'[1]

जाग्रत्-दशामें ही स्वभावका स्फुरण हो जाता है—यह बात अज्ञानियोंकी समझमें नहीं आती। इसलिए अब उन अवस्थाओंका वर्णन करते हैं जिनमें स्पन्द स्पष्ट परिलक्षित होता है—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन्।
धावन्वा यत् पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः॥ २२॥

द्वेषसे अमर्श उद्दीप्त होनेपर अत्यन्त क्रुद्ध मनुष्य पहले जिस अवस्थापर पहुँचता है, उसकी चित्तवृत्ति जिस स्फार या उन्मुखताका स्पर्श करने लगती है; शुचिरागत प्रियव्यक्तिके दर्शन आदिसे हर्ष प्राप्त करके जिस परमानन्दको ग्रहण करता है; अनेक कर्तव्योंके कल्लोलमें फँसकर, 'यह करूँ अथवा वह करूँ, इस प्रकार परामर्श करके जब निश्चयकारिणी दशामें आता है; अपनी प्रेयसीके बुलानेपर अथवा संभ्रमवश दौड़कर जिस अवस्थापर आरूढ़ होता है; उसमें आत्मस्वभाव स्पन्द स्पष्ट उपलब्ध होता है। जब जहाँ, जिस अवस्थामें सब शक्तियोंका

१. इत्थं तत्तादनल्प - मोहदलन - प्राप्तस्वरूपोदयो
योगी नित्यमनात्मभावविरहात् स्वात्मस्थितो निर्वृतः।
दृश्य-द्रष्टृविवेकविद्भुवपदव्यापी विमुक्तामयो
व्युत्थानेऽपि समाधिभाग् भवति सन्मोक्षश्रियः कारणम्॥

लय हो जाता है, वहाँ स्पन्दतत्त्वका स्पष्ट उदय देखनेमें आता है। इसका कारण यह है कि क्रोधसे सारी दुःखभूमियाँ प्रकट हो जाती हैं और हर्षसे सारी दुःख-भूमियाँ। 'क्या करूँ ?', 'क्या न करूँ ?' इससे मोहजन्य सारी इन्द्रियवृत्तियाँ दौड़ने लगती हैं। इसीसे 'विज्ञान-भैरव'में कहा गया है—'क्रोधादिके अन्तमें, भयमें, शोकमें, शून्य अरण्यमें, किसी कामकी प्रवृत्तिको एकाएक रोक देनेपर, घनघोर संग्राममें, कुतूहलमें, क्षुधा-पिपासाका अन्त होनेपर ब्रह्मसत्ता सर्वथा निकट रहती है, पहचानी नहीं जाती।' 'रहस्य-स्तोत्र'में कहा गया है कि क्रोध एवं हर्षकी विवशताकी पराकाष्ठामें, कर्तव्याकर्तव्यके विमर्शमें, एक भावका स्पर्श होनेसे पूर्व जो दशा रहती है, वहाँ स्पन्द अपने अन्दर बलका सञ्चार करता रहता है। इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म त्रुटिमात्र कालमें सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताका स्पर्श होने लगता है। (सुईसे कमलकी एक पंखुड़ी छेदनेमें जितना समय लगता है उसको त्रुटि कहते हैं) एक त्रुटिके लिए मनुष्यमें सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता, सर्वेश्वरताका उदय हो जाता है। गुरुके उपदेशसे आदरपूर्वक इन सिद्धान्तोंकी आप परीक्षा कर सकते हैं।

अब इसी स्पन्दतत्त्वके जीवनमें उदय होनेके लिए उपायका निर्देश करते हैं—

यामवस्थां समालम्ब्य यदाऽयं मम वक्ष्यति।
तदवश्यं करिष्येऽहमिति सङ्कल्प्य तिष्ठति॥ २३॥
तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण सोम-सूर्यावुभावपि।
सौषुम्णेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम्॥ २४॥
तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशि-भास्करे।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः॥ २५॥

'ये हैं हमारे गुरुदेव ! ज्ञानियोंके शिरोमणि ! ये अनिर्वचनीय सद्वस्तुका भी निर्वचन कर सकते हैं। इनकी आज्ञाका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। ये जो कुछ मुझसे कहेंगे, मैं अवश्य वही करूँगा'—यह दृढ़संकल्प धारण करके साधक जब उन्मुखतारूप वृत्तिका आलम्बन लेकर स्थिर हो जाता है, तब उसकी उस अवस्थामें ऊर्ध्वमार्गसे विषुवत्-प्रवाहके द्वारा सोम, सूर्य अपान, प्राण, मन-प्राण, सुषुम्नाके मार्गमें, जो कि पर शक्तिका मार्ग मध्यम नाड़ी है, विलीन हो जाते हैं। पता नहीं, गुरुदेव क्या आज्ञा देंगे ? यह कुतूहल वासनाओंको पीस डालता है।

उस समय साधक ब्रह्माण्डस्थित शरीर-विषयका परित्याग करके 'देहाहंभाव'से मुक्त हो जाता है। कहा भी है—'देहमें अहंप्रत्ययका द्वीप भग्न हो गया। अनन्त संवित्‌रूप निर्मल समुद्रसे एकता हो गयी। इन्द्रिय-समूह अन्तर्मुख हो गया। बस, तुम एक अद्वितीय विश्वात्मा हो।' ऐसी अवस्थामें महाव्योम अर्थात् परचिदाकाशमें सूर्य और चन्द्रमा, ज्ञान और क्रिया—दोनों शान्त हो जाते हैं। स्वभावमें अभिव्यक्ति नहीं होती। स्वप्न, जाग्रत् आदिके दृश्योंसे मोह नहीं होता। वह प्रबुद्ध और अनिरुद्ध हो जाता है, मानो सुषुप्ति हो। किन्तु उस समय वह प्रबुद्ध और आवरणरहित ही होता है।

'रहस्य-स्तोत्र'में कहा है—'बड़े-बड़े आकाशगामी सिद्ध पुरुष भी, जिन्होंने अपनी आत्मसंवित्‌में सूर्य-सोम अर्थात् ज्ञान-क्रियाको लीन कर लिया है, व्योम-मार्गका उल्लंघन कर चुके हैं और अपनी दृष्टिमें भावनाका अञ्जन लगाये हुए हैं, उनमें भी किसी-किसीको तुम्हारे स्वरूपका दर्शन होता है।' 'निरञ्जन-तत्त्वोदय'में प्राणापानकी प्रशान्तिको ही आत्मदर्शनकी युक्ति बतलाया गया है। 'भोग-मोक्ष-प्रदीपिका'में भी कहा है—'हृदयमें सोम-सूर्यके सञ्चारसे कामसिद्धि होती है और उनकी शान्तिसे निरञ्जन-तत्त्वकी। यही शास्त्रका सर्वस्व है। इसी अवस्थामें सहज मन्त्रका उदय होता है।' 'बौद्धायन-संहिता'का वचन है—'चन्द्रमा शान्त हो जाय और सूर्यका उदय न हो, उस समय सब देवताओं (इन्द्रियों)का विलय और सब मन्त्रोंका उदय होता है।' 'मालिनी-विजय'का भी यही मत है—'जिस अवस्थामें जीव अन्याधार विनिर्मुक्त होकर स्वरूपमें लीन होता है, वही सम्पूर्ण मन्त्रोंकी उत्पत्तिका क्षेत्र (स्थान) है।' और भी 'जब पुरुषका चित्त धर्माधर्मके सन्धिस्थलमें निरुद्ध हो जाता है तब वह जो बोलता है वही मन्त्र हो जाता है। स्वरवर्ण-मातृकासे बनाये मन्त्र ही मन्त्र नहीं होते।'

अतएव—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः॥ २६॥

मन्त्रमें चार बातें मुख्य होती हैं—बीज, पिण्ड, पद और नाम। उनका धर्म है—मनन और त्राण। उनका बल है—निरावरण चित्‌का

उल्लास अर्थात् पराशक्ति। उसी शक्तिको लेकर मन्त्र सहज नादशक्तिसे उद्‌बोधित होकर प्रदीप्त होते हैं। उनसे सर्वज्ञता आदिका बल आ जाता है। जब सिद्धमन्त्री उनका प्रयोग करता है, तब वे अनुग्रह और निग्रह करनेमें समर्थ होते हैं। जैसे एक शरीरधारी अपने कर-चरणोंका प्रयोग करता है, ठीक वैसे ही आत्माके परतत्त्वका अवबोध होनेके कारण मन्त्रज्ञ इच्छामात्रसे मन्त्रोंका यथेष्ट प्रयोग कर सकता है। 'त्रिकसार'में कहा है—'वर्णातीत निराकार परम तत्त्वका बोध हो जानेपर मन्त्र मन्त्राधिपोंके साथ किंकर हो जाते हैं, अर्थात् वशीभूत हो जाते हैं।' यदि ऐसा नहीं है तो बड़े प्रयत्नसे प्रयोग करनेपर भी वे कठपुतलीके समान निष्फल-चेष्टा ही रहते हैं; क्योंकि सत्यसंकल्प चिच्छक्तिके बलका स्पर्श न होनेके कारण वे केवल वर्ण-मात्रा अर्थात् जड़ अक्षर ही रहते हैं।

'हंस-पारमेश्वर'में कहा है—'केवल वर्णरूप मन्त्र पशुभावमें स्थित हैं। सुषुम्ना-मार्गसे उच्चारण करनेपर वे पशुपति हो जाते हैं।' वस्तुतः शाक्त-मार्गमें ही मन्त्रोंकी सफलता है। 'तत्त्वरक्षा-विधान'में कहा गया है—'आत्मसंवित् अथवा परमपदमें मन्त्रका प्रयोग नहीं करना चाहिए; क्योंकि वह शक्ति और क्रियासे रहित है। शक्तिके विषयमें ही मन्त्रका प्रयोग करना चाहिए। वही जप सफल होता है।' 'श्रीवैहायसी'में कहा है—'सन्धिस्थलमें नादोर्ध्वध्वनिसे बोधित जप करना चाहिए जैसे, सूत्रमें मणि गुथे हुए होते हैं; वैसे ही शक्तिके ताने-बानेसे बने हुए मन्त्राक्षरोंका ध्यान करना चाहिए। वह शक्ति परम व्योममें रहती है और परमामृतसे समृद्ध है। उक्त रीतिसे जप करनेपर मन्त्र अपने स्वरूपको प्रकट कर देता है, अपनेको आवृत नहीं रखता।' 'श्रीकालपरा'में वचन है—'शब्द नादात्मक है, अतः उसके साथ प्रत्यय, संवित् संलग्न रहकर बढ़ाती रहती है। मन्त्रबोधके स्वरूपमें स्थित संवित् अभिन्न है। अतः वह आत्मबोध भी करा देती है। 'संकर्षण-सूत्र'में वचन है कि 'चिद्रूपता स्वात्मैकनिष्ठ है। भाव एवं अभाव उसकी दशाएँ हैं, परिष्कार हैं। वह स्वसंवेदन संवेद्य है। प्रकृतिसे अतीत भी वही, प्रकृतिका विषय भी वही। यही मन्त्रोंका प्रत्ययात्मक कारण है। मन्त्र बाहर और भीतर वर्णरूपसे प्रकट होते हैं। वे शाश्वत पदरूप होते हैं। वे मनुष्यके कर-चरणादिके समान हैं। वीर्यका योग होनेपर किसी भी कालमें प्रयोग करनेपर वे सिद्ध होते हैं।' जब शुद्ध बोधात्मक

रूपसे अन्तर्बाह्य दोनोंमें उदित मन्त्रका एकबार भी जप किया जाता है, वह लक्ष बार किये हुए जपके समान है। 'जयसंहिता'में कहा है—'एक ही मन्त्रनाथ अन्तर और बाह्य—दोनोंमें उदित होकर एक हो जाता है तब उस जपको लक्षसंख्यासे भी अधिक समझना चाहिए।

इस प्रसंगमें युक्तिसे मन्त्रिशक्तिका निरूपण किया गया और उसका प्रथम उदय भी बतलाया गया। अब उसका विलय बताते हैं—

> तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः।
> सह साधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः॥ २७॥

ये मन्त्र साधकचित्तकी प्रवृत्ति-निवृत्तिके निमित्तसे अर्थात् उसकी आधारभूत इच्छासे फिर लीन हो जाते हैं—उसी शक्तिमान् स्वस्वभावमें। क्योंकि ये स्वस्वभावके अनुगामी और शक्तिरूप हैं। यही बात 'कालपरा'में कही गयी है। पर अक्षररूप वृक्षमें अनेक शक्तियाँ हैं। उनके विवर्त शक्तिके रूपमें वर्णोंमें प्रकट होते हैं। मुखके सम्बन्धसे उन्हें वरण करते हैं। वे शक्तियाँ कृतकृत्य होनेके कारण स्वयं शान्त हैं और निरञ्जन अर्थात् कालुष्यरहित हैं। अथवा निरञ्जनतत्त्वसे अनुप्राणित हैं। यही कारण है जो शिवशंकरमें धर्म हैं वे ही मन्त्रमें भी, अर्थात् मन्त्र भी सर्वज्ञ और सर्वकर्ता हैं।

साधक-चित्तमें मन्त्र लीन हो जाते हैं, यह कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मा ही शिव है। अब इसको सयुक्तिक सुनिये—

> यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवः।
> तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः॥ २८॥
> तेन शब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न यः शिवः।
> भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥ २९॥

यह जीव-आत्मा ही सर्वमय, सर्वात्मक विश्वरूप है; क्योंकि यह बोद्धा है। कहा भी है—'तत्त्वज्ञान होते ही सब चिन्मय हो जाता है। वेद्यका ऐसा कोई भाग नहीं है जो वेदकसे बाहर हो। वेद्य वेदक है। वेदक संवित् है। संवित् आत्मा है।' तब तो सबसे बड़ा यथार्थ यही है कि आत्मा ही जगत् है। छान्दोग्य-श्रुतिमें स्पष्ट कहा है—'इदम्के रूपमें प्रतीयमान यह सब जगत् आत्मा ही है। आत्मामें नानात्व किञ्चित् भी नहीं है।'

एक और बातपर भी विचार कीजिये। सर्वभावोंका समुद्भव आत्मासे ही होता है। संविद्के आरोहणसे ही परा, पश्यन्ती आदि वाणियोंका उदय होता है और सत्ता सिद्ध होती है। प्राचीन आचार्योंका वचन है—'जान लिया, सबके कारण तुम्हीं हो; क्योंकि घटमें मृत्तिकाके समान सबमें तुम्हारा अन्वय है। जब संवित्के बिना विश्वकी सिद्धि ही नहीं होती, सम्पूर्ण विश्व संविद्-समन्वित ही है, तो असंवित् कारण कैसे हो सकती है? संवित् ही सत् है, सत् ही संवित् है। संवित्की उपासना किये बिना वही सर्व-सत् है—यह अनुभव नहीं हो सकता।' और भी—'सभी भाव तुम्हारे ही स्वरूप हैं, इसमें किसीका विवाद नहीं है; क्योंकि सब प्रकाशित होते हैं। क्या कहीं अप्रकाश भी प्रकाशित होता है?' और भी—'तुम प्रकाशक एक हो। सर्जन, भाषण और बोधन—ये तीनों तुम्हारे प्रकाश हैं। तुम अन्य प्रकाशोंसे व्यतिरिक्त हो, जैसे दूसरे प्रकाशक सूर्यादि। परन्तु तुम्हारे प्रकाशके उदयके बिना कोई दूसरा प्रकाश प्रकाशित नहीं हो सकता। श्रुति, पञ्चरात्र भी तो यही कहते हैं कि वहाँ सूर्य-चन्द्रादिका प्रकाश नहीं है। उसीके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित हो रहा है।

संवित् सर्वमय है—इसका एक दूसरा कारण बताते हैं। जितने संवेद्य हैं, वे संवेदनरूप अनुभवके द्वारा ही संविदित होते हैं। उनसे तादात्म्य होता है, तद्भावरूपता होती है और अभेदका संवेदन होता है। 'स्वात्म-सप्तति'में कहा गया है—सभी वस्तुएँ ज्ञान-स्वभावका ही विषय होती हैं और उसके साथ तादात्म्यको प्राप्त हो जाती हैं। जीव ज्ञानस्वरूप है, अतः वह सर्वमय है।' 'संविद्-प्रकरण'में कहा गया है—'अग्निसे समाविष्ट सब अग्निरूप ही दीखता है, वैसे ही ज्ञानसे समाविष्ट सब ज्ञानरूप ही देखिये। 'आगम-रहस्य'का वचन है—ज्ञानसे आकारवर्ग भासता है, इसलिए यह विश्वमयी विभूति ज्ञान ही है। तुम्हीं विश्वात्मक हो, यह केवल शास्त्रसिद्ध ही नहीं है, आत्मसंवित्से संविदित होनेके कारण अनुभवसिद्ध भी है।'

संविद् ही प्राणद्वारा वाग्रूप धारण करती है। वही वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परारूप है। इन चारों वाणियोंका वक्ता निर्विशेष परम-स्थायी और नित्योदित निजाकृति है। सूर्यके समान तेजका विस्तार

करता हुआ वह हृदयमें प्रकाशित होता है और चिदिच्छा-शक्तिसे संबुद्ध है और आत्मबल ही उसका बल है। 'प्रत्यभिज्ञा'का वचन है—'प्रत्यवमर्शात्मा चिति ही सरस परावाक् है। परमात्माका यह स्वातन्त्र्य ही मुख्य ऐश्वर्य है। वह सर्वदेशकालमें स्फुरती हुई महासत्ता सबका आधार है और परमेश्वरका हृदय है।' उसीका रूप है—अन्तःसंकल्प। उसमें शब्द और अर्थ—दोनों एक साथ स्फुरित होते हैं। इसलिए दोनोंका अभेद ही प्रसिद्ध है। ग्रन्थकारने हो कहा है—'शब्दानुवेधके बिना प्रत्ययका उदय नहीं होता।' यह पहले ही कह चुके हैं कि वाक्‌का मूल संवित् है। और भी—'जैसे निजात्मा संवित्से सम्पूर्ण जगत् अनुविद्ध है, वैसे ही संवित्से सम्पूर्ण वाणी अनुविद्ध है।'

योगिनाथने भी कहा है—'परतत्त्वमें किसी भी वस्तुकी सिद्धिके लिए वाणीको स्वीकार करना पड़ता है; क्योंकि रूपके अनुसन्धानसे वस्तुका निश्चय होता है। उसकी उन्मुख वृत्तिसे ही वस्तुके सद्भावकी कल्पना होती है। उसके बिना किसीको आत्मलाभ नहीं हो सकता; क्योंकि उस अवस्थामें केवल स्वरूप-ज्योति रहती है। वहाँ विभाग और क्रमकी अपेक्षा नहीं होती। उसका रूप योगिगम्य होता है। उसी उन्मुखतासे चिन्तनमयी वाग्धारा बनती है। तदनन्तर विशिष्ट शब्दके विषयकी स्फुरणात्मिक विवक्षा होती है। इसके बाद वह शब्दका रूप धारण करके अर्थको प्रकट करती है। इसलिए संवित्प्रसूत वाणीके बिना किसी अर्थका अवधारण नहीं हो सकता।' इस प्रकार सर्वप्रकाशक संवित्स्वरूपकी प्रभाके समान प्रकाशनशक्ति अन्तस्संकल्परूपा वाणी बनकर फिर वर्ण, पद, वाक्यको जीवन-दान करती है और पदार्थके रूपमें बाहर दीखती है। यह प्रबुद्धोंके लिए स्वानुभवसिद्ध है। कहा भी है—'चिदात्मा देव अपने अन्तःस्थित अर्थको स्वेच्छासे बाहर प्रकाशित करता है ठीक वैसे ही, जैसे योगी बिना उपादानके ही वस्तुको प्रकट करता है। अन्तःस्थ भावोंका जो स्वामी है वही उन्हें प्रकाशित करता है; बिना उसकी इच्छा, अमर्श कुछ भी प्रवृत्त नहीं हो सकते।' और भी—'जो कुछ बाहर दीख रहा है वह सब तुम्हारे ही अन्दर है। आँख बन्द करके जैसे सब कुछ भीतर देखा जा सकता है, वैसे ही यह सारा प्रपञ्च है।'

इस प्रकार स्वभाव ही सर्वरूपमें स्थित है। इस सर्वात्मक स्वभावके कारण शब्द और अर्थकी चिन्ता करनेपर ऐसी कोई अवस्था नहीं मिलती जो शिवस्वभावको प्रकट न करती हो अर्थात् चित्स्वरूप

न हो। संविद्‌में सब एक है, उसीमें सबका अस्तित्व है। कहा भी है—'जिन-जिन कारणोंसे भाव-नदियाँ अलग-अलग बहती हैं, उन्हीं-उन्हीं कारणोंसे बोध-समुद्रमें एक हो जाती हैं।' ग्रन्थकारने पहले ही कह दिया है कि शारीरिक, शाब्दिक या मानसिक ऐसा कोई व्यवहार नहीं है, जिसके प्रारम्भमें आप विराजमान न हों। अतः ठीक ही कहा गया है कि संविदात्मा भोक्ता अर्थात् अनुभविता ही भोग्य-भावसे अनुभाव्यके रूपमें सर्वदा और सर्वत्र स्थित है। उससे अलग भोग्य नामका कोई पदार्थ नहीं है। आइये, श्रुतिका गान करें—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः।

अन्न भी मैं, उसका भोक्ता भी मैं। 'तत्त्वविचार'में देखिये—'स्वभावस्थित भाव ही परस्पर भोक्ता और भोग्यके रूपमें सम्बद्ध होते हैं। उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। ज्ञानके ही ये नाम हैं—द्रष्टा, अनुभविता, स्मर्ता, ग्राहक, भोक्ता, वेदक, कर्ता, उपलब्धा, संवेत्ता और ज्ञाता।' इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान ही ज्ञेयके रूपमें चमकता है, फैलता है। कहा भी है—'आपसे भिन्न जो भाव दिखायी पड़ते हैं, वे हैं तो अपने आत्मा ही, परन्तु मुग्धतावश भोग्यके रूपमें मालूम पड़ते हैं। मूर्खजन पशुके समान उसके भोगके लिए संसारमें भटकते हैं। जो इन दृश्य भावोंको आपके वैभवके रूपमें देखते हैं, वे आपके समान ही प्रभु हो जाते हैं और विश्वको अपने वशमें कर सकते हैं।' 'ज्ञानसम्बोध'-में वचन है—'ज्ञान ही तीन रूपोंमें स्थित है—ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान। **ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः** गीताका यह वचन सर्वथा यथार्थ है।' उत्पलाचार्य कहते हैं—'द्रष्टा ही है। अज्ञानिजन इस दृश्यको अध्यात्मरूपसे नहीं देखते। शीशेमें प्रतिबिम्बके समान यह जगत् द्रष्टा और दृश्यके रूपमें दो प्रकारसे भास रहा है। बोधानुवेधसे ही घट-पटादि बाह्य सद्भाव प्राप्त करते हैं, अतः ज्ञानाद्वैत ही सत्य है। कहीं भी ज्ञेयकी सत्ता नहीं है।'[1]

---

१. द्रष्टैवास्ति न दृश्यमेतदबुधैरध्यात्मना ज्ञायते
आदर्शप्रतिबिम्बवज्जगदिदं भिन्नं द्विधा भाति यत्।
सत्तां यान्ति घटादयो बहिरमी बोधानुवेधात् सदा
ज्ञानाद्वैतमतः स्वतोऽस्ति न पुनर्ज्ञेयस्य सत्ता क्वचित्॥

'आत्म-सप्तति'में कहा गया है कि 'यह जो कुछ दीख रहा है, वह दर्शनसे भिन्न नहीं है। दर्शन द्रष्टासे भिन्न नहीं है अतः द्रष्टा ही जगत् है।' 'संकर्षणसूत्र'में भी—'जिससे यह विश्व दीखता है, जो सारे विश्वका द्रष्टा और जो चराचर रूपमें दृश्य हो रहा है, उसीका नाम विष्णु है।' 'जाबालिसूत्र'में भी—'द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, जिसके चैतन्यस्वभावका कभी लोप नहीं होता, वही जगत्‌की उत्पत्ति-स्थित-प्रलयका एकमात्र कारण है—भगवान् वासुदेव अर्थात् आत्मा।' 'पंचरात्र-उपनिषद्'में देखिये—'ज्ञाता-ज्ञेय, वक्ता-वाच्य, भोक्ता-भोग्य सब वही है।' इसी ग्रन्थमें कहा है—सर्वान्तर, सर्वबाह्य, स्वयंज्योति, स्वसंबोध्य और स्वयंभू वही है।' श्रुति भी कहती है—'वही ज्ञाता, वही ज्ञान।' वही मन्त्रात्मा है, अतः मन्त्र भी शिवरूप ही हैं।

प्रशंसा करके इसकी स्वीकृतिका उपाय बतलाते हैं—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥ ३०॥

इस श्लोकमें 'वा' शब्दका प्रयोग स्वार्थमें ही है। अभिप्राय यह कि बहुत कहाँतक कहें—ऐसा ज्ञान जिसको हो गया है वह पुरुष अर्थात् जिसको सब अपना स्वरूप ही अनुभव होता है—मन्मय ही दीखता है; वह समग्र जगत्‌को अपना क्रीडाराम, खेलनेका बगीचा देखता है; क्योंकि वह नित्ययुक्त, नित्यमुक्त है। बन्ध-कारण अज्ञान मिट गया और प्रबोधकी प्राप्तिसे वह जीवित ही ईश्वरवत् मुक्त है, इसमें कोई सन्देह नहीं। उपपत्ति और उपलब्धिके द्वारा यह सिद्ध है, अतः इसमें भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए। कहा भी है—आत्मबोध सम्यक् विश्रान्ति हो जानेपर जो अलुप्तानुभव स्थित है वह तत्त्ववित् पुरुष विषयभोग करता हुआ भी जीवन्मुक्त है।

जिन लोगोंका ऐसा कहना है कि उत्क्रान्तिके बिना मोक्ष नहीं होता, उनका पक्ष ठीक नहीं है। इसके लिए कहते हैं—यदि स्वभावका अनुभव हुए बिना ही केवल उत्क्रान्तिके बलसे पुरुषको कैवल्यकी प्राप्ति हो जाय तो जो मूर्ख फाँसीपर टँगकर मरता है, उसको भी मोक्ष प्राप्त हो जाय। कहा भी है—'गुणवासनावासित पुरुष भी प्रलयकालमें विदेह होनेपर भी बद्ध ही रहते हैं। विशुद्ध ज्ञानके आश्रयसे शरीरधारी भी मुक्त हो जाते हैं।' 'ज्ञानगर्भ'में कहा है—हे 'त्रिलोकीनाथ! जो मनुष्य

आपकी उपासना करके किल्बिषरूप उपद्रवोंका नाश कर चुके हैं, उन्हें बहुत शीघ्र ही अद्वैतभावनाके आवेशसे यह अनुभव प्राप्त हो जाता है कि 'मुझमें ही यह सकल जगत् स्थित है। मैं ही सब हूँ और मैं ही सर्वत्र हूँ।'[1] गीतामें—'सबमें मैं और मुझमें सब' यह प्रसिद्ध ही है। 'पञ्चरात्र' में भी उल्लेख है—'प्रज्ञाके महलपर चढ़कर पुरुष अशोच्य हो जाता है। वह प्रज्ञावान् पुरुष शोकग्रस्त लोगोंको ऐसे देखता है, मानो पहाड़के ऊँचे शिखरपर स्थित पुरुष नीचेकी वस्तुको देख रहे हों।' वस्तुतः देखा जाय तो यहाँ नित्य उद्युक्तता—उन्मुक्तताको ही उपाय सूचित किया गया है। यह बात पहले कही भी जा चुकी है।

मन्त्रात्मा शिवभावका उदय दूसरी युक्तिके द्वारा भी समझाते हैं—

अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायिचेतसि।
तदात्मतासमापत्तिमिच्छतः साधकस्य वा॥ ३१॥

पूर्वोक्त मन्त्रात्मा ध्येयका यही ध्याताके चित्तमें उदय है। जो साधक या ध्याता मन्त्रात्मासे एकत्व चाहता है, उसकी यही तदात्मता अथवा ध्येयस्वरूपापत्ति है। 'विश्व-संहितामें' कहा गया है—'जब चित्त ध्येयमें लीन हो जाता है, तब उसे ध्यान कहते हैं। इसमें ध्येय प्रत्यक्ष हो जाता है और ध्याता तन्मय हो जाता है।' मूल श्लोकमें 'इच्छतः'के स्थानपर 'ऋच्छतः' पाठ भी माना जाता है। उसका अभिप्राय यह है कि ध्येयका चिन्तन करते-करते जो उसके साथ तदात्मतापत्ति है अर्थात् एकता है, वही उसका उदय है। ग्रन्थकर्ता 'इच्छतः' और 'ऋच्छतः' दोनोंका आशय ठीक मानते हैं; क्योंकि मन्त्रोच्चारणकी इच्छासे मन्त्रदेवताके साथ जो तादात्म्य है, वह वस्तुतः संवेदन द्वारा उससे एकता ही है। मन्त्रन्यास द्वारा जीवनमें देवताका आविर्भाव ही होता है।

अब इस व्याप्तिका फल बताते हैं—

इयमेवाऽमृतप्राप्तिरयमेवाऽऽत्मनो ग्रहः।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी॥ ३२॥

---

१. मयि स्थितमिदं जगत् सकलमेव सर्वत्र वा
स्थितोऽहमिति-धारणाद्वितयभावनावेशतः।
जगत्त्रितयनाथ तानतिचिरेण सम्प्राप्यते
नृभिस्तव सपर्यया दलितकिल्बिषोपप्लवैः॥

यह जो स्वरूप-संवेदन है, यही आत्माकी अमृतत्व-प्राप्ति है। जरा-मरणकी परम्पराका विच्छेद होनेसे जो अपुनर्भवता है, उसे हम मुक्ति नहीं कहते। दुग्ध-समुद्रसे स्वतः उद्भूत यही आत्माका अनुग्रह है। यही निर्वाण-दीक्षा है और यही परमात्मासे मिलन है। 'मोक्षधर्म'में कहा है—'सब सङ्कल्पोंको छोड़कर सत्त्वमें चित्तको निविष्ट कर देना चाहिए। जब चित्त सत्त्वमें विलीन हो जाता है, तब कालपर विजय प्राप्त हो जाती है।' 'आत्मसंबोध'में भी कहा है—'स्वभाव-संवित्का ज्ञान ही मनुष्यके लिए भवसे मुक्तिका हेतु होता है। एकबारका अमृतपान मृत्युग्रस्तको अमर बना देता है।' 'दीक्षा' पदका अथ यह है—ज्ञानसद्भावका दान और अखिल मलका क्षपण। यह होता है, बोधानुवेधसे। दीक्षामें द से दान और क्ष से क्षपण अर्थ बोधित होता है।

इस प्रकार अकृत्रिम स्पन्दतत्त्वका उदय वर्णन करके. अब उसीसे मन्त्रोदय, उसका प्रभाव और उसकी विभूतियोंका वर्णन करते हैं। स्पन्दतत्त्वका उदय होनेपर जाग्रत्-अवस्थामें ही निजभावकी प्राप्ति होनेपर स्वातन्त्र्य हो जाता है। वैसा ही स्वप्नमें भी होता है, यह बतलाते हैं—

यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रत्यर्थान् हृदि स्थितान्।
सोम-सूर्योदयं कृत्वा सम्पादयति देहिनः॥ ३३॥
तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थान् प्रणयस्यानतिक्रमात्।
नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थितवद् यं प्रकाशयेत्॥ ३४॥

जैसे आत्मस्वभावरूप स्रष्टा जाग्रत्-अवस्थामें अपनी इच्छासे ही प्रेरित होकर हृद्देशस्थ अभिमत अर्थका सम्पादन करता है स्वबलके आश्रयसे। भला, यह कैसे ? सोम-सूर्य, अपान-प्राण और नेत्रोंको उदित करके अवधानपूर्वक इच्छित पदार्थको ही देखता है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यके सामने असंख्य वस्तुएँ रहती हैं—गणिका, नट, मल्ल, दर्शक आदि। उनमें-से वह जिस वस्तुको देखना चाहता है उसीको देखता है, क्योंकि उसीमें स्वरूपका अनुप्रवेश होता है। ठीक इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी अपने स्वभावमें स्थित रहकर हृदयमें अभीष्ट पदार्थोंको ही स्पष्ट करके देखता है; क्योंकि आत्मसंवित् इच्छाका अतिक्रमण नहीं करती। प्राचीन वचन है—'दृढ़ अभीष्ट-विषयक इच्छाको छोड़कर दूसरी

वृत्ति नहीं होती।' यह कहना चाहते हैं कि इच्छानुगामी ही पदार्थ सृष्टि-में होता है, स्वतन्त्रया किसी पदार्थका उदय नहीं होता। पदार्थ इच्छाका अतिक्रमण नहीं कर सकता। 'रहस्य-स्तोत्र'में कहा है—'बुद्धि विस्मृत पदार्थका स्मरण करके अशेषवित् आत्माके सम्मुख रख देती है। बुद्धि जो-जो रसपूर्वक अभ्यर्थना करती है, आत्मसंवित् स्वप्नमें भी उसका उल्लंघन नहीं करती।' सिद्धकी वाणी है—'चिदाकाशमें स्थित होकर जो अनुसन्धान करता है वह अखण्डित ही देखता है।' 'ज्योतिः-शास्त्र'में भी कहा गया है—'मनुष्य जिस-जिस इन्द्रियार्थसे अनुविद्ध होकर शयन करता है, स्वप्नावस्थामें उन्हीं-उन्हीं पदार्थोंके कर्म देखता है।'

अबतक स्वप्न-स्वातन्त्र्यके वर्णनके द्वारा युक्तिसे सुषुप्तिकालीन आवरणतककी कल्पनाका निषेध किया। अब यह कह रहे हैं कि स्वस्थ स्वरूपस्थ पुरुष ही जाग्रत्-स्वप्नादि अवस्थाओंमें स्वातन्त्र्य-लाभ करता है। स्वरूपस्थित हुए बिना स्वातन्त्र्य-लाभ नहीं होता।

अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात् सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः।
सततं लौकिकस्येव जाग्रत्स्वप्नपदद्वये ॥ ३५ ॥

स्वरूपस्थिति न होनेपर चित्तकी चञ्चलताके कारण इच्छारूप स्वप्नादि सृष्टि स्वतन्त्र हो जायगी। स्वतन्त्र होनेका अर्थ है कि असमंजस—असंगत ही दिखायी पड़ेगी; क्योंकि सृष्टिका स्वभाव ही ऐसा है। तत्त्वका स्वभाव ही है—इच्छाओंको फैलाना। जैसे अज्ञानी पुरुषकी इच्छाएँ जाग्रत् एवं स्वप्न—दोनोंमें ही स्वतन्त्र चलती रहती हैं, वे अज्ञानजन्य नहीं हैं, संविद्का स्वभाव ही है और वे सहस्रों होती हैं। उनका स्वरूप है—सम्बद्ध एवं असम्बद्ध विकल्प। परन्तु ज्ञानीकी स्वाधीन होती हैं और अज्ञानीकी उच्छृङ्खल।

आत्माकी विभूतियोंमें स्वातन्त्र्यकी युक्तिका निरूपण करके अब ज्ञातृत्व और कर्तृत्वके सामर्थ्यकी युक्ति बतलाते हैं। उनमें-से सूक्ष्म और व्यवहित आदिमें ज्ञातृत्वकी युक्ति सूचित करते हैं—

यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः सावधानेऽपि चेतसि।
भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योगभावितः ॥ ३६ ॥
तथा यत् परमार्थेन येन यत्र यदा स्थितम्।
तत्तथा बलमाक्रम्य न चिरात् सम्प्रवर्तते ॥ ३७ ॥

जैसे दूरस्थित घट-पटादि कोई पदार्थ अस्पष्ट—संदिग्ध दिखायी पड़ता है, परन्तु चित्तको सावधान करके दूसरी ओरसे हटाकर अपने प्रयत्न-विशेषसे विचार करनेपर स्पष्ट एवं असंदिग्ध भासने लगता है, वैसे ही जो वस्तु जिस रूपसे, जिस स्थानमें, जिस समय दिखायी पड़ती है प्रयत्न-विशेषसे, विकसित संवित्से देखनेपर वही भलीभाँति स्पष्ट, असंदिग्ध और अपने निश्चित रूपमें दीखने लगती है; क्योंकि स्वरूपमें कोई आवरण नहीं रहता। पहले ही कहा जा चुका है कि आत्मबलके स्पर्शसे पुरुष सामनेवाले पदार्थके समान ही हो जाता है, इसलिए यथार्थ ज्ञान होता है। (इसीसे मिलता-जुलता अद्वैत वेदान्तियोंका अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमाताका विषयावच्छिन्न चैतन्यसे एक होनेपर यथार्थ ज्ञान होता है, उसमें बलका स्पर्श नहीं है।)

'तत्त्वयुक्ति'में कहा गया है कि 'जो विषयाधिपति है, वह जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, उसको तत्त्वत. अर्थात् आत्मसंवित्के रूपमें जान लेनेपर चराचरका ज्ञान हो जाता है।' यही कारण है कि छोटे-छोटे विषयोंका भूतकालिक या भविष्यकालिक ज्ञान प्राप्त कर लेना कोई आश्चर्य नहीं है।

इस प्रकार ज्ञानशक्तिका निरूपण करके अब कार्यकर्तृत्वके सामर्थ्यका वर्णन करते हैं—

दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते।
आच्छादयेद् बुभुक्षां च तथा योऽतिबुभुक्षितः॥ ३८॥

जो पुरुष क्षीणधातु, अशक्त, कृश एवं दुर्बल भी हो गया है वह भी अपने उत्साहात्मक बल, उद्योगको स्वीकार करके अपने कार्यमें प्रवृत्त होता है और उसे सम्पन्न करता है। निर्बल व्यक्ति भी उद्योग-बलका आलम्बन लेकर युद्धभूमिमें अपने अपूर्व शौर्यका परिचय देता है। असमर्थ भी व्यायामाभ्याससे महती शक्ति प्राप्त कर लेता है। यह उद्योग-बल आत्मसंवित्का ही बल है। भूखा मनुष्य अपने स्वभावका अनुशीलन करके बुभुक्षाको शान्त कर देता है। पतञ्जलिने योगदर्शनमें कण्ठकूपमें संयमको भूख-प्यास मिटानेका उपाय बतलाया है। संयमके बलपर मनुष्य हाथी-सरीखा बल प्राप्त कर सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मबलकी अभिव्यक्ति होनेपर शोक, मोह, जरा, मृत्यु आदि षडूर्मियोंका नाश हो जाता है।

इस प्रकार न केवल इस शरीरके सम्बन्धमें वह सर्वज्ञ हो जाता है, बल्कि सर्वत्र उसे सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है—

> अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः।
> तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात् सर्वत्रैवं भविष्यति ॥ ३९ ॥

स्व-स्वभावके द्वारा अपने इस शरीरपर अधिकार कर लेनेसे इसके विषयमें जैसे सर्वज्ञता आदि गुणोंकी प्राप्ति हो जाती है, कोई नन्हा-सा कीड़ा छू जाय तो पता चल जाता है; वैसे ही अपने स्वरूप, स्वभावपर अधिकार कर लेनेपर सर्वत्र सब कुछका ज्ञान होना शक्य है। 'ज्ञान-सम्बोध'में कहा गया है—'सब कुछ वही है; क्योंकि व्यापक है। वह स्वभावसे ही सर्वज्ञ है। 'यह पुरुष सर्वज्ञ है' इसीसे सर्वज्ञता प्रस्फुरित होती है।' और भी—'यदि सबके हृदयमें विद्यमान तुम सर्वदा सर्वज्ञ न होते तो भला, नष्ट-पदार्थविषयक स्मृति किसीको कैसे होती ? जन्म लेते ही बालक स्तनपानकी शिक्षा किससे प्राप्त करता है ? छोटे-छोटे जन्तुओंको जलमें तैरना कौन सिखाता है ? यह सब तुम्हारी सर्वज्ञताका ही उल्लास है।' और भी—'मधुमक्खी जब मधुसञ्चय करने लगती है तब उसको यह संवित् कैसे होती है कि मुझे किसका रस लेना चाहिए ? किसका नहीं ? और कौन स्वादु, कौन अस्वादु होगा ? यह आपका ही विलास नहीं तो और क्या है ? नन्हें-नन्हें कीड़े भी अपने भरण-पोषणकी आश्चर्यजनक व्यवस्था कर लेते हैं। अज्ञानी पशु हाथी अपने ऊपर जल फेंककर स्नान करता है, वह किसके ज्ञानका फल है ? भोले हिरनको संगीतकी पहचान कैसे होती है, जिससे वह अपना खाना-पीना भी भूल जाता है ? इस अनन्त संवित्का विलास हुए बिना चूहा बिलमें रहते हुए भी बिल्लीसे क्यों डरता है ? विवेकरहित कछुआ पानीके भीतर छिप जाता है और अपने सारे अङ्गोंको समेट लेता है—यह बुद्धि उसे कहाँसे प्राप्त होती है ? आत्मसंवित् ही तो मोरमें बैठकर नाच रही है। पक्षी अगाध जलमें कूदकर मछली पकड़नेका कौशल किससे सीखता है ? हंस नीरसे क्षीरको विवेक करनेकी संवित् किससे प्राप्त करता है ? छोटे-से-छोटा प्राणी बोलकर अपनी भावना कैसे प्रकट करता है ? प्रातःकाल 'आज यह-यह काम करना है' ऐसा सङ्कल्प कहाँसे उदय होता है ? मूर्ख पशुओंको अपने सींग, दाँत और पंजेसे दूसरोंपर प्रहार करनेकी विद्या किसने सिखायी है ? यदि भीतर अखण्ड संवित् स्पन्दित न होती तो

हाथीको अपने बल और सिंहको अपने तेजका पता कैसे चलता ? पशु-पक्षियोंको भी अतिवृष्टि और अनावृष्टि, भूकम्प आदिकी पूर्वसूचना कहाँसे मिल जाती है ? यमराजके समान भयंकर सिंह आदि प्राणियोंसे भी मनुष्यका प्रेम हो जाता है। बिना सबके हृदयमें एक संविद्की स्थिति हुए ऐसी मैत्री, मिलनसारी कहाँसे आती है ?'

युक्तियोंका निरूपण पहले कर चुके हैं। यह सब आत्मसंवित्की ही विशेष अभिव्यक्ति है। अपने स्वरूपमें स्थिति अर्थात् सबके स्वरूपमें स्थिति। कभी स्वरूपसे च्युति नहीं होती। यही युक्ति है जिससे सर्वत्र सर्वज्ञता, सर्वता आदि अभिव्यक्त हो जाते हैं। कहा भी है—'एक ही भाव सबका स्वभाव है। सभी भाव एक ही भावके स्वभाव हैं। जिसने एक ही भावको तत्त्वतः अनुभव कर लिया, उसने सभी भावोंको तत्त्वतः अनुभव कर लिया।'[1] इस सम्बन्धमें एक रहस्य-युक्ति है कि जिस-जिस शरीरमें संवित् दृढ़ताको प्राप्त होगी, वहीं-वहीं उसके सब गुण प्रकट हो जायँगे।[2]

अब इन गुणोंको ढँकनेवाले जो दुर्गुण हैं, उनका मूलोच्छेद करनेके लिए कहते हैं—

ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः।
तदुन्मेषविलुप्तं चेत् कुतः सा स्यादहेतुका॥ ४०॥

आत्मसंवित्के उल्लासको कुण्ठित, लुप्त या विनष्ट करनेवाली यदि कोई वस्तु इस शरीरमें है, तो वह है—ग्लानि। ग्लानि अर्थात् अनुत्साहसे ही स्वभावको अभिव्यक्ति होती है। ग्लानिका जनक है—अज्ञान। यदि आत्मस्वभावके द्वारा उस अज्ञानको नष्ट कर दिया जाय तो जीवनमें ग्लानि अथवा अनुत्साह नहीं रह सकते। इसी अज्ञान और ग्लानिको मिटाकर योगी लोग जरा-मरणको मिटाकर शरीरको दृढ़ कर लेते हैं।

---

१. एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा ह्येकभावस्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः॥

२. रहस्ययुक्तिरत्रेयं शरीरे यत्र यत्र च।
संविदो दार्ढ्यलाभः स्यात्तत्र तत्र गुणोदयः॥

अब उन्मेषका स्वरूप बतलाते हैं—

एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ।। ४१ ।।

पुरुष एक चिन्तामें संलग्न रहता है कि तुरन्त दूसरी चिन्ताका उदय हो जाता है। यह किससे होता है ? इसीका नाम है उन्मेष। स्वयं उसका अनुभव करना चाहिए। पहली चिन्ताका भूलना और दूसरी चिन्ताका उदय होना—इन दोनोंमें और दोनोंके बीचमें उन्मेष ही है। उस उन्मेषसे अपने आत्माको पहचानना चाहिए। दो चिन्ताओंके बीचमें व्यापकरूपसे अनुभूयमान स्वसंवेद्य वही है। युवतीके सहवास-सुखके समान उपदेशगम्य नहीं है।

उन्मेषका अनुशीलन करनेपर प्रत्ययोंका उदय इस प्रकार होता है।

अतो बिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः ।
प्रवर्तते चिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ।। ४२ ।।

इस उन्मेषका अनुशीलन करनेसे थोड़े ही समयमें भ्रूमध्यमें तेजो-बिन्दुका अनुभव होने लगता है। बिन्देके अनन्तर अनाहत-अकृत्रिम नादका अनुभव होता है। इसीको शब्द-ब्रह्म कहते हैं। दूरसे श्रवणकी सिद्धि भी हो जाती है। अन्धकारमें रूपका दर्शन, देवताका दर्शन, सूक्ष्मातिसूक्ष्मका दर्शन, मुखमें अमृत और षड्रसका आस्वादन आदि। भला ये क्यों आते हैं ? वस्तुतः ये क्षोभक हैं अर्थात् आत्म-संवित्की अनुभूतिमें विघ्न हैं। पतञ्जलिने योगदर्शनमें व्युत्थान कालमें सिद्धि और समाधिकालमें विघ्न माना है।

यह ध्यान देने योग्य है कि इस बिन्दु, नाद प्रभृतिके निरूपणक्रममें सृष्टिक्रम भी ध्वनित है। पहले कहा जा चुका है कि उन्मेषसे सृष्टि होती है। उन्मेषसे पहले बिन्दु = इच्छा-दृक्शक्तिका प्रसार। तदनन्तर शब्दात्मक नादकी उत्पत्ति होती है। वह क्रियाशक्तिरूप वाक् है। इसके अनन्तर रूपका उदय होता है। वह है पदार्थका दर्शन और विचार। फिर उसीमें रस अर्थात् अभिलाषा और उपभोगका जन्म होता है। जो रहस्यवेदी अनुभवी महापुरुष हैं, वे इनको उद्योग, अवभास, चर्वण और विग्लापन कहते हैं। इस श्लोकमें इन चारोंके क्रम सूचित कर दिये गये हैं। विशेष अपनी परिभाषाके द्वारा प्रकृतका बोध नहीं करता। इससे स्वयं आत्मसंवित्का साक्षात्कार हो जाता है।

वह साक्षात्कार कैसे होता है ? इसका उपाय बतलाते हैं—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावबोत्स्यते ॥ ४३ ॥

जब पुरुष दिदृक्षा = दर्शनकी इच्छामें स्थित-सा होकर सब पदार्थोंमें व्याप्त होकर बरतता है तो अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं, वह स्वयं ही अपने स्वभावका अवबोध—अनुभव-अवगम प्राप्त कर लेता है। यहाँ इस उपदेशका आशय समझने योग्य है। जैसे कोई कौतुहलकी वस्तु देखनेके लिए सावधान होकर विकास-वृत्तिसे सजग हो जाता है, वैसे ही सब पदार्थोंके दर्शनकी उन्मुखतारूप वृत्तिसे उद्यन्त्रित होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। वह स्वयं सर्वज्ञता आदि गुणास्पद अपने स्वभावको प्राप्त कर लेता है। यह बात मूल कारिकामें पहले ही कही जा चुकी है—'अतः सततमुद्युक्तः' इत्यादि। इस स्थितिको 'तत्त्वार्थ-चिन्तामणि'में 'रहस्यमुद्रा' कहा गया है। 'भोग मोक्षप्रदीपिका'में इसका वर्णन यों है—'उन्मेष-बलसे उद्यन्त्रित होकर अपने स्वरूपमें रहे। वह योगी आनन्दभूमिमें रहकर स्वयं आये हुए विषयोंका उपभोग भी करता रहता है। यह आनन्दभूमि अत्यन्त उच्छृङ्खल एवं परम विकस्वर है, परन्तु केवल उन लोगोंके लिए, जिनकी बुद्धि प्रबुद्ध है। सिद्ध पुरुष सदा इसीमें आनन्दरत रहते हैं। यह परा मुद्रा है।' अन्यत्र भी कहा है—'दर्शनादि सारी शक्तियोंको चित्तसे उनके—उनके विषयमें एक साथ फेंक दो। उनके बीचमें स्वर्ण-स्तम्भके समान तुम स्थिर हो। सचमुच तुम एक ही विश्वाधार हो।' और भी—'वेश्या स्त्रीके समान चञ्चल नेत्रादि शक्तियाँ जहाँ-तहाँ स्वच्छन्द जाती रहती हैं। इन्हें केवल देखते रहो। इनका अनुगमन मत करो। सचमुच तुम सम्पूर्ण विश्वको धारण कर रहे हो और विश्वसे पृथक् हो।

इस स्थितिके लिए युक्ति बतलाते हैं—

प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेज्ज्ञानेनालोक्य गोचरम् ।
एकत्रारोपयेत् सर्वं ततोऽन्येन न पीड्यते ॥ ४४ ॥

अपनी शक्तियोंका संङ्कोच किये बिना प्रबुद्ध, निर्विकल्प एवं सदा उद्युक्त = सावधान रहे। ज्ञानके सम्मुख जो भी विषय उपस्थित हो, उसको देखकर संवित्की दीप्तिसे ज्ञेयका लोप कर दे, उनको अविभागमें प्रतिष्ठित कर दे। तब उसे दूसरा कोई पीड़ा नहीं पहुँचा सकता।

'भोग-मोक्षप्रदीपिका'में देखिये—'अविभाग-बोधकी अग्निसे विभागको विलुप्त करके वेद्य-पीयूषको पी जाय। फिर वह योगी शीघ्र ही तृप्त, नीरोग और एकाकी विचरण करने लगता है। यह क्रमार्थका सार है और शक्तियोंकी परधारा भूमिका। उसीकी अनुज्ञासे सच्छिष्योंके ज्ञानके लिए इसका वर्णन किया गया है; क्योंकि यह परधारा-भूमिका निर्विभाग है।' कहा गया है—'विभागके हेतु ये प्रसिद्ध हैं—देश, काल, क्रिया और आकार। जिसमें ये नहीं हैं, उसमें विभागका कोई कारण ही नहीं है।' और भी—'विषयसहित मन भस्म करना है। ज्ञानाग्नि अपनी दृष्टिसे उसे भस्म करती है। उसके भस्म हो जानेपर अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता दोनों समाधि हो जाती हैं।' तथा च—'विज्ञानकी वाडवाग्नि प्रदीप्त होकर अपनी शक्तिसे ज्ञेय विषयरूप समुद्रोंको निरन्तर ग्रसती रहती है। दूसरा कोई उसके ग्रासमें समर्थ नहीं है। जल न मिलनेसे प्यास नहीं बढ़ती और बहुत-सा जल मिल जानेपर तृप्ति या कृतकृत्यता नहीं होती। यह ज्ञान ऐसा विलक्षण वडवानल है।

'यस्मात्सर्वमयो जीवः' इसकी व्याख्यामें इस विषयका सयुक्तिक वर्णन आप पढ़ चुके हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि तत्त्वका स्वभाव विद्यात्मक ज्ञानस्वरूप है। अतः सम्पूर्ण ज्ञेयको उससे एक कर देना चाहिए। बस, इस ऐक्यके होते ही दूसरी कलात्मक विकल्परूप शक्तियाँ फिर किसी प्रकारकी पीड़ा-बाधा नहीं पहुँचा सकतीं अर्थात् स्वरूपसे प्रच्युत नहीं कर सकतीं। कहा भी है—'आकाश एक और व्यापक है। दीवार आदिके संयोगसे उसमें बाह्य-आभ्यन्तरका भेद मालूम पड़ता है। इसी प्रकार पशुपति तत्त्वज्ञ ग्राह्य और ग्राहकको एक ही रूप देखता है। आपके समाधि-स्वरूपमें विक्षेप्य और विक्षेपक, व्याक्षिप्त और व्याक्षेप्यका कोई भेद नहीं है।

इस प्रकार जो प्रबुद्ध पति है, वह दूसरेके द्वारा पीड़ित नहीं होता। इसका यह अभिप्राय स्वयं निकल आया कि जो अप्रबुद्ध पशु है, वही बार-बार संसारमें मार खाता रहता है। उसका लक्षण यह है—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः॥ ४५॥

वर्णसमूह ही शब्दराशि है। अकारसे लेकर क्षकारतक मातृका ही शब्द-जननी है; क्योंकि सभी शक्तियाँ वर्णात्मक हैं। उन्हींसे चाहे कादि

रूप, चाहे ब्रह्मादि-शक्तिरूप चक्रकी कलाओंसे अर्थात् ककारादि अक्षरोंसे श्रवण और उच्चारण द्वारा पुरुष अपने वैभवको खो बैठता है अर्थात् अपनी महाव्याप्तिको भुला देता है—स्वभावसे च्युत हो जाता है। इसका फल यह होता है कि वह जिन शक्तियोंका स्वामी है, उन्हींका भोग्य बनकर पुरुषके स्थानपर पशु हो जाता है। 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा'में कहा है—सभी भाव अपनी गोदमें अपनी अङ्गचेष्टाके समान हैं। उनका स्वामी प्रमाता, संवित् अथवा शिवके नामसे कहा जाता है। परन्तु उन्हीं भावोंमें जब वह फँस जाता है तब क्लेश पाता है और कर्मकी कीचड़से लथपथ पशु हो जाता है।' किसी महात्माका वचन है—'वस्तुतः भेदग्रन्थि स्वतः छिन्न-भिन्न है। उनके छिन्न-भिन्न होनेका ज्ञान होनेपर द्वैत है ही नहीं। इस बातको जो नहीं जानता, वह पशु है और जो जान लेता है, वह पशुपति है।

इसलिए—

> परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः।
> तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः॥ ४६॥

वह पशु जब कान, आँख आदि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका दर्शन करता है और उसके अन्तःकरणमें स्मरणादि ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, वही परामृत-रससे अर्थात् अपने स्वरूपोदयसे च्युति है; क्योंकि ये विषय-प्रत्यय पुरुषको परतन्त्र और परिच्छिन्न-सा बना देते हैं। सच पूछो तो ये विषय और स्मरण उसके व्यक्तिगत ही हैं अर्थात् उसीकी अभिलाषा = अन्तःकरणकी वृत्ति उन-उन रूपोंमें प्रकट हो रही है।

यह कारण है कि—

> स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोद्यता।
> यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः॥ ४७॥

इस पुरुषके स्वरूप = स्वभावको आच्छादित करनेके लिए ये शब्द-रूप शक्तियाँ सर्वदा उद्यत रहती हैं अर्थात् क्रियाशक्तिके द्वारा ये पुरुष-रूपको हमेशा ढँकना चाहती रहती हैं, क्योंकि बिना शब्दानुवेधनके अर्थात् बिना वर्णानुगमके किसी ज्ञानसंवेदनरूप प्रत्ययका उदय नहीं होता। वस्तुतः ये शब्द ही एक ही तत्त्वको वाच्य-वाचक विभागसे

दो रूपोंमें बाँटकर प्रकट करते हैं। 'वाक्यपदीय'में ठीक ही लिखा है—'ऐसा कोई प्रत्यय नहीं होता जिसमें शब्दका अनुगम न हो। सभी ज्ञान शब्दसे अनुविद्ध देखे जाते हैं।' पहले कह ही चुके हैं कि इस विश्व-व्यवहारका कारण वाक् ही है। अन्यत्र कहा है हे देव! चित्तकी उन्मुखतामें सर्वदा बाध ही वाग्-रूप होता है। असलमें वही प्रत्यवमर्शिनी शक्ति है, उसके बिना प्रकाश भी प्रकाशित नहीं हो सकता।

यही क्रियाशक्ति बन्धन और मोक्षकी हेतु है—

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुर्वातिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका॥ ४८॥

यही क्रियात्मक शक्ति जो पशुओंको बन्धनमें डालती है और उनको यथेच्छ प्रवृत्त करती है, शिवस्वरूप तत्त्वज्ञ पुरुषके बन्धनका हेतु नहीं बनती। यह जब 'मेरी है' इस प्रकार जानी जाती है तब भोग-मोक्षरूप समग्र सिद्धियोंका कारण बन जाती है। इसका अज्ञान और स्वातन्त्र्य ही बन्धनका हेतु है और ज्ञातता तथा आत्माधीनता सिद्धिका। यह बात पहले ही कह चुके हैं कि उत्थान और पतनका कारण एक ही है॥ ४८॥

यह शक्ति बन्धनका हेतु कैसे हो जाती है, इस बातको स्पष्ट करके समझाते हैं—

तन्मात्रोदयरूपेण मनोहम्बुद्धिवर्तिना।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थप्रत्ययोद्भवम्॥ ४९॥
भुंङ्क्ते परवशो भोग तद्भावात् संसरेदतः।
संसृति-प्रलयस्यास्य कारणं संप्रचक्ष्महे॥ ५०॥

बात यह है कि पुर्यष्टकके दो रूप हैं। एक सूक्ष्म आतिवाहिक है अर्थात् वह अभिलाषात्मक और तन्मात्र ही है दूसरा स्थूल भौतिक भोग-शरीर है। सूक्ष्म शरीरसे आबद्ध अर्थात् अपनेको उससे घिरा हुआ माननेवाला पुरुष परवश होकर उसमें उठनेवाले सुख-दुःख आदि संवेदनरूप प्रत्ययोंका उपभोग करता है। वस्तुतः वह शब्दादिके अनुभव द्वारा ही प्रकट होता है और उतना ही उसका रूप है, मन, अहङ्कार, बुद्धि, अन्तःकरण। उसीको अपना स्वरूप मानकर वह शरीरी हो जाता है और संसारको प्राप्त होता है। हमारा कहना यह है कि जन्म-मरण और

संसार-प्रलयके प्रवाहका यही कारण है। अपने प्रत्ययके सिवा संसारका दूसरा कारण नहीं है ॥ ५० ॥

अब बन्धनके उच्छेदका उपाय वर्णन करते हैं—

यदा त्वेकत्वसंरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥ ५१ ॥

इस प्रकार बन्ध और मोक्षका विचार करने पर बोधका उदय और प्रतिबन्धकी निवृत्ति हो जाती है।

दो पुर्यष्टकोंमें-से किसी एक स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टकमें पतित्वके सिंहासनपर आरूढ़ हो जाओ। अपने चित्तको विलीन कर लो। तब उनमें उदय-विलय होनेवाले शब्दादि प्रत्ययोंका नियन्त्रण हो जायगा। फिर तुम उनके भोग्य नहीं, भोक्ताभावको प्राप्त हो जाओगे। भोग्यरूप पशुत्वसे मुक्त होकर प्रभुभावको प्राप्त कर लोगे। कहा है—'पशुओंके पति होकर पशुओंके पति हो जाओ। पशुपति होते ही तत्काल पशुत्वसे मुक्त हो जाओगे।' 'स्वबोधोदयमञ्जरी'में वचन है—'जो कुछ भी मनोहर वस्तु तुम्हारे नेत्रोंके सम्मुख आये, एकाग्र होकर उसको तबतक भावना करो, जबतक मन लीन न हो जाय। निरोध तुम्हारा सेवक बन जायगा।'

इस प्रकार स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति होतीहै तब पुरुष शक्ति-चक्रका स्वामी है माने उसकी सर्वज्ञता, सर्वाधिपतित्व निष्प्रतिबन्ध होकर अभिव्यक्त हो जाता है।

ग्रन्थकर्ता आनन्दमें भरकर गुरुवाणीकी स्तुति करते हैं शिष्योंको शिष्टाचारकी शिक्षा देनेके लिए—

अगाधसंशयाम्भोधि समुत्तरणतारिणीम्।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् ॥ ५२ ॥

हमारे गुरुकी वाणी आश्चर्यमयी है। उसगे वाच्य और वाचक—अर्थ और पद—दोनों ही विचित्र हैं। अगाध सन्देहके समुद्रमें डूबते हुए लोगोंको पार करनेवाली यह नौका है। मैं उसीकी वन्दना करता हूँ।

गुरुसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है। 'जयाख्य-संहिता'में कहा है—'स्वयं-प्रकाश भगवान् जगन्नाथ ही मन्त्रमय शरीर धारण करके करुणावश अपने शास्त्ररूपी करकमलोंसे संसार-समुद्रमें डूबते हुए लोगोंका उद्धार करते हैं।' 'नारद-संहिता'में वचन है—'संसारका मूलोच्छेद

देनेवाले गुरुको अपने सर्वस्वकी दक्षिणा दे देना भी बहुत थोड़ा है।'
'स्पन्द-प्रदीपिका'कारका कहना है कि जिसके मनमें भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा हो, उसे पहले गुरुका अन्वेषण करना चाहिए। भगवान्‌की पहचान होती है—शास्त्रसे और शास्त्रका अनुभवात्मक ज्ञान होता है गुरुसे। शास्त्रज्ञानसे विषयज्ञानका विलय हो जाता है। सच पूछो, तो पहचाननेभरकी देर है, भगवान् तो मिला हुआ ही है। अतएव शास्त्र और ईश्वर—दोनोंसे गुरु श्रेष्ठ है। 'पञ्चरात्र'में भी कहा गया है कि 'गुरुके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा भगवान्‌के साथ'।

अब अपने सम्प्रदायका समाम्नान करते हैं—

वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः।
रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्रीभट्टकल्लटः॥ ५३॥

श्रीभट्ट कल्लटने अपने तत्त्वार्थदर्शी गुरु वसुगुप्तसे यह रहस्य भलीभाँति प्राप्त करके श्लोकबद्ध किया।

यह ब्रह्मविद्याका बीज है। बिना परीक्षा किये अयोग्य क्षेत्रमें इसको नहीं बोना चाहिए। भट्ट कल्लटने ही अन्यत्र कहा है—'सिद्धविद्या एक गुणवती कन्याके समान है। गुणवर्जित पुरुषके प्रति उसका दान करनेसे वह सम्भोग तो देती ही नहीं, दाताकी अपकीर्तिका कारण बनती है। इसलिए सद्गुणसम्पन्नको ही इस विद्याका उपदेश करना चाहिए'।

यह विद्या अविद्या-तमको निवृत्त करनेके लिए प्रकाशित की गयी है। 'स्पन्द-प्रदीपिका' शुद्धबोधिका उल्लास है, मात्सर्य छोड़कर इसके अर्थपर विचार करना चाहिए। यह एक आश्चर्य है। इसका अनादर नहीं करना चाहिए।

उत्पलाचार्य त्रिविक्रमके पुत्र एवं ब्राह्मण-वंशमें उत्पन्न हुए हैं। सच्छिष्योंके लिए इस प्रदीपिकाकी रचना की है। जैसे दीपक हाथमें लेकर चलनेवालेके चरण स्खलित नहीं होते, वैसे ही यह प्रदीपिका अमार्गमें भी प्रकाश देती है। सावधान होकर इस प्रदीपिकाको धारण करनेसे जीवन-कालमें ही पुरुष अपनी भगवत्ताका अनुभव करता है। इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा?

●

'भगवन्नाम-कौमुदी'के कुछ निष्कर्ष

['श्री भगवन्नाम-कौमुदी' श्री लक्ष्मीधरकी विद्वत्तापूर्ण गम्भीर कृति है। इसकी रचना १५वीं शताब्दीसे पूर्व हुई है। ग्रन्थकर्ता श्रीधर स्वामीके अत्यन्त अनुग्रह-भाजन थे। दोनोंके मत भी प्रायः एक-से हैं। इस ग्रन्थपर संस्कृत टीका है 'प्रकाश'। मीमांसाधुरन्धर आपदेवके पुत्र श्री अनन्तदेव, जिनका वैदुष्य मीमांसकोंके लिए अनुकरणीय है, 'प्रकाश'टीकाके कर्ता हैं। श्री रूप गोस्वामी एवं श्री जीव गोस्वामीने कौमुदीके उद्धरण अपने-अपने ग्रन्थोंमें लिये हैं। ग्रन्थकी गम्भीर विचारशैली साधारण जनताके लिए सुगम नहीं है। अतएव उसका सरल, सार-संक्षेप महाराजश्रीकी अधिकृत लेखनीके प्रसादस्वरूप आपके सम्मुख प्रस्तुत है। यह ग्रन्थ विक्रम संवत् १९८४में अच्युत-ग्रन्थमाला, काशीसे पहले-पहल प्रकाशित हुआ और फिर संवत् १९९५ वि० में गीताप्रेससे भी। किन्तु अब अलभ्यप्राय है। —**सम्पादक**]

(१)

'भगवन्नाम-कौमुदी' मानवका मन भगवान्‌के नाम-संकीर्तनमें स्थिर, समाहित करनेके लिए रची गयी है।

भगवान्‌के नाममें अर्थवादकी कल्पना पाप है और उससे नरक मिलता है, यह जानते हुए भी यहाँ उसे अर्थवाद माननेवालोंके मतका अनुवाद केवल इसलिए किया गया है कि उनका खण्डन किया जा सके। पापकी बात अपने मुँहमें लाना भी पाप है, फिर भी उस मतका निराकरण करनेके व्याजसे नाममाहात्म्यका मनन करनेका सौभाग्य मिलता है, यही सोचकर उसका उल्लेख है। हाँ, तो इस सम्बन्धमें वादियोंके दो पूर्वपक्ष हैं। पहला है :

पूर्वपक्ष (१) : इतिहास-पुराण अपने मुख्य अर्थमें प्रमाण नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि जिन पुराण-वचनों द्वारा नाम-महिमा वर्णित है, उनका मुख्य अर्थ न लिया जाय। वेद कुछ करने या न करनेके लिए क्रमशः विधि एवं निषेधरूप दो प्रकारके आदेश दिया करते हैं। जो वस्तु स्वयं सिद्ध है, उसे बतानेमें वेदोंका कभी तात्पर्य नहीं होता। आदेशात्मक

(विधि) वचन ही प्रमाण माने जाते हैं; मन्त्र, अर्थवाद या उपनिषद् नहीं। वे तो किसी-न-किसी विधि-वाक्यमें ही विनियुक्त होते हैं या जप-पाठके काम आते हैं। जब वेदोंकी ही यह स्थिति है तो उन्हींके पीछे-पीछे चलनेवाले इतिहास-पुराण तो अपने वाच्यार्थमें भी कभी प्रमाण ही नहीं हो सकते। मीमांसाके आचार्य जैमिनिने स्पष्ट ही कहा है कि वेदमें जो यज्ञार्थ नहीं, वह व्यर्थ है।

पूर्वपक्ष (२) : किसी-किसीका कहना है कि केवल विधि-निषेधपरक वेदवचन ही प्रमाण है, हम ऐसा नहीं मानते। धर्मके सम्बन्धमें तो ठीक यही बात है। लेकिन वेद सिद्धवस्तुके निरूपणमें भी प्रमाण हैं, यह मानना उचित है; क्योंकि आचार्योंने सिद्ध अर्थमें शक्ति और तात्पर्यका वर्णन किया है। लौकिक रूपमें कहा जा सकता है कि 'जैसे तुम्हारे पुत्र हुआ है' यह सिद्ध-अर्थ-बोधक वाक्य सुनकर भी वाक्यार्थ-बोध और सुखरूप फल प्राप्त होता है, वैसे ही वेदवाक्य भी। मन्त्र और अर्थवाद अज्ञात-ज्ञापक और विधिके उपयोगी अर्थके बोधक होते हुए भी अपने स्वतन्त्र अर्थके भी बोधक हैं। यदि कोई शब्द स्वभावसे ही निष्प्रतिबन्ध, निश्चितस्वरूप एवं प्रमाणान्तरसे अज्ञात वस्तुका ज्ञान कराये तो उसे प्रमाण माननेमें क्या सन्देह है ? माना कि मन्त्र और अर्थवाद विधिके अंग हैं, पर उपनिषदें विधिका अंग कैसे हो सकती हैं ? उनमें तो आत्माके अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी, अपरिच्छिन्न स्वरूपका वर्णन है, जो कभी कर्मका अंग सम्भव नहीं। आत्माके इस स्वरूपको जान लेनेपर समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति होती है। इसलिए यदि दूसरे प्रमाणसे यह विरुद्ध भी हो, तो भी यही वास्तविक प्रमाण है और सब हैं प्रमाणाभास। कुमारिल भट्टने भी माना है कि इतिहास-पुराणोंके प्रमाणसे सृष्टि और प्रलय भी हमें अभीष्ट हैं।

जहाँतक अर्थवादका प्रश्न है, वह तीन प्रकारका माना गया है, १. अनुवाद, २. गुणवाद, और ३. भूतार्थवाद। जैसे 'अग्नि शैत्यका औषध है' यह अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध होनेपर भी वेद इसका 'अनुवाद' करता है। 'ब्रह्मचारी सिंह है' अथवा 'यूप आदित्य है' यह शौर्य, दीप्तिमत्ता आदि गुणोंके कारण कहा गया है इसलिए 'गुणवाद' है। पहला उदाहरण प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध होनेसे वेद द्वारा अनुवादित है। दूसरा उदाहरण प्रत्यक्षादिके विरुद्ध होनेके कारण केवल गुणोत्कर्षका

सूचक है। लेकिन जो न प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध होता हो और न उससे विरुद्ध ही, वहाँ 'भूतार्थवाद' नामक अर्थवाद माना जाता है। जैसे : 'इन्द्रने वृत्रासुरको मारनेके लिए वज्र उठाया', यहाँ न दूसरे प्रमाणोंसे इसकी पुष्टि होती है अर्थात् संवाद है, न विवाद। ये सभी अर्थवाद इतिहास-पुराणोंमें भी आते हैं ठीक वैसे ही, जैसे वेदोंमें। ये अपने स्वार्थमें ज्यों-के-त्यों प्रमाण होते हैं।

यह ठीक है कि देवता-तत्त्व और कर्तव्य अर्थके प्रतिपादनमें स्मृतियोंका अपना विशिष्ट स्थान सुरक्षित है। उनकी इस महिमासे मुकरना सम्भव नहीं। फिर भी जहाँ बड़े-बड़े पापोंके प्रायश्चित्तका प्रसङ्ग आता है, वहाँ स्मृत्युक्त उन बड़े-बड़े प्रायश्चित्तोंका निषेधकर पुराण केवल नाम-संकीर्तन मात्रका विधान कर दें—यह उचित नहीं। अतएव उनका अभिप्राय भजनीय, पूजनीय देवताकी स्तुतिमात्रसे है, अर्थात् जिस देवताका एकबार नाम लेनेपर ऐसा फल है, उसका यदि आजीवन भजन-पूजन किया जाय, तो वह क्या नहीं कर सकता? सारांश, पुराणके नाम-महिमासूचक वचन अपने मुख्य अर्थके बोधक नहीं, भजनमें प्रवृत्तिमात्र करानेके लिए हैं। अब इनका उत्तर सुनें!

उत्तर पक्ष : इस सम्बन्धमें कहना यह है कि पुराण अपने मुख्य अर्थमें सर्वथा प्रमाण हैं। जैसे वेद कर्त्तव्य-शासन और परमार्थ-शासन, दोनोंमें समान रूपसे प्रमाण हैं, वैसे ही पुराण भी। जिस वर्णाश्रम धर्मका वर्णन वेदोंमें है, उसीका पुराणोंमें भी। भागवतके प्रथम स्कन्ध, प्रथम अध्यायके **धर्मः प्रोज्झितकैतवः** श्लोकमें धर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों ही स्पष्टतः भागवतके प्रतिपाद्य कहे गये हैं। महाभारतका भी यही कहना है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंके सम्बन्धमें जो कुछ इसमें है, वही अन्यत्र सर्वत्र है; जो इसमें नहीं, वह कहीं भी नहीं। त्रिकाण्डात्मक वेदके समान पुराण भी धर्म और ब्रह्म दोनोंका प्रतिपादन करते हैं। अनेक पुराण तो मुख्यतः धर्मके प्रतिपादनमें ही गतार्थ है। जैसे वेद काण्डभेदसे नानार्थोंका प्रतिपादन करता है और वह अविरुद्ध है, उसी प्रकार पुराण भी। पुराणोंका मुख्य विषय उपनिषत्-प्रतिपादित ब्रह्मात्मैक्य ही है : **वेदा ब्रह्मात्मविषयाः**। वे कर्मका विधान भी कर्म-मोक्षके लिए करते हैं : **कर्ममोक्षाय कर्माणि**। तीनों काण्डोंकी एकवाक्यता जैसी वेदोंमें होती है, वैसी पुराणोंमें भी।

अतएव धर्म-शासन और ब्रह्म-शंसन दोनोंमें पुराणोंका भी वेदवत् प्रामाण्य है।

पुराण अर्थवाद नहीं

यदि कोई कहे कि यह तो ठीक है कि 'पुराणोंका धर्ममें भी तात्पर्य है किन्तु नाम-कीर्तनविषयक पुराणवचन स्मृत्युक्त बृहत् प्रायश्चित्तोंके विधानके विरुद्ध है, इसलिए उन्हें प्रमाण मानना युक्तियुक्त नहीं है।' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि आपकी बात सुनकर वे लोग डर जायँगे, जिन्होंने मीमांसा-पारावारका तलस्पर्शी अवगाहन नहीं किया है। मैं आपसे पूछता हूँ कि आप नाम-महिमाके प्रतिपादक वचनोंको अर्थवाद क्यों मानते हैं? क्या नाम-कीर्तनके विधि-वाक्य नहीं मिलते या किसी कर्मविधि आदिके वे अङ्ग या शेष हैं, अथवा वे जिस पदार्थका प्रतिपादन करते हैं, वे उनके मुख्यार्थ नहीं, अविवक्षित अर्थ हैं? उन्हें अविहित माननेके दो ही कारण हो सकते हैं: १. या तो उनमें लिङ्, लोट् वा तव्य प्रत्यय न हों, या २. उनका वाच्यार्थ न हो, अर्थात् वैसा कीर्तनादिरूप कोई कर्म ही न बन पाये। नाम-कीर्तनके प्रसंगमें अर्थवाद माननेके लिए ये दोनों कारण उचित नहीं, क्योंकि पूर्वमीमांसाकी रीतिसे आदेशात्मक प्रत्यय न होनेपर भी कालत्रयानवच्छिन्न द्रव्य-देवता-सम्बन्धसे यागविधिकी कल्पना की ही जाती है। जैसे: आग्नेय अष्टाकपाल। इसी प्रकार पुराणके इस वचनानुसार कि—

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम्।

कालत्रयानवच्छिन्न साध्य-साधन-सम्बन्धसे नाम-संकीर्तन विधिकी सिद्धि हो जाती है। हरि-संस्मरण पापका एकमात्र और सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है। अभिप्राय यह कि हरि-संस्मरण पापका सर्वोत्तम प्रायश्चित्त है अर्थात् पापोंका नाश करनेके लिए हरि-संस्मरण करना चाहिए। इसमें लिङ्, लोट्, तव्यत् सबका समावेश है। दूसरा पुराण वचन है:

हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्।

अर्थात् अवशतावश भगवन्नामोच्चारण पाप-फलरूप यातनासे मुक्त करता है अतः 'हरि-हरि'का उच्चारण करना चाहिए। वेदोंमें जहाँ 'यजते', 'जुहोति' ऐसे क्रियापद आते हैं, वहाँ भी लकारका परिणाम करके अथवा पंचम लकार मान करके विधि सिद्ध की जाती है। पूर्वोक्त प्रसंगोंमें भी 'अर्हति' आदि क्रियापद विधिबोधक ही हैं।

यदि यहाँ किसी दूसरी विधिका अंग होनेके कारण नाम-महिमा-प्रतिपादक वचनोंको अर्थवाद मानें, तो वह कौन-सी विधि है जिसके ये वचन शेष हैं ? नाम-कीर्तन-विधिके ही शेष हैं अथवा किसी दूसरी विधिके ? दूसरी विधिका तो सन्निधान नहीं है और उपसंहार भी स्वतन्त्रतया नाम-संकीर्तनमें ही है। अतः यह और किसी विधिका शेष नहीं। जैसे, पूर्वमीमांसामें यह निर्णय दिया गया है कि 'जो प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहे वह रात्रि-सत्रका अनुष्ठान करे', ठीक उसी प्रकार यहाँ भी यह निर्णय करें कि 'जो पापक्षय चाहता है, वह नाम-संकीर्तन विधिका नियोज्य अधिकारी है नाम-संकीर्तन अनुष्ठान है और पापक्षय है उसका फल। अतः नामविषयक विधि स्वतन्त्र है, कर्मविधिका अंग नहीं।

एक और भी विलक्षणता ध्यान देने योग्य है—कर्मविधिमें हविष्-त्यागका कर्मभूत जो शब्द है, वही देवता है। जहाँ 'विष्णु' शब्द है, वहाँ विष्णु, जहाँ 'शिपिविष्ट' है, वहाँ वही। 'अग्नि' 'शुचि' 'पावक' सबकी यही स्थिति है किन्तु संकीर्तनमें ऐसा नहीं। भगवान्‌का कोई भी नाम कहीं भी लिया जा सकता है, भगवान्‌का नाम ही अशेषपापापहारी है। कर्मविधिमें पदार्थ-सम्बन्धसे भी नाम-संकीर्तनका अनुप्रवेश नहीं है। अतः नाम-संकीर्तनकी फल-श्रुति यथार्थ है, अर्थवाद नहीं।

जहाँ भी वाक्यमें फलपरक विधिकी सम्भावना हो, वहाँ उसे अर्थ-वाद मानना अनुचित है; क्योंकि मुख्य अर्थ सम्भव होनेपर गौण अर्थकी कल्पना करना ठीक नहीं। क्या संकीर्तन क्रिया नहीं है ? फिर उसके द्वारा फलोत्पत्तिमें सन्देह ही क्या है। वह स्वतः फलसाधन है और फलके लिए ही उसका विधान है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संकीर्तनविधि स्वार्थपरक ही है। ऐसा कौन-सा बालक है कि उसे विधिपरक न माना जाय। यदि कहें कि कोई साधक नहीं, तो पूछा जा सकता है कि क्या स्वाध्यायके अध्ययनकी विधि संकीर्तनविधिकी साधक नहीं ? वहाँ केवल अध्ययनमात्र फल साधक है या नहीं ? एक-एक अक्षरका अध्ययन सप्रयोजन माना गया है। तब अक्षरोच्चारणके समान ही नामोच्चारण भी सप्रयोजन (सफल) क्यों नहीं ? अतः नाम-संकीर्तन-महिमाका अन्यत्र तात्पर्य नहीं। वह जिस प्रकार कहा गया है, वैसा ही है अर्थात् अर्थवाद नहीं है।

इस तरह अबतक अर्थवाद होनेके तीनों कारणोंका, अर्थात् विधि न होना, अन्य विधिका शेष होना और स्वार्थमें तात्पर्य न होना—इनका निराकरण हो जाता है।

नाम-कीर्तनके वाक्य विधि ही :

विधि क्या है ? प्रेरक उपदेश—यह करो, यह मत करो। जो दूसरे प्रमाणसे ज्ञात न हो, अनुष्ठान-योग्य हो और अपने अभीष्टकी प्राप्तिका साधन हो, उसे 'विधि' कहते हैं। फिर भला इसमें लिङ्, लोट् मात्रके बन्धनकी आवश्यकता ही क्या है ? वह किसी भी प्रकारके वाक्यसे ज्ञात हो सकता है। ठीक है, वाक्य-रचनाका बन्धन क्यों ? चाहे जब कभी (काल-नियमके बिना) पापक्षयकी कामनासे नाम-कीर्तन करना चाहिए। वह करने योग्य है और उससे पापक्षय होता है। आप अर्थवाद-अर्थवाद बोलते हैं, परन्तु उसे विधिका शेष भी मानते हैं। यदि विधि न होती तो यह शेष कहाँसे आता ? जिसको विधि है उसीका अर्थवाद होता है न ? क्या अर्थवादके बलपर उपस्थापित विधि फलप्रद नहीं हुआ करती ?

ये प्रत्यक्ष विधि-वचन :

भागवतमें 'कीर्तितव्यः' यह तव्य प्रत्यय विधायक है या नहीं ? **नामानि गायन् विचरेत्**—यहाँ 'विचरेत्' विधि नहीं तो क्या है ? **सङ्कीर्तयेत् जगन्नाथम्, गोविन्देति सदा वाच्यम्, नामानि पठेत्, विष्णोर्नामानि ईरयेत्** आदि असंख्य विधिवचनोंकी कोई गणना कर सकता है ? अतः यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि नाम-स्मरणमें विधि नहीं है।

ज्ञातव्य है कि विधियाँ अनेक प्रकारकी होती हैं नित्यविधि, नियम-विधि आदि। उनमें सन्ध्या-वन्दनादि नित्यविधि हैं। प्रतिदिन स्वाध्यायके समान ही कीर्तन भी करना चाहिए। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि नित्यविधियोंकी फलश्रुतियाँ तो अर्थवादरूप ही होती हैं, इसलिए उनका तात्पर्य कर्मानुष्ठानकी प्रेरणा देनामात्र है, स्वतन्त्र फलदान नहीं। इसका समाधान यह है कि विधि चाहे नित्य हो या अनित्य, वह फलके बिना पूर्ण नहीं होती। अतः आर्थवादिक फलको भी स्वीकार करना ही होगा।

नाम-संकीर्तन-प्रतिपादक वचन सर्वथा सत्य हैं और उनके द्वारा पापक्षय रूप फल होना भी यथार्थ है। अतः पुराणोक्त नाम-संकीर्तन-महिमा विध्युक्त ही है।

कृष्ण कृष्ण मधुसूदन विष्णो
कैटभान्तक मुकुन्द मुरारे।
पद्मनाभ नरसिंह हरे श्री-
राम राम रघुनन्दन पाहि ॥

(२)

प्रश्न यह है कि नाम-संकीर्तन पापक्षयका स्वयं, स्वतन्त्र साधन है या किसी श्रेष्ठ साधनका अंग ? अवश्य ही नाम-कीर्तनमहिमाकी अर्थवादताका निराकरण कर देनेपर इस प्रश्नका उत्तर हो जाता है, फिर भी अन्यान्य आक्षेपोंका निरसनकर अपना सिद्धान्त अत्यन्त दृढ़ करना भी स्थूणा-निखनन-न्यायसे युक्तियुक्त है।

संगति कैसे लगायी जाय ?

प्रश्न है कि जहाँ मन्वादि-प्रणीत स्मृतियों और पुराण वचनोंके बीच विरोध उपस्थित हो, वहाँ किस तरह संगति लगानी चाहिए ? उदाहरणार्थ : स्मृति-उपदिष्ट एवं पुराण-प्रतिपादित पाप-प्रायश्चित्तोंमें विरोध दीखता है। तब क्या दोनोंमें विकल्प मानेंगे ? अर्थात् पापक्षयके उद्देश्यसे मन्वादि द्वारा आदिष्ट या पुराणों द्वारा उपदिष्ट, दोनोंमेंसे कोई भी एक करें ? बारह वर्षके व्रत और नामोच्चारण मात्रमें तो स्पष्ट ही महान् अन्तर है।

दूसरी व्यवस्था यह सम्भव है कि दोनोंका समुच्चय कर लिया जाय, अर्थात् मन्वादि-सम्मत प्रायश्चित और पुराणादिसम्मत भगवन्नामकीर्तन, दोनोंका साथ-साथ अनुष्ठान किया जाय, केवल एकसे पापक्षय सम्भव नहीं।

तीसरी विधि यह भी हो सकती है कि अधिकारि-विशेषके लिए नामसंकीर्तन पापक्षयका साधन है तो दूसरे अधिकारीके लिए मन्वादिप्रोक्त प्रायश्चित्त। इसका नाम 'व्यवस्था' है। इस विधामें अधिकारीका निर्णय अपेक्षित होता है।

निःसन्देह भगवन्नामका माहात्म्य-श्रवण सबके लिए नित्यकर्मवत् है। स्मृतियोंके समान इसका मूल भी वेद ही है। इसे वैकल्पिक बना देना या विशेष प्रकारके अधिकारीके लिए निश्चित कर देना शास्त्रके शब्दोंकी स्वारसिक व्याख्या नहीं। अतः विकल्प और व्यवस्था, दोनों द्वारा नाम-संकीर्तनकी सीमाको संकीर्ण बनाना कथमपि उचित नहीं।

अब रही बात समुच्चयकी ! अर्थात् प्रायश्चित्त और संकीर्तन दोनों मिलकर पापक्षय करते हैं, अलग-अलग नहीं। इस सम्बन्धमें हमारा निश्चय है कि नाम-कीर्तन पापक्षयका निरपेक्ष साधन है। यदि उसे मन्वादि-प्रोक्त प्रायश्चित्तोंके सापेक्ष माना जाय तो पूर्ववत् ज्यों-का-त्यों शास्त्रवचनोंका स्वारस्यभंग बना ही रहेगा।

क्या संकीर्तन प्रायश्चित्तका अंग है ?

निःसन्देह कहीं-कहीं ऐसे वचन मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि नाम-संकीर्तनादिरूप भक्ति प्रायश्चित्तका अंग है। जैसे : भागवतमें 'नारायणसे पराङ्मुखको प्रायश्चित्त पवित्र नहीं कर सकते।' 'नाम-संकीर्तन यज्ञ-यागादिके छिद्रों या हीनांगोंकी पूर्ति कर देता है।' 'जप, होम आदिको भगवद्भक्ति सफल बनाती है' आदि। इन वचनोंसे सिद्ध है कि नाम-संकीर्तन, नाम-स्मरणादि सभी कर्मोंके अंग हैं। प्रायश्चित्त भी कर्मोंके ही अन्तर्गत हैं, अतः नाम-संकीर्तन प्रायश्चित्तका अंग होकर ही पापक्षयका साधन सम्भव है, स्वतन्त्र नहीं। किन्तु यह निर्णय न तो शास्त्र-सम्मत है और न युक्तियुक्त। अतः इस विषयपर विचार अनिवार्य है।

भक्ति कर्म-कक्षामें नहीं आती क्या ?

परमार्थ यह है कि भगवद्भक्ति और ब्रह्मविद्याकी कक्षा एक ही है। भगवद्भक्ति कर्म-कक्षामें नहीं आती। अतएव श्रीमद्भागवतका सिद्धान्त है कि कर्म द्वारा कर्मोंका आत्यन्तिक विनाश सम्भव नहीं, वासना शेष रह ही जाती है। फलतः पुनः पापाचरण होता है। इसलिए कर्मात्मक प्रायश्चित्त अज्ञानी अधिकारीके लिए है।

वास्तविक प्रायश्चित्त तो विमर्श ही है। विमर्शके समान ही केवल भक्ति भी पापराशिका नाश कर देती है। भक्ति चाहे श्रवणरूप हो कीर्तन हो, स्मरण हो, सबकी शक्ति अनन्त है। उसमें समूल पापोंके विनाशकी शक्ति है।

अजामिल-सदृश पापी केवल एकबार पुत्रके उद्देश्यसे 'नारायण' नामका उच्चारणकर सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो गया। पापोंका प्रायश्चित्त तो हुआ ही, बुद्धि भी भगवद्विषया बन गयी। आइये, इस अजामिल-प्रसंगके एक सुश्लोकका रसास्वादन करें।

एतावताऽलमघनिर्हरणाय पुंसां
सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥

यहाँ मात्र भगवन्नामोच्चारणको सम्पूर्ण पापक्षयका हेतु माना गया है। कितनी विलक्षण वाचोयुक्ति है! 'अलम्' शब्दके साथ 'एतावता' यह तृतीयान्त प्रयोग है। यदि इसका अर्थ भगवन्नामादि-संकीर्तनको पापक्षयके लिए पर्याप्त बताना होता तो 'एतावत् + अलम्' ऐसा प्रथमान्त प्रयोग होना चाहिए। उसका अभिप्राय होता—इतना ही बस है, पर्याप्त है। **अलं मल्लो मल्लाय**—पहलवानके लिए पहलवान पर्याप्त है। तृतीयान्त प्रयोगका अर्थ है **अलमिति-अलमति प्रसङ्गेन**—अधिक बोलना बन्द करो। अलम्का अर्थ वारण है।

यह जो भगवान्के गुण, कर्म और नामोंका संकीर्तन है, मनुष्योंके पापोंका क्षय करनेके लिए, वह अनावश्यक है। निरन्तर इसके अनुष्ठानकी कोई अपेक्षा नहीं है। पापक्षयमात्र फल तो अत्यन्त तुच्छ है, जब कि भगवत्कीर्तन बहुत बड़ी वस्तु है। नन्हा-सा हल चलानेके लिए हाथी जोतना! अब देखिये इसका विवरण। समग्र जीवन महापापमें लिप्त अजामिल शिथिल कण्ठसे 'नारायण' पुत्रको केवल एकबार पुकारकर मुक्त हो गया। उसने भगवान्का कीर्तन नहीं किया, सावधान नहीं था। फिर भी उसने समस्त अनर्थनिवृत्तिपूर्वक परमानन्दप्राप्तिरूप मुक्ति पा ली। पाप तो अनर्थका एक तुच्छ अंश है। उसे मुक्ति प्राप्त हुई—ऐसा नहीं कहा जा रहा है। धर्मराज बोलते हैं: 'देखो, देखो, यमदूतो! वह मुक्त हो रहा है।' उनकी दृष्टिमें मुक्ति वर्तमान है। कैवल्य-मुक्तिके अवेद्य होनेपर भी सालोक्यादि मुक्तियाँ वेद्य होती ही हैं। अतः यमराज किसी इतिहासका वर्णन नहीं, मुक्तिका प्रत्यक्ष दर्शन करा रहे हैं!

भगवन्नामोच्चारणरूप महादावाग्नि समग्र संसाररूप महावृक्षको समूल भस्म कर देता है। एक जीवनमें होनेवाले पाप तो उसके लिए एक तृणके समान भी नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें नामसंकीर्तन किसी दूसरे साधनके सहयोगसे पापक्षय करता है, ऐसी कल्पना करना ही भ्रान्तिमूलक है।

भक्ति कर्मसे श्रेष्ठ और निरपेक्ष :

भागवतमें कहा गया है कि 'पापी पुरुष तपादिसे वैसा पवित्र नहीं हो सकता, जैसा अपनी इन्द्रियों द्वारा श्रीकृष्णका सेवन एवं श्रीकृष्ण-भक्तोंकी सेवासे होता है।' कृष्णमें इन्द्रियोंको लगानेका अर्थ है, उनका कीर्तनादि करना। इससे भी स्पष्ट कथन यह मिलता है कि 'वेदवादियों द्वारा उपदिष्ट व्रतादिरूप प्रायश्चित्त द्वारा पापीकी वैसी शुद्धि नहीं होती, जैसी भगवन्नामके उच्चारणसे होती है।' तात्पर्य यह कि कर्मसे होनेवाली शुद्धि और है, भक्तिसे होनेवाली और। यदि दोनों साधनोंमें अङ्गाङ्गी-भाव होता तो यह सम्भव न होता; क्योंकि अंग और प्रधानका फल एक ही हुआ करता है। विष्णुपुराणमें तपस्या एवं कर्मरूप सभी प्रायश्चित्तों-की अपेक्षा श्रीकृष्ण-स्मरणको ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। यदि कर्म अंगी होता और कीर्तन अंग, तो ऐसा कहना युक्तियुक्त न होता; क्योंकि अंग अंगीसे कभी श्रेष्ठ नहीं होता। दूसरे स्थान पर वचन मिलता है कि 'पश्चात्तापयुक्त पापीके लिए सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त केवल एकबार भगवान्का स्मरण ही है।' जो साधन सजातीय द्वितीय स्मरणको भी सहन नहीं करता, वह विजातीय प्रायश्चित्तको कैसे सहन करेगा? नृसिंह-पुराणमें 'कृष्ण-कृष्ण', 'श्री नृसिंह' कहने मात्रसे ही नरक भोगते हुए पापियोंके उद्धार एवं वैकुण्ठ-प्राप्तिका वर्णन है। शिवपुराणमें भी 'हर-हर', 'नमः शिवाय'के उद्घोषको नरकमें यातना भोगते हुए प्राणियोंके लिए तत्काल शिवलोक-प्रापक बतलाया है। श्री विष्णुधर्ममें **विमुक्तान्यसमारम्भः** कहकर नारायणपरायणके लिए अन्य साधनोंका परित्याग उपदिष्ट है। वहीं, गोविन्दनामोच्चारणसे क्षत्रबन्धुकी गोविन्दत्व-प्राप्तिका समुल्लेख मिलता है। यहाँ केवल कीर्तनमात्रसे ही समग्र पापोंका क्षय कहा गया है। निष्कर्ष यह कि केवल हरिसंकीर्तन ही समस्त पापोंके क्षयका साधन है। उसे न तो कर्मादि किसी अन्य साधनोंके समुच्चयकी अपेक्षा है और न वह स्वयं किसी दूसरे साधनका अंग है।

नाम-संकीर्तनकी केवलता क्या ?

कारणकी पुष्कलता ही केवलता है। इसीको निरपेक्षता भी कहते हैं। वह कार्यके पूर्वक्षणमें नियत रूपसे रहता है। इसीको कार्योत्पत्तिकी सामग्री कहते हैं। जिसके बाद निश्चय ही कार्य सम्पन्न हो जाय, वही पुष्कल कारण है। दूसरे साधनकी अपेक्षा रखनेपर वह 'पुष्कल' नहीं हो सकता।

कारणकी यह पुष्कलता कहीं एकमें ही होती है। जैसे : संयोगका नाशरूप कार्य केवल विभागमें है। कहीं दोमें होती है। जैसे : स्वर्ग-प्राप्तिरूप कार्यके प्रति दर्श तथा पौर्णमास दोनोंके ही अपूर्व। कहीं अनेक-में होती है। जैसे : घटरूप कार्यके प्रति दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल आदि सभीमें है। जहाँ अनेक पुष्कलकारणस्वरूप बनते हैं, वहाँ वे अपने आश्रयमें मिल-जुलकर ही बन पाते हैं। किन्तु जहाँ एकमें ही पुष्कल-कारणता हो, वहाँ उसमें वह सम्पूर्णतया होती है। नाम-संकीर्तनरूपा भक्तिमें पापक्षयकी पुष्कल-कारणता विद्यमान है, इसलिए पापक्षयके लिए उसे किसी दूसरेसे मिल-जुलकर रहनेकी आवश्यकता नहीं।

पूछा जा सकता है कि आरम्भवादमें तो अनेक कारण होते हैं समवायी, असमवायी, निमित्त कारण। परिणाम एवं विवर्तमें भी उपा-दान एवं निमित्त—दो कारण हैं। फिर एकमात्र भक्तिमें ही पुष्कल-कारणता क्यों ? समाधान यह है कि हमने भक्तिको पापक्षयरूप कार्यका एकमात्र निमित्तकारण कहा है, उपादान कारण नहीं। उपादान कारण तो स्वतःसिद्ध आत्मा है और उसे शास्त्रकी कोई अपेक्षा नहीं। शबर-स्वामीने स्पष्ट कहा है कि मुझे किस वस्तुकी प्राप्तिके लिए साधन करना है, यह तो पुरुषको ज्ञात ही रहता है। मात्र वह उसका उपाय नहीं जानता, अतः उसे उपायका उपदेश किया जाता है।

यदि यह शंका करें कि अकेला निमित्त कारण निरपेक्ष पुष्कल कारण कैसे हो सकता है ? अथवा केवल निमित्तकारण मात्रसे ही किसी कार्यकी सिद्धि कैसे हो सकती है, तो वह भी ठीक नहीं। कारण, प्रकाशके संयोगमात्रसे ही अन्धकार-निवृत्ति सार्वजनिक प्रत्यक्षकी वस्तु है। अत **केवलया भक्त्या** इस भागवत-वचनका यह अर्थ है कि मधुसूदन भगवान्-का एकवार किया हुआ नामोच्चारण ही अशेष, पाप-प्रध्वंसका पुष्कल कारण है। जैसे, गगनाङ्गनमें अवतीर्ण तरणि (सूर्य) तिमिरपटलको सर्वथा उखाड़ फेंकता है। निष्कर्ष यह कि भगवन्नाम-संकीर्तन बिना किसी अन्य सहकारके ही पापक्षयका साधन है। वह न तो किसीका अंग है, न समुच्चित।

हमारा यह कथन कदापि नहीं कि मन्वादि स्मृतियोंमें कथित प्रायश्चित्त पापीको पवित्र नहीं करते। वे पवित्र करते हैं परन्तु सम्यक् पवित्र नहीं : **पुनन्ति, किन्तु सम्यक् न पुनन्ति**—अर्थात् भलीभाँति

पवित्र नहीं करते। 'भलीभाँति'का तात्पर्य यह है कि ये कर्मात्मक प्रायश्चित्त पापक्षय करते हैं, वासनाक्षय नहीं। कारण, वासनाक्षय कर्मसाध्य नहीं है। कर्म भगवद्विमुख व्यक्तिपर अपना अधिकार रखते हैं, वासना-नाशतक उनकी पहुँच ही नहीं। वासनानाश तो भक्ति और ज्ञानसे ही होता है। नारायणका भक्त कर्मात्मक प्रायश्चित्तोंमें प्रवृत्त ही नहीं होता।

साथ ही यह भी ध्यान देनेकी बात है कि कर्मसे कर्मका निर्हार होता है अर्थात् कर्मसे कर्म कटते हैं, यह तो ठीक है। लेकिन वे आत्यन्तिक रूपसे नहीं कटते **न ह्यात्यन्तिक इष्यते**। कारण वासनाएँ शेष रह ही जाती हैं। वे प्रायश्चित्त अभक्त-विषयक हैं। ब्रह्मविद्याके समान ही भक्ति कर्म-निर्हारका आत्यन्तिक साधन है। सवासन पुरुष कभी पाप करता है, कभी छोड़ता है, उसका प्रायश्चित्त तो गजस्नानके समान है। तप, दान, व्रतादिसे पाप मिटते हैं। शत-शत अधर्मसे बना हृदय शुद्ध नहीं होता। उसके लिए तो भगवद्भक्ति ही चाहिए।

यद्यपि नवधा भक्तिका कोई भी अंग अत्यन्त शक्तिशाली है और सबमें सब पाप मिटानेकी सामर्थ्य है; तथापि यहाँ 'भक्ति' शब्दसे केवल कीर्तनरूप भक्तिका ही ग्रहण करते हैं। क्योंकि जैसे प्रत्येक गायका सींग पकड़-पकड़कर उसका परिचय दिया जाय; वैसे ही श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन आदि के भी पृथक्-पृथक् प्रभावोंका वर्णन पुराणोंमें समुपलब्ध होता है।

यह विचारणीय है कि जब मनुष्य एकबार पाप-पथपर चल पड़ता है तो क्या पापसे पाप और फिर पापसे पाप—इस प्रकार उसकी अधो-गतिकी परम्परा प्रारम्भ हो जाती है या नहीं ? पुराणोंमें **पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी** ऐसे वचन मिलते हैं। मानव एकबार पाप करता है, फिर पाप करता है। परमेश्वर भी पूर्व-पूर्वकल्पीय स्वर्ग-नरकसृष्टिके समान पूर्व-पूर्वकल्पीय पाप-पुण्य-परम्पराको भी जाग्रत् करता है; क्योंकि परम दयालु परमेश्वर कर्म सापेक्ष हुए बिना विषम सृष्टिका निर्माण ही नहीं कर सकता। वेदान्त-सिद्धान्तमें भी प्राचीन संस्कार आदिकी अपेक्षाको स्वीकार करके ही इस मायामयी सृष्टिमें पक्षपात और निर्दयतारूप दोषों-का समाधान किया जाता है। ऐसी स्थितिमें जीव केवल कर्मानुष्ठान द्वारा

पाप-पुण्य और उसके फलकी परम्परासे मुक्त नहीं हो सकता। वह तभी मुक्त हो सकता है, जब परिपूर्ण परमेश्वरका अनुधावन करके कर्मपरम्पराके आत्यन्तिक नाशक अन्तःकरणशोधक भगवद्गुणानुवादका आश्रय ग्रहण करें। क्या ही सुन्दर कहा है :

> **विद्या - तपः - प्राणनिरोध - मैत्री-**
> **तीर्थाभिषेक व्रत - दान - जप्यैः।**
> **नात्यन्तसिद्धिं लभतेऽन्तरात्मा**
> **यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते॥**

अर्थात् अनन्त भगवान्‌के हृदयमें प्रकट रूपसे विराजमान होनेपर आत्यन्तिक शुद्धिकी प्राप्ति होती है। साथ ही हमें यह भी स्वीकार है कि यदि कोई कर्मानुष्ठान करते समय भगवान्‌का नामोच्चारण करे तो इससे उसका गुण बढ़ जाता है। फल बढ़ जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि भगवान्‌का नाम जहाँ होगा, वहाँ मङ्गल एवं कल्याणका हेतु ही होगा। हमने तो केवल इतना ही प्रतिपादन किया है कि सर्व पुराणोंका परम तात्पर्य भगवन्नाम-कीर्तनकी स्वतन्त्र प्रधानतामें है, वह किसीका अंग अथवा शेष नहीं है।

(३)

यह सर्वथा स्पष्ट है कि स्मार्त प्रायश्चित्त और संकीर्तन-भक्ति मिल-जुलकर पापक्षयके साधन नहीं हैं। यदि यह मान लिया जाय कि एक विशेष प्रकारके अधिकारोंके लिए नाम-संकीर्तन पापक्षयका साधन है और दूसरे प्रकारके अधिकारीके लिए स्मार्त प्रायश्चित्त, तो व्यवस्था ठीक हो जाती है। अथवा इस प्रकार भी मान लें कि जिसकी रुचि हो, वह नाम-संकीर्तनसे प्रायश्चित्त कर ले और जिसकी उसमें रुचि न हो, वह स्मार्त प्रायश्चित्त कर ले। इस विकल्पसे भी संगति बैठ जाती है।

आगे हम यह सिद्ध करेंगे कि ये दोनों प्रक्रियाएँ असंगत हैं; क्योंकि अधिकारीके कुछ विशेषण होते हैं। जैसे : वह अनुतप्त हो, अज्ञानी हो, श्रद्धालु हो, भक्त हो आदि। अधिकारीके इन विशेषणोंसे युक्त होने-पर ही कीर्तन पवित्र करेगा; अर्थात् कीर्तनको इन विशेषणोंकी अपेक्षा

होगी। तब वह निरपेक्ष साधन नहीं रहा, सापेक्ष साधन हो गया। आगे एक-एक अपेक्षाकी परीक्षा करके यह भी सिद्ध किया जायगा कि कीर्तन उन सबसे निरपेक्ष है।

रही बात विकल्पकी। सो, सुगम साधनके रहते कठिन साधनमें किसीकी रुचि नहीं होगी। लघुके बदले गुरु कौन करेगा? फिर तो स्मार्त प्रायश्चित्तका नितान्त बाध हो जायगा। स्मृतियोंमें किसी-किसी पापका प्रायश्चित्त बारह वर्षों तक व्रत करना भी बताया है। नाम-कीर्तन सुगम एवं तत्काल पूर्ण हो जाता है। ऐसी स्थितिमें स्मार्त प्रायश्चित्त व्यर्थ हो जायँगे। यदि कहा जाय कि कीर्तन स्मार्त प्रायश्चित्त-का खण्डन तो नहीं करता, जो चाहे सो करें। ऐसी स्थितिमें यदि दोनों आदेश समान हो और दोनोंका फल एक हो तो सुगमानुरागिणी इच्छा-का कोई त्याग नहीं कर सकता, दुष्कर गोथियोंमें धरा-का-धरा रह जायगा। 'विधि-वचनोंका फल प्रवृत्ति है और किसी विधिविधानमें लोगोंकी प्रवृत्ति न होना भी एक प्रकारका बाध है'—ऐसा कुमारिल भट्टका कथन है। इस आपत्तिका निराकरण आगे किया जायगा।

केवल कृष्णानुस्मरण :

अब व्यवस्थापर विचार करें। पता नहीं क्यों, कोई-कोई सज्जन स्मृतियोंके प्रति बड़ा अनुराग रखते और पुराणोंसे थोड़ा-थोड़ा डरते हैं। वे कहते हैं कि बड़े पापका बड़ा प्रायश्चित्त, छोटेका छोटा, जानबूझकर कियेका बड़ा और अनजानमें कियेका छोटा, प्रकटका बड़ा, रहस्यका छोटा! स्मार्त प्रायश्चित्त बड़ा है और पौराणिक छोटा, ऐसी व्यवस्था कर लेनेपर स्मार्तोंको बड़ी प्रसन्नता होती है। किन्तु नेक इन वचनोंपर भी ध्यान दीजिये :

पापे गुरूणि गुरुणि स्वल्पान्यल्पे च तद्विदः।
प्रायश्चित्तानि मैत्रेय जगुः स्वायम्भुवादयः॥
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपः कर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्॥

आशय यह है कि मन्वादि धर्माचार्योंने बड़े पापोंके लिए बड़े और छोटे पापोंके लिए छोटे तपःकर्मात्मक प्रायश्चित्तोंका उपदेश किया है। किन्तु उन सब पापोंका एकमात्र सम्पूर्ण प्रायश्चित्त है श्रीकृष्णानुस्मरण।

यह वचन स्वमुखसे ही लघु-गुरु पाप-प्रायश्चित्तविषयक भेदभावका निराकरणकर केवल श्रीकृष्णानुस्मरणरूप प्रायश्चित्तका निर्देश करता है।

क्या कृष्णानुस्मरण निदिध्यासन है?

एक विद्वान्-से सज्जन, जो अपनेको ब्रह्मविद्याका एकान्त पक्षपाती मान बैठे थे, बीचमें आ टपके और उन्होंने एक नया ही पूर्वपक्ष उपस्थित कर दिया। कहने लगे :

'ठीक है, ठीक है, कौन ऐसा नहीं कहता कि श्रीकृष्णानुस्मरण महापातकादि प्रकीर्ण पातकपर्यन्त समस्त पापोंका संहारक है। परन्तु जानते हैं, वह कृष्णानुस्मरण क्या है? वह तो है ब्रह्मविद्या। 'कृषति'का अर्थ होता है : संसारको विदारण करनेवाला। अथवा 'कर्षति'का अर्थ होता है : अज्ञानका नाशक—**कृषति इति वा कर्षति इति वा कृष्णः।** वह स्मृति तो बहुत प्रसिद्ध है जिसमें 'कृष्'को सत्ता और 'ण'को निर्वृति कहा गया है। दोनोंकी एकता अर्थात् परमब्रह्म ही कृष्ण है। उस निरवद्य सर्वात्मा सदानन्द परमात्माका पुनः पुनः चिन्तन ही कृष्णानुस्मरण है। सजातीय प्रत्ययकी आवृत्ति अथवा विजातीय प्रत्ययका तिरस्कार निदिध्यासन ही कृष्णानुस्मरण है। वह आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके कारण श्रवणके प्रति फलोपकारक है। वही तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक पापोंका प्रध्वंस करता है। निदिध्यासन द्वारा पापोंकी निवृत्ति होनेपर निष्प्रतिबन्ध तत्त्वज्ञानका उदय होता है। अतः कृष्णानुस्मरणका अर्थ है : निदिध्यासन, नामसंकीर्तन नहीं।'

मैंने उन्हें समझाया : पण्डित जी महाराज! आपने जो कृष्णानुस्मरणका अर्थ परब्रह्म परमात्माका निदिध्यासन किया, यह प्रसंगकी दृष्टिसे सर्वथा असङ्गत और असुन्दर है। ठीक है, 'कृष्ण' शब्दका अर्थ ब्रह्म है, परन्तु वह तमाल-श्यामल यशोदोत्संगलालित कृष्ण-ब्रह्ममें रूढ़ है। जहाँ रूढ़ि-सिद्ध अर्थ होता है वहाँ योग काम नहीं देता—यह प्रसिद्ध न्याय है। यदि व्युत्पत्ति-लभ्य यौगिक सदानन्द ब्रह्म अर्थमें ही आपका आग्रह हो, तो मधुरस-सिन्धु-निमग्न गोपियों, भयानकभावभीषण पूतनादि शत्रुओं, बहिर्मुखचित्त व्रजपशुओं, लता वृक्षोंको भी निरन्तर अखण्ड मोक्षसुखका दान करनेवाले अनन्तानन्दस्वरूप गोपालशिरोमणि नन्दनन्दनका ही सर्वविध योग वृत्तिसे ग्रहण होना चाहिए, निर्गुण ब्रह्मका

नहीं।" बार-बार ऐसा प्रयोग प्राप्त होनेके कारण 'कृष्ण' शब्दसे पहले नन्दनन्दनकी ही उपस्थिति होती है। उनका अनुस्मरण कीर्तन ही है, ध्यान नहीं। देखिये न, वाक्यशेषमें कीर्तनको ही प्रशंसा की गयी है

> क्व नाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम्।
> क्व जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम्॥

जहाँसे पुनर्जन्म होता है उस स्वर्गलोकमें जाना कहाँ और मुक्तिबीज सर्वोत्तम वासुदेव नामका जप कहाँ? यह अतुलनीय है। वह सोचना ही अयुक्त है कि विधान निदिध्यासनका हो और कीर्तनकी प्रशंसा की गयी हो।

फिर यह भी तो सोचिये विद्वद्वर! कि क्या सर्वान्तर प्रत्यग्वस्तु आत्मा कभी स्मरणके आँगनमें नाचनेके लिए उतरता है? फिर तो उसका प्रत्यक्पना ही व्याहत हो जायगा। प्रत्यक् वस्तुका ग्रहण उपाधि-निराससे होता है। यहाँ नामोपाधिक स्मरण अर्थात् कीर्तन ही विवक्षित है। कीर्तनसे मनमें आये नाम-नरेश अघसंहारक होते हैं। ये ही नाना-विध नरकयातनाकन्दोंके कुदाल हैं। उन्हें लघु और गुरुका, छोटे कन्द और बड़े कन्दका कोई ध्यान नहीं। अतः नाम-संकीर्तनके लिए बड़े पाप-का प्रायश्चित्त स्मार्त और छोटे पापका प्रायश्चित्त नाम यह व्यवस्था सर्वथा असंगत है।

सब पातकोंसे मुक्ति:

और भी देखिये:

> अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
> पुमान्विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥

विवशतासे नामसंकीर्तन करनेपर भी मनुष्य तत्काल सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। यहाँ मूलमें जानबूझकर 'सर्व' शब्दका प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ है महापातक, उपपातक, प्रकीर्ण पातक—सभीसे मुक्ति मिल जाती है। उसमें भी विलम्ब नहीं होता—सद्यः = तत्काल। अतः कीर्तनके सम्मुख छोटे-बड़े पापोंका भेद करके संकीर्तनकी महिमाको संकीर्ण बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्मघात, सुरापान, गुरुतल्पग मन आदि महापापों तथा अन्य पातकोंके नाम

गिनाकर कहा गया है कि चाहे किसी भी तरहका पापी हो, भगवन्नामो-च्चारणसे उसके सभी पापोंका नाश हो जाता है। **सर्वेषामप्यघवताम्, सर्वपातकैः** इन शब्दोंके रहते कीर्तनकी शक्तिमें कोई संकोच करना न्याय नहीं। यह अज्ञानकृत अथवा रहस्यकृत पापके सम्बन्धमें भी नहीं है; क्योंकि अजामिल जानकार और जग-उजागर पापी था और उसके पाप-नाशके प्रसंगमें ही तो यह नाम-महिमा है। विष्णुधर्मपुराणमें जानबूझकर प्रकट रूपमें महापातक करनेवाले क्षत्रबन्धुके तत्काल परमपूत हो जानेका वर्णन है।

नाम-कीर्तन अधिकार-बन्धनसे मुक्त :

किसी-किसीका मत है कि श्रद्धा-भक्तियुक्त प्राणी कीर्तनादि द्वारा पापक्षयका अधिकारी है और जिनमें वे नहीं हैं, वे स्मार्त प्रायश्चित्तके अधिकारी। यहाँ यह विचारणीय है कि पहले श्रद्धा-भक्ति और बादमें पापक्षयके लिए कीर्तन, इसमें साध्य-साधनभाव कैसा है? जब हृदयमें श्रद्धा-भक्ति है तब पाप कहाँ और पापक्षयके लिए कीर्तन क्या? श्रद्धा-अश्रद्धा, भक्ति-अभक्ति कैसे भी कीर्तन करो, पहला कीर्तन पापको नष्ट कर देगा और पुनः पुनःका कीर्तन भगवद्वासनारूप श्रद्धा-भक्तिको जाग्रत् करेगा। लिंगपुराणमें कहा गया है कि एकबार **ॐ नमो नील-कण्ठाय** इस मन्त्रका उच्चारणमात्र ही सर्वपापोंसे मुक्त कर देता है। यह कहना भी अयुक्त है कि जिसे अपने पापोंका पश्चात्ताप हो, वही नामो-च्चारण करके पाप-मुक्त हो सकता है। भला, बतलाइये तो सही, कितना बड़ा पाप, कितना बड़ा पश्चात्ताप, कितना बड़ा नाम-संकीर्तन, यह नाप-तौल करता कौन फिरेगा?

यदि यह माना जाय कि जबतक पापकी निवृत्ति न हो अर्थात् फलकी प्राप्ति न हो, तबतक कीर्तन करना चाहिए, तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि पाप और पापकी निवृत्ति प्रत्यक्षगम्य नहीं, शास्त्रैकगम्य है। शास्त्र कहता है कि संकेत, परिहास, टेक और तिरस्कारसे भी भगवान्के नामका स्मरण किया जाय, तो सारे पाप गिर जाते हैं। तब पश्चात्ताप-पूर्वक नाम लेनेसे ही पाप मिटते हैं, यह नियम कहाँ रहा? जब 'राम-राम कहनेसे क्या होगा' यह कहनेसे भी पाप मिटते हैं, तब पश्चात्ताप-पूर्वक नामोच्चारणसे पाप मिटते हैं, यह कल्पना झूठी है। परिहास और अनादरमें पश्चात्ताप या श्रद्धा-भक्ति नहीं होते। स्तोभ और संकेतमें तो

ज्ञान भी नहीं होता। बार-बार 'सकृत्' शब्दका प्रयोग करके कहा जाता है कि प्रसंगवश उच्चारित नाम भी अघराशिका नाशक है। ऐसी स्थितिमें अधिकारीके सारे विशेषण उपेक्षित हैं और पापका नाश शास्त्रैकगम्य है:

आवृत्तिकी अपेक्षा नहीं :

एकबारके नामोच्चारणसे ही पापक्षय हो जाता है, आवृत्तिकी भी अपेक्षा नहीं। आइये, इस श्लोकके अन्तरङ्गमें प्रवेश कीजिये :

यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत्।
पवित्रकीर्ति तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः॥

सती अपने पिता दक्षकी निन्दा करती हुई कह रही है कि भगवान् शिव परम मङ्गलमय हैं। उनकी कीर्ति जीवके अनर्थरूप भेदभावात्मक पवि अर्थात् वज्रसे रक्षा करती है और स्वमहिमामें प्रतिष्ठित करती है। ब्रह्मादि भी उनकी आज्ञाका उलंघन करनेमें समर्थ नहीं। उनका कितना प्यार, कितना सुगम, कितना सुखोच्चार्य दो अक्षरका नाम है—शिव। उसमें श्रद्धा आदिकी अपेक्षा नहीं, केवल एकबार उच्चारण कर लीजिये। अनेक बार नहीं, केवल एकबार। हृदयसे अर्थका अवधारण हो या न हो, जीभसे बोलभर दीजिये तो वह तत्काल अर्थात् अपूर्वकी उत्पत्ति किये बिना छोटे-बड़े सभी पापोंको नष्ट कर देता है। यह मत सोचिये कि कि नामोच्चारण शिवजीकी समाधि तोड़कर उनके चित्तको अपनी ओर खींचकर, उनका अनुग्रह आपपर बरसाकर आपका कल्याण करेगा; नहीं-नहीं, यह सब कुछ नहीं, वह स्वयं ही पापक्षय कर देता है; इसमें जाति, पंक्ति आदिका भेदभाव भी नहीं है, मनुष्य मात्रका। ऐसे शिवसे द्वेष करनेवाला अभूतपूर्व अमंगल है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इन वचनोंका दूसरा तात्पर्य बताना अर्थात् यह श्रद्धा आदिकी अपेक्षाके निषेधक नहीं हैं, एक साहसकी बात है; क्योंकि ऐसे वचन बार-बार आते हैं और सभी शास्त्रोंमें। देखिये, अजामिलोपाख्यान। इस अजामिलने कोटि-कोटि जन्मके पापोंका भी भोग अर्थात् प्रायश्चित्त कर लिया; क्योंकि भोग और प्रायश्चित्त—दोनों द्वारा समान रूपसे पापका नाश होता है, अतः भोग-वाचक 'निर्वेश' शब्दसे प्रायश्चित्त ही विवक्षित

है। वह प्रायश्चित्त क्या है ? विवश दशामें भगवान्‌के स्वस्त्ययन नामका उच्चारण। आप विवशतामें श्रद्धा-भक्ति ढूँढ़नेका प्रयास मत कीजिये। पापक्षय उच्चारणकर्तामें स्थित श्रद्धा-भक्तिका फल नहीं है, भगवन्नाम-का फल है।

एक दूसरे श्लोकमें देखिये :

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्॥

अजामिल है पापी। पुत्रके लिए उच्चारित नाम नामाभास है। फिर श्रद्धाका प्रश्न ही नहीं उठता। जब उच्चारण किया तभी अर्थात् आवृत्ति नहीं है, फलव्यवधान नहीं है; केवल चार अक्षर (अक्षरोंका समाहार) ! जी हाँ, पाप-नाशके लिए ये ही चारों अक्षर अधिक हैं। नामभास भी समग्र पापक्षयका हेतु है। यह न तो 'आदित्यो यूपः'के समान प्रमाणान्तरसे बाधित है और न 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'की तरह प्रत्यक्षादिसे सिद्ध। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि प्रमाणान्तरसे सिद्ध और भूतार्थवादरूप अर्थवाद भी स्वार्थमें प्रमाण ही होता है। जैसे : हिमका औषध-अग्नि, इन्द्रके हाथमें वज्र। अतः नाम-महिमाके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें सहस्र-सहस्र प्रमाण देख लीजिये।

जैसे ब्रह्मवस्तु दुर्बोध होनेके कारण बार-बार समझायी जाती है और वहाँ न कोई अर्थभेद है और न कोई दोष, वैसे ही नामके प्रसंगमें भी नामोच्चारण-माहात्म्यके एक होनेपर भी बार-बार दुहराना कोई दोष नहीं है; क्योंकि नाम अत्यन्त सुगम है, इसलिए पापी जनकी श्रद्धा इस-पर टिकना कठिन है। वे सोचने लगते हैं कि इतना बड़ा पाप इतने सुगम प्रायश्चित्तसे कैसे दूर होगा ? अतः उनकी अश्रद्धा नामके तिरस्कार-में हेतु बनती है। वह एक और पाप है, उसीको दूर करनेके लिए अनेक युक्तियों द्वारा पुनः पुनः बात समझायी जाती है और, अनेक उदाहरण दिये जाते हैं। जैसे पाप कुहासा है तो नाम सूर्य, पाप इंधन है तो नाम अग्नि; पाप रोग है, तो नाम रोग-निवृत्ति-समर्थ महौषध अमृत।

कुछ लोग कहते हैं कि 'यह सच है नामके लिए पश्चात्ताप, श्रद्धा, भक्ति, आवृत्ति आदिको कोई अपेक्षा नहीं। किन्तु यह सब म्रियमाण अधिकारीके लिए है—मरणासन्न विवशतासे एकबार भी नामोच्चारण

कर ले तो उसके अशेष पापोंका क्षय हो जाय।' लेकिन ऐसा कथन उन लोगोंका है जो नामके प्रति श्रद्धालु तो हैं, पर वह श्रद्धा पूरी नहीं, अधूरी है, मध्यमकोटिकी है। उनकी श्रद्धाका खण्डन न करके इस सम्बन्धमें जो पारमार्थिक पथ है, आगे उसका निर्देश किया जा रहा है।

(४)

पुराण वेदवत् हैं :

नाम-संकीर्तनकी महिमापर उठनेवाले संशय, तत्-सम्बन्धी पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षपर एक दृष्टि डाली गयी। अब इसके सम्बन्धमें सिद्धान्त उपस्थित किया जाता है।

बात यह है कि स्मृतियों और पुराणोंके बीच विरोधके प्रसंगमें विकल्प, व्यवस्था अथवा समुच्चय आदिका समावेश नहीं है। कारण इन दोनोंकी प्रामाणिकता समान नहीं है। आखिर स्मृतियाँ क्या हैं? वेद द्वारा पदार्थका ज्ञान प्राप्त करके महर्षिगण अपने पदों द्वारा उसी अर्थके अन्य वाक्योंकी जो रचना करते हैं, वे ही स्मृतियाँ हैं। और पुराण? वे तो वेद ही हैं। महाभारत और मनुस्मृतिमें कहा है : 'इतिहास-पुराणके द्वारा वेदोंका समुपबृंहण करना चाहिए।' समुपबृंहणका अर्थ है संवर्धन। जो पूरण करे सो पुराण। अवेदसे वेदकी वृद्धि नहीं हो सकती। स्वर्णके अधूरे कङ्कनको शीशेसे पूर्ण नहीं किया जाता।

यह शंका निरर्थक है कि जैसे विजातीय जल द्वारा दूधकी वृद्धि की जाती है, वैसे ही वेदसे भिन्न इतिहास-पुराणों द्वारा वेदकी वृद्धि की जाती है। कारण जलसे दूधकी वृद्धि नहीं, क्षय होता है अतः यह शंका अयुक्त है। वस्तुतः वेद और पुराण दोनों ही एक विशिष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाले पद-समूह एवं अपौरुषेय हैं, अतः वे अभिन्न हैं। भेदका निर्देश तो इसलिए किया जाता है कि वेदोंमें उदात्तादि स्वरोंका नियम होता है, पुराणोंमें नहीं। वैदिक मन्त्रोंमें जैसी आनुपूर्वी है, वैसी पौराणिक वचनोंमें नहीं, यही भेद-निर्देशका हेतु है।

पुराणोंमें पुराणोंके लिए साक्षात् 'वेद' शब्दका ही प्रयोग है। पुराणोंको 'पञ्चम वेद' भी कहा गया है। यदि दोनों एक जातिके न होते तो पञ्चम संख्याका सन्निवेश न होता। ब्रह्मयज्ञाध्ययनके प्रसंगमें ब्राह्मण,

इतिहास और पुराणका स्वाध्याय भी विहित है। यह पुराणोंके अवेद होनेपर कथमपि सम्भव नहीं था। स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि काल-वशात् पुराणोंका प्रचार-प्रसार कम देखकर मैं व्यासावतार ग्रहणकर उनका सङ्कलन करता हूँ। मात्स्य, कौर्म आदि नाम काठक आदिके समान प्रवचनमूलक हैं अथवा आनुपूर्वीके निर्माणके कारण हैं। श्रुतियों और पुराणोंमें विरोध होनेपर नियतानुपूर्वीयुक्त श्रुतियाँ पुराणोंकी अपेक्षा प्रबल होती हैं। किन्तु जहाँ स्मृति और पुराणोंका विरोध होता है, वहाँ स्मृतियोंकी अपेक्षा पुराण ही प्रबल हैं।

ऐसी स्थितिमें पुराणोंका प्रामाण्य असीमित है। उनके द्वारा प्रति-पादित अर्थ वास्तविक हैं। यह संशय नितान्त असंगत है कि पौराणिक वचनोंकी ऐसी प्रामाणिकता स्वीकार करनेपर स्मृतियोंका विषय-सर्वस्व ही बाधित हो जायगा। हमारा कहना है कि भले ही स्मृतियाँ बाधित हो जायँ, पर पुराणोंका स्वारस्य कुचलकर व्यवस्था आदिकी कल्पना नहीं की जा सकती। नारदीय-पुराणमें कहा गया है कि वेदार्थसे भी अधिक पुराणार्थ है। पुराणोंमें वेदार्थ प्रतिष्ठित है। यदि शान्त-दान्त पुरुष भी पुराणोंको मिथ्या माने तो उसकी सद्‌गति नहीं होती। उसे तिर्यक्‌योनि प्राप्त होती है। स्कन्दपुराण भी यही आशय प्रकट करता है : श्रुति-स्मृति नेत्र हैं। पुराण है हृदय। नेत्र एक न हो तो काना, दो न हों तो अन्धा, परन्तु पुराण ही न हो तो हृदय-शून्य। अतः स्मृति और पुराणके बीच विरोधमें पुराण ही न्यायतः विजयी हैं।

पौराणिक व्यवस्थाका आशय :

कोई यह कहे कि यदि हम अपनी ओरसे व्यवस्था करते तो दूसरी बात थी। पुराणोंके वचन ही स्वयं अपनी व्यवस्था बनाते हैं। जैसे : जबतक वैराग्य न हो, तबतक कर्माधिकार है। जब न पूर्ण वैराग्य हो और न पूर्ण आसक्ति, तब भक्तियोगाधिकार है। पूर्ण वैराग्य होनेपर ज्ञानयोगाधिकार है। ऐसी स्थितिमें व्यवस्था-पक्षी हमपर आक्षेप क्यों ?

इसका उत्तर यह है कि इस प्रकारकी व्यवस्था मुमुक्षुके लिए है। मुमुक्षुके जीवनमें उसकी चित्तदशाके भेदसे कर्म, भक्ति एवं ज्ञानकी व्यवस्था है। उसमें कोई विरोध नहीं है। 'विश्वासके अनुरूप सिद्धि मिलती है' इस वचनसे भी कीर्तन आदिकी शक्तिका माप नहीं होता।

उसकी शक्ति अपरिमित है। पात्रके परिमाणसे समुद्र-जलका परिमाण निश्चित करना तर्क-संगत नहीं। मन्त्रका प्रभाव निरंकुश होता है। विश्वासकी मात्रासे वह एक मात्रामें गृहीत होता है।

कीर्तन श्रद्धा-निरपेक्ष :

जो लोग कहते हैं कि श्रद्धापूर्वक नाम-संकीर्तन करनेपर ही फलप्रद होता है, उनका मत ठीक नहीं है। हम उनसे पूछते हैं कि क्या श्रद्धासे मनुष्यकी प्रवृत्ति मात्र ही कीर्तनमें पुराणोंकी है अथवा कीर्तनादिके फल-साधनमें श्रद्धाका अन्तर्भाव होता है? अभिप्राय यह कि यदि श्रद्धा वृत्तिका ही हेतु है तब तो कोई बिना श्रद्धाके कीर्तन करने लगे तो उसे फल अवश्य मिलेगा; क्योंकि फलका हेतु कीर्तन है अर्थात् पापक्षय होगा ही, होगा। यदि कहो कि श्रद्धा पापक्षयरूप फलमें हेतु है, तो यह हेतुता अर्थात् पापक्षयकी साधनता कैसे ज्ञात हुई—शास्त्रसे अथवा प्रत्यक्षादि किसी अन्य प्रमाणसे? इसके सम्बन्धमें अनेक पक्षप्रतिपक्ष हैं। श्रद्धा-सहकृत कीर्तनको श्रद्धाका आलम्बन माननेपर आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक एवं अनवस्था आदि दोषोंकी प्राप्ति होती है। अतः शास्त्रप्रमाण द्वारा कीर्तनमें श्रद्धाकी अपेक्षा मानना असंगत है। श्रद्धा हो तो कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु न हो तो पापक्षयरूप फलमें न्यूनता नहीं आ सकती। निष्कर्ष इतना ही है कि कीर्तनमें श्रद्धाकी अनिवार्यता नहीं है।

यदि वह पूर्वपक्ष उठाया जाय कि जैसे विश्वासपूर्वक आयुर्वेदिक औषधका सेवन करनेपर रोग-निवृत्तिरूप लाभ होता है, वैसे ही विश्वास-पूर्वक कीर्तन भी लाभकारी है। इसका उत्तर यह है कि औषधविषयक विश्वास लोक-व्यवहारके दर्शनसे होता है, केवल शास्त्रोक्त होनेसे ही नहीं। किन्तु कीर्तन और पापक्षयका सम्बन्ध प्रत्यक्षादिगम्य नहीं, शास्त्रैकगम्य है, अतीन्द्रिय है, उसे श्रद्धाकी सहायता अपेक्षित नहीं है। हेत्वाभासदूषित अनुमानों द्वारा कीर्तनको श्रद्धा-परतन्त्र बनानेकी आवश्यकता नहीं।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि यदि किसी कर्मके अनेक अंग हों, वह बहुधनसाध्य हो, बरसोंतक करना पड़े और करनेमें बहुत कठिन हो, तब श्रद्धाके बिना उस कर्ममें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती। वहाँ श्रद्धालु अधिकारी होता है और साधन श्रद्धासापेक्ष होता है। पर जहाँ साधन

सुगम होता है, जैसे कीर्तनादि, वहाँ प्रकारान्तरसे भी प्रवृत्ति हो सकती है। वहाँ श्रद्धासे ही प्रवृत्ति हो, यह आवश्यक नहीं। शास्त्रीय व्यवस्था भी ऐसी ही है। अतः श्रद्धाको कीर्तनाधिकारका हेतु मानना अयुक्त है।

भक्ति कीर्तनके पहले नहीं, पीछे

भक्तिपूर्वक नाम-संकीर्तनसे पापक्षय होगा—यह कल्पना भी असंगत ही है; क्योंकि यदि नवधाभक्ति प्राप्त करके कीर्तन करें, ऐसा अभिप्राय हो तब तो नवधा भक्तिके अन्तर्गत कीर्तनका अधिकारी नवधा भक्ति-विशिष्ट होना चाहिए, इस कथनमें ही वदतोव्याघात है। यदि भाव-भक्तिसे युक्त कीर्तनका अधिकारी है—ऐसा कहें तो भावभक्ति कीर्तनका फल है, अपने पूर्ववर्ती अधिकारका विशेषण नहीं। भावभक्तिकी प्राप्तिकी इच्छासे कीर्तन करें—ऐसा कहा जा सकता है। पापाचरण-जनित दोषके निरासके लिए कीर्तन करें—ऐसा कहना ठीक है। कीर्तनसे पापक्षय होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'भावोदय होनेके पश्चात् भगवद्भजन ही पापका नाश करता है—यह ठीक है। परन्तु भावोदयके पूर्वके पापोंके प्रायश्चित्तके लिए स्मार्त विधि-विधानके अनुसार व्रतादिका अनुष्ठान करना ही चाहिए।' किन्तु उनका यह कथन अविचारित-रमणीय है; क्योंकि कीर्तनसे पाप नष्ट होनेपर ही भाव-उदय होगा। पापके नष्ट होने-पर भी अन्तःकरणमें कामादिकी विद्यमानताके कारण पुनः-पुनः अशुभ वासनाका उदय होना सम्भव है। उनकी निवृत्तिके लिए भावोदयकी अपेक्षा है, पापक्षयके लिए नहीं।

पुराणोंमें ऐसे प्रसंग आते हैं कि यमराज अपने दूतोंको आदेश देते हैं : 'सावधान ! भूल कर भी भगवत्प्रेमी भक्त सन्तोंके पास मत जाना। उन्हें दूरसे ही छोड़ देना। हम उनके शासक नहीं हैं' इत्यादि। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ऐसे भगत्प्रेमी सन्तोंके पास यमदूतोंके जानेका प्रसंग ही कहाँ है ? उनके पास न पाप है और न वे पापी हैं। वहाँ यमदूतोंके निषेधका क्या अभिप्राय है ?

यह सच है कि सत्पुरुषोंके पास पाप नहीं होते। राग-द्वेष आदि न होनेपर भी प्रमादवश कुछ हो जाय, तो भावपूर्वक नाम-कीर्तनसे ही वह मिट जाता है। वहाँ भी कीर्तन ही पापको नष्ट करता है। भाव तो वहाँ भी उदासीन ही रहता है। अत्यन्त तुच्छके साथ क्या उलझना ?

ऐसे सत्पुरुषोंके लिए यमपुरीमें लाने या नरकमें गिरानेका तो कोई प्रसंग ही नहीं है। बात यह है कि उनके आस-पास रहनेवाले लोग भी यमराजके शासनसे बाहर हैं, अतः यमराज यमदूतोंको उपदेश देते हैं कि 'जिस पथपर सन्तोंकी कुटिया भी पड़ती हो, वहाँ मत जाओ। दूरसे, दूरतकसे उन्हें छोड़ दो।'

उपनिषदोंमें भी ऐसे प्रसंग आते हैं कि जिन्हें सर्वत्र भगवद्भाव अथवा सर्वात्मभावकी प्राप्ति हो गयी है, उनके दृष्टिगोचर सभी प्राणी यमराजके शासनसे मुक्त हो जाते हैं। उनके द्वारा दृष्टिगोचर सीमामें यमराज अथवा यमराजके दूतोंकी गति नहीं है।

यह तो प्रसिद्ध ही है कि तीर्थादि चिरकालमें पवित्र करते हैं और सन्त दर्शनमात्रसे। वह दर्शन भले ही सन्त प्राणीका करे या प्राणी सन्तका—दोनों ही पावन हैं। कीर्तनकी ध्वनि चारों ओर फैलकर सारे व्यवधानोंको फाड़ डालती है और अन्ध-बधिरोंके लिए भी कीर्तन ही पापक्षयका हेतु है, भक्ति न उसका अंग है और न अधिकारीका विशेषण।

कीर्तनमें ज्ञानकी शर्त नहीं :

कीर्तनीय परमेश्वरका ज्ञान भी कीर्तनमें पापक्षयके लिए अपेक्षित नहीं है। विवशता, संकेत, परिहास, दस्युच्छल आदि प्रसंगोंमें उच्चरित नाम भी पापध्वंसक है। यह सिद्ध किया जा चुका है कि इनका कोई अन्य तात्पर्य नहीं है; क्योंकि ये बार-बार दुहराये गये हैं और समस्त शास्त्रों में इनका संवाद है। 'अपि' शब्दका प्रयोग भी सर्वत्र हो, ऐसा नहीं है। कहीं-कहीं **यद् व्याजहार विवशो** आदिमें 'अपि' शब्दका प्रयोग नहीं है। वहाँ 'अपि' शब्दका अध्याहार करना भी उचित नहीं है; क्योंकि शास्त्रोक्त बातको सिद्ध करनेके लिए अध्याहार किया जाता है, शास्त्रोक्तका बाध करनेके लिए नहीं। नाम-संकीर्तन तद्विषयामति अर्थात् ब्रह्मविद्या एवं स्वस्त्ययन अर्थात् मोक्ष भी दे सकता है तो पापक्षयमें क्या रखा है? देखिये, शास्त्रवचन ही स्पष्ट निर्देष करते हैं :

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसां दहत्येधो यथाऽनलः॥
यथाऽगदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।
अजानतोऽप्यात्मगुणान् कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः॥

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

ज्ञान और अज्ञान दोनों दशाओंमें उच्चरित नाम पापक्षयका हेतु है। दृष्टान्त है, ज्ञात-अज्ञात दोनोंका ही अग्नि दाहक होता है। ज्ञात-अज्ञात दोनों प्रकारके मन्त्र अपना गुण प्रकट करते हैं। दुष्टचित्त पुरुषों द्वारा स्मृत हरि भी पापहरण करते हैं, जैसे अनिच्छा संस्पृष्ट-अग्नि भी जलाता है। चार अक्षर 'नारायण', दो अक्षर 'हरि', दो अक्षर 'शिव'— यह कहनेका अभिप्राय ही यह है कि नाम अर्थानुसन्धानकी अपेक्षा नहीं रखता। निष्कर्ष यह कि नाम संकीर्तनके लिए ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है। कीर्तनके द्वारा पापक्षय होनेपर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, ज्ञान प्राप्त करके कीर्तन किया जाय, तब तो सर्वथा उल्टा ही हो जायगा। फलको साधन बनानेकी चेष्टा अनुचित है।

कीर्तनमें अनुतापकी अपेक्षा नहीं :

यह कहना कि पाप करनेके बाद जिसे पश्चात्ताप होता है उसका तो एकबार नामोच्चारणसे ही पाप नष्ट हो जाता है परन्तु जिसे पश्चात्ताप नहीं होता उसे पुनः-पुनः नामकीर्तन करना चाहिए। पर यह व्यवस्था भी पूर्णतः मान्य नहीं है। मुख्य विचारणीय यह है कि पापकी निवृत्ति विधिके सामर्थ्यसे होती है कि नामके सामर्थ्यसे ? यदि विधि-सामर्थ्यसे होती है तो दोनों ही जगह पश्चात्तापकी आवश्यकता है; क्योंकि जिसे पश्चात्ताप है, वही प्रायश्चित्तका अधिकारी है। यदि नामके सामर्थ्यसे पापकी निवृत्ति होती है तो कहीं भी पश्चात्तापका उपयोग नहीं है। सूर्य तपस्वीकी आँखोंके सामनेसे अन्धकार हटा दे और भंगीके नेत्राञ्जनमें व्याप्त अन्धकारका अपनयन न करे—ऐसा सम्भव नहीं है; क्योंकि पदार्थका स्वभाव पुरुषगत योग्यताकी अपेक्षा नहीं रखता।

यह निश्चय है कि नाम अपनी महिमासे ही पापक्षय करता है, विधानके सामर्थ्यसे नहीं। विधिके दो प्रकार हैं : एक 'कीर्त्तितव्य' आदि वाक्य और दूसरा कीर्तनरूप कार्य। इनमें-से प्रथम विधि प्रमाणरूप ही है प्रमाण, प्रमेयमें अविद्यमान महिमाको उत्पन्न नहीं करता ? किन्तु यथावस्थित वस्तुतत्त्वको ही अज्ञातसे ज्ञात कराता है। शबर स्वामीने ठीक ही कहा है कि मनुष्यको उपायका ज्ञान नहीं है, इसके लिए उसे

उपाय बतलाया जाता है। नैष्कर्म्यसिद्धिकार श्री सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि शास्त्र सूर्यवत् है, वह प्राप्ति-परिहारके उपाय प्रकाशित करता है। यदि विधिका प्रकार नाम-कीर्तनादिका अनुष्ठान हो, तो वह सीधे अपने फल पापक्षयको उत्पन्न करेगा, वह दूसरे साधनके अधीन नहीं होगा। नाम स्वतः पावन और पाप-निवर्तक है। क्या सूर्य जन-नयनाञ्जनसे तिमिरापनयन करनेके लिए बार-बार उदय होता है? एकबारका नाम पर्याप्त है—पापक्षयके लिए।

ऐसी स्थितिमें जिन शास्त्र-वचनोंमें अनुताप और आवृत्तिका अभिधान है, उनकी क्या व्याख्या हो सकती है?

लीजिये, पश्चात्ताप होनेपर एकमात्र हरिसंस्मरण ही केवल प्रायश्चित्त है; इसका एतावन्मात्र ही अभिप्राय है कि कीर्तन पापक्षयका साधन है। 'प्रायश्चित्त' शब्दका मुख्य अर्थ कीर्तन नहीं हैं। प्रायः = तप। चित्त = निश्चय। कीर्तन न तप है, न निश्चय। अभिप्राय यह है कि जैसे प्रायश्चित्त हितका साधन है वैसे कीर्तन हितका साधन है। हित क्या है? सुखकी प्राप्ति और अनर्थकी निवृत्ति। अनर्थ-परिहाररूप हित यह स्पष्ट करता है कि कीर्तन विधिप्राप्त है। जो जिससे अनुतप्त होता है, उसके लिए अनुतापके कारणकी निवृत्ति ही हित होती है। जो पापसे अनुतप्त है उसके लिए कीर्तन हित अर्थात् पाप-निवृत्तिका साधन है। बार-बार 'परम', 'एकम्', 'सकृत' कहकर इसे निरपेक्ष साधन बताया गया है।

हाँ, इतना अवश्य है कि संकीर्तन कोई कठिन कार्य नहीं है, अतः पश्चात्ताप होनेपर ही इसमें प्रवृत्ति हो, यह आवश्यक नहीं है। सुन-सुनाकर, देख-दिखाकर इसमें प्रवृत्ति हो सकती है। पापक्षयकी कामना हो तभी कीर्तन फल दे, यह आवश्यक नहीं है। यदि कोई यज्ञ करे तो उसे स्वर्ग मिलेगा; परन्तु वह इतना बड़ा काम है कि कौतूहलसे या देख-सुनकर उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। काम्य कर्मका परित्याग कर देना चाहिए—ऐसा भी शास्त्रादेश है।

आवृत्ति और पापक्षय :

अब हम इस निश्चयपर पहुँच गये कि नामकीर्तन ही पापक्षयका हेतु है। तब आवृत्तिका क्या प्रयोजन है? भूत पापोंकी निवृत्ति कीर्तनसे

और भविष्यमें सम्भव पापोंकी निवृत्ति आवृत्तिसे। आइये, इसपर थोड़ा विचार करें।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि यदि प्रायश्चित्त करनेपर भी मन पुनः असन्मार्गमें जाता है तो वह ऐकान्तिक प्रायश्चित्त नहीं हुआ। बार-बार भगवद्गुणानुवादका कीर्तन अन्तःकरणको आत्यन्तिक रूपसे शुद्ध कर देता है अर्थात् आवृत्ति अत्यन्त शुद्धिका साधन है। यह अत्यन्त शुद्धि क्या है? वासना सहित पापोंका क्षय। मुमुक्षु अधिकारियोंके लिए 'कर्मबन्ध-निकृन्तन' 'तीर्थपदानुकीर्तन' ही है। जो 'केशवालम्बन' है उसका यम, यमदूत यातना—कोई कभी अनिष्ट नहीं कर सकते। जहाँ अष्टाक्षर ब्रह्मविद्याकी आवृत्तिका प्रसंग है वहाँ मोक्ष प्रकरण है और परम शुद्धि ही विवक्षित है। अथवा पूर्वोक्त प्रसंगका यों भी समाधान कर सकते हैं कि एकबार नामोच्चारणसे पाप नष्ट हो गये परन्तु अश्रद्धाके कारण अपनी अपवित्रताका भ्रम दूर नहीं हुआ। ऐसी स्थितिमें दुःखकी निवृत्ति भी नहीं होगी। उसको दूर करनेके लिए पुनः-पुनः आवृत्ति अपेक्षित है। एक यह भी समाधान है कि एकबार के नामकीर्तनसे अप्रारब्ध पापका नाश हो जाता है। प्रारब्ध पापके नाशके लिए आवृत्ति निरूपण है। यही 'सद्यः-सद्यः' की संगति है।

मृत्यु और कीर्तन :

कुछ लोगोंका ऐसा विचार है कि श्रद्धा-विश्वासके बिना भी नामोच्चारण समस्त पापोंका क्षय कर देता है परन्तु वह केवल मरते समयके नामोच्चारणके सम्बन्धमें ही है। ऐसा कहना भी अविचारित रमणीय है। अजामिलके लिए जहाँ म्रियमाण' शब्दका प्रयोग है, वहाँ उत्तरार्द्धपर भी ध्यान दोजिये :

म्रियमाणो हरेर्नाम गृह्णन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन्॥

वास्तविकता यह है कि यहाँ मरणकालमें नाम लिया जाय—यह अर्थ विवक्षित नहीं है। इस श्लोकमें कैमुत्य-न्यायका प्रयोग है। इसका स्वरूप यह है, जैसे यह लकड़ी-पत्थर भी पचा सकते हैं तो पूरी-कचौड़ीमें फिर रखा ही क्या है? ऐसे स्थलोंमें 'भी' शब्दके साथ जो बात कही जाती है वह गौण होती है और 'क्या' के साथ बोली जाती है वह मुख्य

होती है। यदि इस प्रसंगमें म्रियमाणता विवक्षित होती तो यों कहा जाता कि स्वस्थ पुरुष भी कीर्तनसे ऐसा हो जाता है तो जो मर रहा है उसके लिए क्या कहना ! परन्तु बात ऐसे नहीं कही गयी। अजामिल म्रियमाण था, बेहोश। श्रद्धाका सामर्थ्य नहीं था। पुत्रके प्रति हरि-नामका उच्चारण किया, फिर भी कल्याण-भाजन हो गया। फिर जीवनकालमें श्रद्धाके साथ; जानबूझकर भगवन्नामका उच्चारण हो तो क्या कहना ! यहाँ मृत्युके समय नाम-संकीर्तन करे—यह विवक्षित अर्थ नहीं है। सच पूछें तो, अजामिल वास्तवमें म्रियमाण नहीं है, वह तो बादमें भी जीवित रहा। पापक्षय हो जानेसे कल्याणके मार्गमें पड़ गया। मरते समय ही भगवान्‌का नाम लेना चाहिए।

ऐसा कौन करता है ? ठीक-ठीक मृत्युके समय नामोच्चारण सर्वथा अशक्य है इसलिए वैसा अर्थ माननेमें अशक्यानुष्ठान लक्षण अप्रामाण्य भी है।

कीर्तन अनुष्ठानसे भिन्न :

नामोच्चारणके लिए ग्रहण आदि काल, पर्वतशिखर आदि देश, कुश-ऊर्णा आदि पवित्र आसनोंका जो निर्देश मिलता है, वह विधिपूर्वक अनुष्ठानका अंग है। अनुष्ठान, पुरश्चरण आदिसे मन्त्रोंका संस्कार होता है, अग्न्याधानके समान। संस्कार करके लौकिक एवं पारलौकिक फलोंकी प्राप्तिके लिए उनका विनियोग होता है। अतः नामोच्चारणके द्वारा पापक्षय रूप फलकी प्राप्तिमें उनका उपयोग नहीं है।

मानसिक शुद्धि मुमुक्षुके लिए :

मनकी एकाग्रता, पवित्रता, मौन, मन्त्रार्थ-चिन्तन आदि नामोच्चारणके लिए अनिवार्य अंग नहीं हैं। उनसे जप-सम्पत्ति होती है। सम्पत्ति सकाम कर्ममें आवश्यक है, पापक्षय तो कीर्तनसे ही हो जाता है।

एक दूसरा समाधान यह भी है कि जप दूसरी वस्तु है और, कीर्तन दूसरी। उनकी आवश्यकता जपके लिए है, कीर्तनके लिए नहीं। नाम हृदयको पवित्रता देता है। हृदय पवित्र हो जानेपर ही नामो-च्चारण करना चाहिए—यह नियम नहीं है। कीर्तनके प्रसंगमें जहाँ-जहाँ नियमका उपदेश मिलता है, वह मोक्ष-साधनाका अंग है, पाप-क्षयार्थ नहीं। जैसे समाधि ज्ञान द्वारा मोक्षका साधन है वैसे ही कीर्तन

भी। यह श्रवणके समान साक्षात् साधन नहीं, अन्तःकरणाशुद्धि-रूप प्रतिबन्धका निरास करके साधन है।

कीर्तनसे मोक्षका क्रम :

कीर्तनसे पापोंका क्षय होता है। कीर्तनकी आवृत्तिसे भगवद्-विषयक वासनाएँ बढ़ती हैं और पाप-वासनाएँ क्षीण होती हैं। सन्त-जनोंकी निरन्तर सेवा होती है। उनके श्रीमुखसे भगवन्महिमाका श्रवण करनेसे पुण्यश्लोक-शिरोमणि भगवान्में समृद्ध नैष्ठिकी भक्तिका उदय होता है। शोकादि उच्छिन्न हो जाते हैं। सत्त्वका परमोत्कर्ष होता है। इसके बाद तत्त्वसाक्षात्कार होकर मुक्ति होती है। यह क्रम श्रीमद्भागवतमें देखा जा सकता है। वेदान्त-श्रवण करनेपर भी प्रतिबन्धवशात् ज्ञान न हो तो भक्ति प्रतिबन्धको मिटा देती है। यदि वेदान्त-श्रवण न हो तो स्वयं भगवान् देहान्तके समय तत्त्वज्ञानका उपदेश कर देते हैं।

नाम कीर्तन वेदोक्त :

भगवान्का कीर्तन आदि किसी भी नाम अथवा मन्त्रके द्वारा किया जा सकता है। कीर्तन मुक्तिफलके साक्षात् साधन ज्ञानका हेतु है—यह बात अनेक वेदमन्त्रोंके द्वारा वर्णित नाम-महिमासे भी प्रकट होती है। 'मनामहे', 'विवक्मि' आदि पदघटित मन्त्रोंका अनुसन्धान कीजिये। जहाँ-जहाँ कीर्तनके लिए किसी धर्मका उल्लेख है, वहाँ-वहाँ पापक्षयके लिए नहीं, अमृतत्व-साधनके लिए। यही कारण है कि पुराणोंमें अद्भुत कथाएँ मिलती हैं। एक व्याडिनाभ नामका व्याध था। वह स्वयं तो हिंसापरायण था ही, दूसरोंको भी हिंसाके लिए प्रवृत्त करते समय आहर', (लूट लाओ), 'प्रहर' (प्रहार करो), 'संहर' (मार डालो)—ऐसा बोला करता था। इस प्रसंगवश किये हुए 'हर' नामोच्चारणसे भी उसके पाप दूर हो गये और दूसरे जन्ममें उसे तत्त्वज्ञान हो गया।

नामकीर्तन विधि है :

जहाँ विधि होती है वहाँ [illegible], किसके द्वारा, किस प्रकार कर्म करे ? इन सब कर्तव्यताओंका वर्णन होता है। कीर्तनके साथ जब कोई अपेक्षा ही नहीं है, तब विधि कैसे ?

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'सत्य बोले', 'धैर्य रखे' ये जो विधि-वाक्य हैं—इनके साथ किसी अंगका उपदेश नहीं है और न तो इनमें

अतिदेश ही किया जा सकता है। ऐसी स्थितिमें क्या ये विधिवाक्य नहीं हैं? अवश्य हैं। इनमें यदि किसी सहायककी अपेक्षा है तो केवल इतना ही कि जिह्वा, तालु, कण्ठ आदिके संयोगसे नामोच्चारण हो सके। अच्छा, यह तो बताइये कि जैसे कर्म-सम्बन्धी अपूर्व विधियाँ होती हैं, वैसे ही यदि अन्य प्रमाणसे अनवगत यह कीर्तन भी पापक्षयके लिए अपूर्व विधि हो तो क्या आपत्ति है? बिना किसी बाधाके कीर्तनके द्वारा पापक्षय सिद्ध है। इसपर कोई पर्दा नहीं डाला जा सकता।

प्रत्येक नामकी शक्ति अनन्त :

प्रश्न यह है कि भगवान्‌के प्रत्येक नाममें पापक्षयकी इतनी शक्ति है वा सब नामोंको मिलाकर या किसी-किसी विशेष नाममें? इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌के प्रत्येक नाममें ही ऐसा सामर्थ्य है। यह कहना गलत है कि फिर तो नरक-सृष्टि निरर्थक हो जायगी। पूर्वपापका दाह हो जानेपर भी उत्तरकालिक पापसे अथवा महापुरुषोंके अपमानसे नरककी प्राप्ति होगी। अतः नरकका होना भी सफल रहेगा। राजा भरतकी मृगासक्ति, ऋषभदेवके अनुग्रह और उपासनाके फलमें प्रतिबन्धक हो गयी। ब्रह्मवित् सनकादिकोंका अपमान करनेसे वैकुण्ठवासी जय-विजयका भी अधःपतन हुआ। भगवान्‌ने स्पष्ट कह दिया कि 'यदि महात्माओंके विपरीत चलें तो मैं अपनी भुजाओंको भी काट सकता हूँ।' भगवान् भक्तके अधीन हैं—यह प्रसिद्ध ही है। एक चिन्तामणिकी जितनी महिमा है उतनी ही सहस्रों चिन्तामणियोंकी। कल्पवृक्ष और कामधेनुकी गणना अधिक होनेसे उनकी महिमा नहीं बढ़ती। एक-एक भगवन्नामकी महिमा निरंकुश है। निश्चित ही नामापराध भी नामसे ही निवृत्त होते हैं।

स्मार्त प्रायश्चित्त व्यर्थ नहीं :

ऐसी स्थितिमें क्या स्मार्त प्रायश्चित्त सर्वथा व्यर्थ हैं, इसका उत्तर है—नहीं, वे भी सार्थक हैं। पुराणोंने भी यह स्वीकार किया है कि तप, दान और व्रतसे पापोंकी निवृत्ति होती है। स्मार्त प्रायश्चित्त व्यर्थ तो तब होते, जब कहा जाता कि केवल कीर्तन ही करे, दूसरा कुछ न करे। प्रायः मनुष्योंकी बुद्धि अश्रद्धासे ग्रस्त रहती है, इसलिए संकेत, परिहास आदिके व्याजसे ही उनकी ऐसी प्रवृत्ति हो, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता। अतः स्मार्त प्रायश्चित्तके लिए पूरा-पूरा अवकाश है। लोक-

व्यवहारमें देखा जाता है कि किसीकी प्रवृत्ति सुगम चिकित्सामें होती है और किसीकी कठिन चिकित्सामें। अपनी-अपनी रुचि है। किसी-किसीको स्वभावसे ही सुकर चिकित्सा नहीं रुचती। काष्ठौषधिसे निवर्त्य रोगके लिए भी स्वर्णगणिघटित रसभस्मका ही प्रयोग करते हैं। वस्तुतः दुर्वार दुर्वासनासे ग्रस्त मनुष्योंके हृदयमें पुरुषोत्तमसे विमुखता ही निवास करती है। वे नाममें प्रवृत्त नहीं हो सकते। उनके लिए स्मार्त प्रायश्चित्त सफल, सार्थक एवं सावकाश हैं।

कीर्तनकी महिमा यथार्थ है :

अश्वमेध यज्ञानुष्ठान और यज्ञका ज्ञान—दोनोंका समान फल कहा गया है। ऐसा भी है कि 'पूर्णाहुतिसे ही कामना-पूर्ति होती है।' यदि इन वचनोंको ज्यों-का-त्यों यथार्थ मान लिया जाय तो कोई कर्मानुष्ठान क्यों करे ? ज्ञान और पूर्णाहुतिसे ही सारा फल मिल गया। अतः इन्हें अर्थवाद मानना पड़ता है। परन्तु यह दृष्टान्त देकर नामकीर्तनकी महिमाको अर्थवाद नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ज्ञान यज्ञका अंग है। अश्वमेधको जानो; फिर अश्वमेध करो। पहले यज्ञ कर लो, तब पूर्णाहुति करो। परन्तु नामकीर्तन न स्मार्त प्रायश्चित्तका अंग है और न नामकीर्तनके कारण प्रायश्चित्त व्यर्थ ही होते हैं। अतः नामकीर्तनकी महिमा यथार्थ है, अर्थवाद नहीं।

निबन्धका प्रयोजन :

अच्छा, अब एक प्रश्नका उत्तर हम चाहते हैं। आपका कहना है कि बिना श्रद्धाके केवल नामकीर्तनमात्रसे ही पापक्षय हो जाता है, यही न ! तो आप यह बतलाइये कि इतना बड़ा निबन्ध लिखनेकी क्या आवश्यकता थी, इससे किस प्रयोजनकी सिद्धि हुई ? आप इसके द्वारा श्रद्धा ही तो सिद्ध कर रहे हैं। फिर तो आगये मार्गपर, कीर्तनके लिए श्रद्धाकी आवश्यकता है। इसका उत्तर यह है कि यह सच है। नामकीर्तनसे पाप तो दूर हो जाता है परन्तु अश्रद्धाके कारण मानसिक दुःखकी निवृत्ति नहीं होती, अतः अश्रद्धाकी निवृत्तिरूप मानसिक शान्तिके लिए इस निबन्धकी रचना की गयी है।

'वीरमित्रोदय'के 'भक्तिप्रकाश'का सार

भगवान्‌का ऐसा स्वभाव है कि उत्तराके गर्भमें स्थित शिशु अपने भविष्य जीवनमें भागवतका श्रवण करेगा यह ध्यानमें रखकर माताके कुक्षिमें गदाधारी बनकर ब्रह्मास्त्रसे उसकी रक्षा की। इसका अभिप्राय यह है कि जिसके जीवनमें भावी भक्तिका बीज होता है, जो श्रवण, कीर्तन, स्मरण करनेवाला होता है, पहलेसे ही प्रभु उसके पाप-ताप मिटाकर उसे सुरक्षित कर देते हैं।

ग्राहने क्रोधवश गजराजके चरण पकड़ लिये। प्रभु चाहते तो दूरसे चक्रके द्वारा आक्रमण करके भी गजेन्द्रको ग्राहसे मुक्त कर सकते थे। परन्तु उन्होंने करुणावश स्वयं जलमें प्रवेश किया और गजराजको अपने करकमलोंसे उठाकर बाहर रखा और गज, ग्राह दोनोंका उद्धार किया।

द्रौपदीने कौरवोंकी सभामें नग्न होते समय द्वारकावासी श्रीकृष्णको उलाहना देते हुए पुकारा था—क्या तुम मेरी यह अवमानना नहीं देख रहे हो? उसका यह आक्रोश श्रीकृष्णके हृदयमें चुभ गया। वे महाभारत युद्धसे पहले बार-बार स्मरण करते थे—मुझपर द्रौपदीका ऋण बढ़ गया है। उसका बोझ मेरे हृदयसे उतरता नहीं। हाय-हाय, दूरवासिनी द्रौपदीको जोर-जोरसे गोविन्द कहकर पुकारना पड़ा था। मानो दीनानाथ कृष्णने द्रौपदीका यह ऋण उतारनेके लिए ही कौरवोंका यह संहार किया हो!

शरणागत देवता दैत्योंका लालन-पालन करनेके लिए जिन्होंने अपनी अंजलिमें हालाहल विष उठाकर पी लिया और उनकी रक्षा की। जो आनन्दवन काशीमें प्राणत्याग करनेवाले नर, वानर, नभश्चर और कीट-पतंगोंको भी अपना पद देते हैं।

जो चतुर्मुख ब्रह्माके हृदयकमलमें स्थित होकर उन्हें वेदोंका ज्ञान देते हैं और कार्यकारणात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्चकी रचना करते हैं।

जो मायापति अपनी मायाकी उपाधिसे सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता, सर्वनियन्ता सर्वपालक, सर्वसंहारक हैं और लोकव्यवहारमें रमापति, उमापतिके रूपमें प्रसिद्ध हैं। वे ही सगुण परमेश्वर भजनीय हैं। इनके स्वरूपपर अन्यत्र प्रकाश डाला जायेगा। इनका भजन भजनकालमें ही दुःखरहित और परमानन्द सहित है। भगवदनुग्रहसे यही वह ज्ञान देता है जिससे दुस्तर भवसागरका सन्तरण हो जाता है।

धर्मशास्त्रके महान् एवं विशालतम निबन्ध वीरमित्रोदयके भक्ति-प्रकाश प्रकरणके उपक्रममें ये वाक्य कहे गये हैं। धर्मशास्त्रकी परम्परामें यह एक परमादरणीय ग्रन्थ है। महामहोपाध्याय श्रीमित्र मिश्रकी रचना है जो दो लाख श्लोकोंके बराबर है। इसके अनेक अंश प्रकाशित हो चुके हैं। इसकी भूमिकामें पण्डितप्रवर श्री पद्मप्रसाद उपाध्यायने भक्तिकी महिमाका सविशेष निरूपण किया है। उनका कहना है कि भक्तियोग अधिकारी एवं अनधिकारी सबके लिए प्रशस्त है। इसमें प्रत्यवाय और पतन-रूप उपद्रवके लिए कोई स्थान नहीं है। इससे अनायास तत्त्वज्ञान और मुक्ति प्राप्त हो जाती है। भक्ति विघ्नोंको दूर

करती है। अपने आश्रितोंका पालन करती है। अभीष्ट दान करती है। इसके बिना किसीको ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। यह उपनिषद्का उद्धरण है।

उन्होंने भक्तिके लक्षणपर भी विचार किया है। द्रव्यकिरणावली-प्रकाशमें वर्द्धमान उपाध्यायने भक्तिका यह लक्षण किया है कि ज्ञानत्वव्याप्त जातिविशेष भक्ति है। किसी-किसीका मत है कि आराध्यत्वप्रकारक ज्ञान ही भक्ति है। मधुसूदन सरस्वतीने कहा है कि भागवत धर्म अर्थात् श्रवणादिके अनुष्ठानसे चित्तके द्रवित होनेपर वृत्तियाँ धारावाहिक रूपसे सर्वेश्वरकी ओर प्रवाहित होने लगती हैं। वृत्तिकी यह भगवदाकारता ही भक्ति है। (श्रीवल्लभाचार्यने माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ एवं सर्वाधिक स्नेहको भक्ति माना है। श्री रूपगोस्वामीने अनुकूलतासे श्रीकृष्णानुशीलनको भक्ति संज्ञा दी है। रसिकजनोंका कहना है कि अपनी इन्द्रियोंके सच्चे स्वामी भगवान्‌की सेवा ही उत्तम भक्ति है।)

परन्तु ये सब लक्षण ज्ञानप्रधान, रसप्रधान या उभयमिश्रित भक्तिके हैं। धर्मशास्त्रके अनुसार भक्तिका क्या लक्षण होना चाहिए? अच्छा तो सुनिये—वह शास्त्रीय कर्म जिससे हृदयमें भगवद्विषयक अनुरागका उदय हो। इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि एकमात्र भगवत्प्रेम-प्राप्तिके उद्देश्यसे विहित कर्मोंका अनुष्ठान ही भक्ति है। एकमात्र कहनेका अभिप्राय यह है कि स्वर्गादि प्राप्त करनेके उद्देश्यसे किये गये यज्ञ, यागादि भक्ति नहीं हैं। विहित कहनेका तात्पर्य यह है कि पानी पीटना आदि कर्म भक्ति नहीं हो सकते।

इसपर एक प्रश्न है। क्या इस भक्तिलक्षणमें फलभक्ति या पराभक्ति-का अन्तर्भाव हो सकता है? यदि नहीं, तो लक्षणमें अव्याप्ति दोष प्राप्त हुआ? इसका समाधान यह है—

एकमात्र भगवान्‌के अनुरागकी प्राप्तिके लिए जो विहित कर्म किये जाते हैं, वे अनुरागजन्य सुख साक्षात्कारके भी साधन होते हैं। अतः यहाँ साधनके अन्तर्गत ही साध्यको भी समझ लेना चाहिए।

दूसरा प्रश्न यह है कि साध्य-भक्ति सुखरूप होनेके कारण पुरुषार्थ है और उसमें प्रवृत्त होना युक्तियुक्त है। परन्तु साधनभक्ति सुखरूप पुरुषार्थ नहीं है तब उसमें किसी बुद्धिमान्‌की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि वस्तुतः परमपुरुषार्थ वह होता है जिसकी इच्छा किसी दूसरी इच्छाके अधीन न हो। उसमें सुख-दुःख दोनोंसे परे एक अनिर्वचनीय स्थिति हो जाती है। नित्य सुखको मोक्ष कहते हैं और अनित्य सुखको काम। यह भी पुरुषार्थ है। परन्तु धर्म, अर्थको पुरुषार्थ क्यों माना जाता है ? उनमें न दुःखाभाव है न सुख। फिर उसके लिए लोगोंकी प्रवृत्ति क्यों होती है ? यदि ऐसा माना जाय कि वे दुःख मिटाने और सुख पानेके साधन हैं इसलिए पुरुषार्थ हैं, तो साधन-भक्तिको भी पुरुषार्थ माना जा सकता है, क्योंकि उसमें अनुष्ठानके समय भी सुख है, दुःख-निवारणकी क्षमता है। तत्त्वज्ञानके द्वारा मोक्ष-दान करनेमें भी समर्थ है। जैसे सुखके लिए अर्थ और धर्ममें लोगोंकी प्रवृत्ति होती है वैसे भक्तिमें भी होना उचित है।

विरक्त अधिकारीके लिए श्रवण, मननादिके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करना उचित है। शान्त-दान्त श्रवण-मननादिका अधिकारी होता है। विषयासक्त कर्मका। परन्तु जिसमें न पूर्ण विरक्ति है न पूर्ण आसक्ति, वह भक्तियोगका अधिकारी होता है। भक्तियोगीको स्वयं भगवान् ज्ञान देते हैं। भगवान्‌की कथामें श्रद्धा हो, स्वर्गादिकी प्राप्तिमें वैराग्य हो, वासना-पूर्तिको दुःख समझनेपर भी भोगका त्याग न किया जा सकता हो तो श्रद्धा और प्रेमके साथ दृढ़ निश्चय करके भगवान्‌का भजन करना चाहिए। भोगोंको भोगते समय भी उनको दुःखपरिणाम ही समझे और जीवनके लिए उपादेय न माने। भजन करते-करते भगवान् आकर हृदयमें बैठ जाते हैं। वासनाएँ मिट जाती हैं। हृदयग्रन्थिका भेदन हो जाता है। सारे संशय कट जाते हैं। कर्म क्षीण हो जाते हैं। यह सब परमात्माका दर्शन होते ही सम्पन्न हो जाता है। अतएव भक्त मनुष्य-का बिना ज्ञान-वैराग्यके भी प्रायः कल्याण हो जाता है। यहाँ ज्ञान शब्दका अर्थ अध्यात्म-विचार है, मुख्य ज्ञानसे नहीं। क्योंकि मुख्य ज्ञान तो परमात्माका दर्शन ही है। यह शब्दका अर्थ है। भोग-त्याग न करने-पर भी भजनीय सगुण ब्रह्मका ज्ञान तो इस अवस्थामें भी आवश्यक है।

भजनका फल बुद्धियोग है। उसीसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। उसे जिज्ञासाकी उत्पत्तिके लिए भी कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता नहीं पड़ती। भगवान्की भक्ति ही सब कुछ दे देती है। भक्तके द्वारा धर्मानुष्ठान भी ईश्वरार्पण-बुद्धिसे उसकी प्रसन्नताके लिए ही होते हैं। वह भी भगवान्के दास्य सेवाके अन्तर्गत हैं। सभी प्रकारकी साधनभक्ति पूर्वाचरित धर्मसे ही प्राप्त होती है। दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, संयम एवं अन्य श्रेय साधनोंके द्वारा भगवद्भक्ति ही सिद्ध की जा सकती है।

जिज्ञासाके उदयके लिए जो काम्यकर्म किये जाते हैं, उनकी सर्वाङ्ग-पूर्ति आवश्यक है, परन्तु भक्तिपक्षमें अङ्गविकल अनुष्ठान भी पाप निवर्त्तक होता है। जो अकारण भगवत्करुणासे ईश्वर प्रसन्नताके लिए दास्यबुद्धि-से कर्मानुष्ठानमें संलग्न है, अशुद्ध अन्तःकरण होनेपर भी श्रवण, कीर्तनमें संलग्न है, वह भले ही ज्ञानके लिए कर्म न करता हो या अध्यात्म-विचार न करता हो तब भी उसे सफलता मिल जाती है। ईश्वरार्पण-बुद्धिकी रूपरेखा यह है—'मेरा प्रियतम प्रभु नरकमें, स्वर्गमें चाहे जहाँ कहीं पहुँचा दे या फेंक दे, बस-बस! हमें यह व्यर्थ चर्चा करनेकी आव-श्यकता नहीं है। हमारा कर्त्तव्य तो आनन्दघन, रमारमण भगवान्की एकमात्र सेवा ही है।[1]'

जब इस प्रकार भगवत्सेवाके प्रति आदर-भाव और श्रवण-कीर्तन-में अतिशय श्रद्धा हो जाती है, तब हृदयमें ऐसे अनुपम रसका उल्लास होता है कि दूसरे किसी विषय या वस्तुके लिए चित्त चञ्चल नहीं होता। ऐसे भक्तका कर्ममें मुख्य अधिकार नहीं होता, गौण हो जाता है। यदि वह कथारसिक होकर कर्मानुष्ठान न भी करे तो भी दोषकी प्राप्ति नहीं होती। गौण और मुख्यमें मुख्य ही बलवान होता है। उसके सम्पूर्ण दोषोंको मिटाने और सद्गुणोंसे शृङ्गार करनेका उत्तरदायित्व भगवान्-

---

१. गमयतु नरकं वा स्वर्गति वा तनोतु,
क्षिपतु स परमात्मा यत्रकुत्रापि चास्मान्।
अलमलमनया नश्चर्चया किन्तु कर्म्म,
सततसुखमयस्य श्रीपतेरेव सेवा॥

पर होता है। भजनमें भी रसानुभूतिके कारण ही प्रवृत्ति होती है। क्षण-क्षणमें रसरूप परमात्माकी स्फूर्ति होती है। दुःखका भान ही नहीं होता। चित्तको सच्चा विश्राम मिलता है। यही कारण है कि भक्ति साधन होनेपर भी परमपुरुषार्थ है। अध्यात्मविचार अविद्यानिवृत्तिके अनन्तर सुखप्रद होता है। राजसूय यज्ञादि कामनाकी पूर्ति होनेपर सुख देते हैं। ज्योतिष्टोमादि अनुष्ठान कालमें ही सुख देते हों ऐसा नहीं है, परन्तु भक्ति साधनके समय ही परमानन्द प्रभुको हृदयमें लाकर नचाने लगती है। वृद्धपुरुषोंका कहना है—

'कर्मानुष्ठानके समय श्रम और खिन्नता होती है। उनके फलस्वरूप आगे चलकर सुख मिलेंगे, इस बातको कौन जानता है, परन्तु नन्दनन्दन मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरका मानस-मिलन होने मात्रसे ही संसारके श्रम और खेद लुप्त हो जाते हैं।'[1]

'वेद पद-पदपर प्रतिपादन करते हैं अनादिकालसे कि नन्दनन्दन गोविन्द ही परमानन्दस्वरूप हैं। ऐसा होनेपर भी अशुद्ध अन्तःकरण, पाखण्डी अपने मिथ्या कुतर्क वचनोंसे उनका दूसरा अर्थ कर देते हैं। ठीक है, उन्हें धन्यवाद है, परन्तु अपने जीवनधन आनन्दकन्द, नन्द-नन्दनके स्मरणसे नेत्रोंमें जो आनन्दाश्रु आते हैं, हृदयको विश्राम मिलता है, शरीर पुलकित होता है, क्या वे लोग कुतर्कोंसे उसको भी बदल सकते हैं? प्रत्यक्षानुभव कुतर्कसे नहीं काटा जा सकता।[2]

---

१. अतीव खेदः खलु कर्मकाले को वेद भावीनि सुखानि कानि।
कंसारिसंसेवनकाल एव संसारखेदः प्रशमं प्रयाति॥

२. गोविन्दे सुखरूपता प्रतिपदं वेदैः सदोदीर्यते।
तानप्यन्यथयन्ति चेत्कुमनसो मिथ्याकुतर्कोक्तिभिः॥
तस्यानुस्मरणेन यन्नयनयोरानन्दबाष्पोदयो।
विश्रान्तिर्हृदये तनुः पुलकिता तत्रान्यथा किं भवेत्॥

ध्यानकी युक्तियाँ

'विज्ञानभैरव'के आधारपर

शास्त्रोंकी दो विधा है—(१) अनादि अविच्छिन्न सम्प्रदाय परम्परासे प्राप्त अस्मर्यमाण कर्तृक, भ्रम प्रमाद-विप्रलिप्सा-करण-पाटवादि दोषोंसे मुक्त अपौरुषेय वेदराशि, (२) ईश्वरोक्त साधन-प्रधान मन्त्र-यन्त्र-तन्त्रात्मक, अनादि गुरु-शिष्यपरम्पराप्राप्त, अनुष्ठानप्रधान, अनुभव-जनक, कला-कलापसे परिपूर्ण उपासना-योगकी भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ।

दूसरी विधामें ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, रुद्रयामल आदि अनेकों ग्रन्थ आते हैं। इसका आकार-प्रकार विशाल है और प्राय: गुरूपदेशगम्य हैं। ये भी दो प्रकारके हैं (१) तत्पद वाच्यार्थ अन्य ईश्वरका निरूपण करके उसकी उपासनाका प्रतिपादन करनेवाले और (२) त्वंपद वाच्यार्थ आत्माकी पूर्णताको अभिव्यक्त करके अद्वितीयताका अनुभव करानेवाले। पहले प्रकारमें पञ्चरात्रागमका सन्निवेश है, दूसरेमें कश्मीरी शैवागमका। जगत्-जीवके भेदकी संगति दोनोंको ही लगानी पड़ती है।

भागवताद्वैतकी दृष्टिसे भी चराचरात्मक निखिल जगत् भगवत्स्वरूप है और आत्मशिवके उल्लास, उन्मेषका विलास ही है स्थावर-जंगमात्मक सम्पूर्ण विश्व। सर्व भगवान्‌का या शिवका विलास है अतएव सकल-निष्कल, क्रम-अक्रम किसी भी साधन-कलासे भागवत-सत्ताका आविर्भाव अथवा आत्मशक्तिका उल्लास हो सकता है।

कश्मीरी शैव सम्प्रदायमें रुद्रयामलका सार-संग्रह करके 'विज्ञान भैरव'का उदय हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ बहुत प्राचीन है। इसपर कुछ अंश तक क्षेमराजकी विवृति है जो महामाहेश्वर-सम्प्रदायके आचार्य थे। तदन्तर श्री शिवोपाध्यायकृत उद्योतविवृति है। इस ग्रन्थपर एक दूसरी टीका भी है—विज्ञानकौमुदी। उसके रचयिता हैं पण्डित आनन्दभट्ट। कश्मीर नरेशकी आज्ञासे विक्रमसंवत् १९७५ में इनका प्रकाशन हुआ था। उसी ग्रन्थके आधारपर साधनका यह सुगम कलाशिल्प आपके सम्मुख उपस्थित किया जाता है। हमारा विश्वास है कि इसमें जिन सरल, सहज, सुगम साधन-कलाओंका प्रदर्शन है वे किसी भी शान्तिपथके पथिकके लिए सर्वथा उपादेय हैं। आइये, इसके कुछ उदाहरण देखिये—

साधारणजन और योगीमें क्या अन्तर है ?

सदाशिवसे लेकर कीटपतंग पर्यन्त सभीको यह संवेदन होता है कि शब्दादिरूप—विषय ग्राह्य हैं और मैं चेतन ग्राहक—विषयी हूँ। यह प्रतीति सर्वसाधारण है। तब योगियोंमें विशेषता क्या है ? वह केवल इतनी ही है कि वे सम्बन्धमें सावधान रहते हैं, सजग रहते हैं। 'मैं प्रकाशक साक्षी हूँ' इसका विस्मरण करके विषयके साथ घुलमिल नहीं जाते अर्थात् अपनी नित्यता, चेतनता छोड़कर वे असत् जड़के साथ तादात्म्यापन्न नहीं होते।[1]

कैवल्य कैसे प्राप्त होता है ?

भैरवजी कहते हैं—कल्याणि! सुनो सावधान होकर, गुरु-सम्प्रदायसे प्राप्त कैवल्यका श्रेष्ठ साधन। नेत्रोंको स्तब्ध कर लेने

---

१. ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता॥

मात्रसे ही तत्काल कैवल्यका उदय हो जाता है। भेदाभेद रूप जगत्का विस्मरण करके अन्तर्दृष्टि हो जानेपर चिन्मात्र प्रकाशमें चित्त एकाग्र हो जाता है।[1]

ये दोनों श्लोक श्री अभिनव गुप्ताचार्यने अपनी प्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनीमें उद्धृत किये हैं और उसमें 'विज्ञान-भैरव'का नामोल्लेख भी है।

इस मतमें 'भैरव' शब्दका अर्थ है—परिपूर्ण भरित भरपूर अवस्था। वह विज्ञान ही है। विज्ञानमें क्षणिकताकी कल्पना असंगत है। विज्ञानमें शक्ति-शक्तिमान्का अभेद है। वही अद्वैत शिव है। किञ्चित् चिन्तन न करनेसे शाम्भव आवेशका उदय होता है। शब्दरहित केवल चित्तचिन्तनसे शाक्त आवेश होता है। उच्चारण, ध्यान, स्थान आदिकी कल्पना करके अनुध्यान करनेसे आणव आवेश होता है।

पूर्णावस्थाके उदयके लिए उदाहरणार्थ कुछ साधन प्रस्तुत किये जाते हैं।

सहज प्राणायाम :

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें स्वाभाविक रूपसे प्राणायाम होता रहता है। प्राणायाम बाह्य भी होता है और आन्तर भी। उनकी सहजताके बोधमात्रसे ही जीवका कल्याण होता है। उन्हें करना नहीं है, देखना है। वह चलते-फिरते, खड़े, जागते-सोते कभी बन्द नहीं होते। वह खान-पान, श्रम-विश्राम सभी अवस्थाओंमें अनुस्यूत रहते हैं। आप प्राणायाम कीजिये मत। उनको समझकर देखिये। वे पुरुष-प्रयत्नके बिना ही होते रहते हैं, स्वतः सिद्ध हैं। सावधान होकर ध्यान दीजिये। मनुष्य, पशु, पक्षी सबके श्वास-प्रश्वास निरन्तर रात-दिन चलते रहते हैं। उनके गमनागमनसे पुरुष-प्रयत्नके बिना ही प्राणायाम होते रहते हैं। कर्म और भोगकी स्थितिमें भी ये बन्द नहीं होते। पुरुष इनका कर्ता नहीं है। बोध-दृष्टिसे इन्हें देखिये—(१) हृदयकमलसे स्वच्छन्द प्राण स्वयं बाहर

---

१. सम्प्रदायमिमं भद्रे शृणु सम्यग्वदाम्यहम्।
कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः॥

निकलते हैं। यह रेचक है। (२) हृदयसे निकलकर नासिकासे बाहर बारह अङ्गुलपर्यन्त इनकी गति होती है। मार्गमें ये कहाँ-कहाँ किन-किन अङ्गोंका स्पर्श करते हुए चलते हैं—इसपर ध्यान दीजिये। निकलते समय-का यह अङ्गस्पर्श एक प्रकारका पूरक है। (३) बाहरसे बिना पुरुष-प्रयत्नके ही अपान भीतरकी ओर लौटता है। उस समय भी विभिन्न अङ्गोंका स्पर्श होता है। यह स्पर्श दूसरे प्रकारका पूरक है। (४) हृदयमें पहुँचकर अपान लीन हो जाता है। जबतक वहाँसे पुनः प्राणका अभ्युदय नहीं होता तबतक स्वतःसिद्ध कुम्भककी अवस्था रहती है। इस प्रकार प्राणवायु देहके बाहर और भीतर आ-जाकर निरन्तर प्राणायामपरायण रहता है। इसमें करना कुछ नहीं पड़ता, केवल सजग रहकर देखना पड़ता है।

प्राणके समान ही अपान भी गमनागमनमें संलग्न है। (१) जब प्राण बाह्याकाशमें लीन हो जाता है और जितनी देरतक भीतर जानेके लिए अपानका उदय नहीं होता तबतक उसकी बाह्यदेशमें पूरकावस्था रहती है। (२) नासिकासे बाहर बारह अङ्गुल दूरीपर उत्थित होकर अपान जब स्पष्ट पीनरूपसे प्रतीत होने लगता है; उसको भी बहिःपूरक ही कहते हैं। (३) बाहर ही अपानका रुक जाना मानों मृत्तिकाके भीतर अनिष्पन्न घट हो, उसकी कुम्भक अवस्था है। (४) बिना पूर्णरूपसे उदय हुए ही जो अपानकी अन्तर्मुख गतिके लिए उन्मुखता है; वह बाह्य रेचक है। इसप्रकार प्राणपूरक और अपानपूरककी द्विविधतासे आठ प्राणायाम होते हैं। ये स्वाभाविक हैं। हृदय, कण्ठ, तालु, ललाट, रन्ध्र आदि ऊपरके स्थानोंमें प्राणकी गति होती है। हृत्कन्द मुखका सङ्कोच विकास यह सब अपानकी गतिविधि हैं। कुम्भक बाहर भी होता है और भीतर भी। दोनों कुम्भकोंमें शान्तिपदकी प्रतिष्ठा है। बहिःकुम्भक और अन्तःकुम्भक दोनोंमें किसी प्रकारका शोक नहीं रहता। वस्तुतः बाह्याकाश और आन्तर आकाशका भेद देहोपाधिक ही है। आकाश ही प्रकाशस्वरूप चिदाकाश अद्वय है, विमर्शशक्ति है। प्रकाश और विमर्श परमार्थतः एक ही हैं। आप स्वयं प्रकाश हैं और विमर्श दुःखनिवारक शक्ति है।

जिस समय बाह्य देशमें या अन्तरदेशमें प्राणापान स्थिर हो जाते हैं उस समय शक्ति न बाहर जाती है और न भीतर आती है। केवल कुम्भकके विकाससे ही उसका प्रकाश हो जाता है। अभिप्राय यह है कि शरीरमें जितनी शक्तियाँ हैं देखनेकी, सुननेकी, विचार करनेकी, उनको जहाँ-का-तहाँ छोड़ दिया जाये; वे अपने स्थानमें रहें। अपना स्वभाव है प्रकाश विमर्शात्मक स्पन्दतत्त्व-स्वरूप सर्वाधार। निर्विकल्प है। प्राणापानके निमीलन-उन्मीलनसे, गमनागमनसे अपने स्वरूपपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आँख खुली हो या बन्द, लक्ष्यके प्रति सावधानता ही इसकी विशेषता है। इससे पूर्णता अभिव्यक्त हो जाती है।

यह आवश्यक नहीं है कि पूर्णताकी अभिव्यक्तिके लिए कुम्भक ही हो। वायुशक्तिका रेचन हो या पूरण उसके अन्तमें शान्त-दशाका उदय हो जाता है। उस समय सारे भेद शान्त हो जाते हैं। भेदोंके शान्त होनेपर अपनेसे मिलती-जुलती अवस्थामें शान्तस्वभाव, नामरूपातीत स्वस्वभावकी पूर्णता अभिव्यक्त हो जाती है।

वायु शक्तिपर ध्यान केन्द्रित कीजिये :

वायुकी शक्ति चलप्रकाशरूप है। मानो विद्युत्‌की छलकती हुई छटा हो। इसकी चञ्चलता वायु है और चमक शक्ति। शरीरके भीतर ही भीतर जैसे सूर्यकी रश्मियाँ बिखर रही हों, ऐसे ही यह मूलाधारसे ऊपरकी ओर चलती हैं और ब्रह्मरन्ध्रसे भी ऊपर बारहवें चक्रमें जाकर शान्त हो जाती हैं। ज्यों-ज्यों ऊपर जाती हैं त्यों-त्यों सूक्ष्म होती जाती हैं। ध्येयके आकारमें जितनी सूक्ष्मता आयेगी उतना ही ध्यानमें उत्कृष्टता आयेगी। ध्येयस्वरूप प्रच्युत नहीं होगा। ध्याता अपनेको परिपूर्ण परमानन्दके रूपमें अनुभव करेगा। निम्न स्थानोंसे ऊर्ध्व स्थानोंकी ओर जाना अभीष्ट है। वे स्थान हैं जन्माग्र, मूल, कन्द, नाभि, हृत्, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति और व्यापिनी। यही बारह चक्र हैं। अनाहतध्वनि कुटिलगतिसे इनमें चलती है। इन बारह चक्रोंमें अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः ये बारह स्वर हैं। इनको पहले चञ्चल प्रकाशके रूपमें ध्यान करके फिर धारावाहिक स्पन्दमानरूपमें और अन्ततः अखण्ड ज्योतिके रूपमें चिन्तन करना चाहिए। अन्तमें उसको भी छोड़ देना चाहिए। अपना केवल विश्वस्वरूप ही

अविशिष्ट रहता है। मन निर्विकल्प हो जाता है और परमाकाशमें सर्वव्यापकरूपसे स्थिति हो जाती है।

विषयोंपर ध्यान दीजिये :

इन्द्रिय मयूरके पक्षके समान चमकती रहती हैं चित्र-विचित्र रूपसे। वही रूप-रस आदिका ग्रहण करके उनका सार समर्पित करती हैं। वस्तुतः तन्मात्रारूप होनेके कारण इनमें कोई आकार या रंग नहीं है। इनके द्वारा दीखनेवाले विषय भी वस्तुतः तन्मात्ररूप होनेके कारण अव्यक्त और शून्य ही हैं। इन्द्रिय शून्य हैं, विषय भी शून्य हैं। आप इसपर ध्यान दीजिये। आप स्वयं निष्प्रपञ्च ज्ञानस्वरूप हैं। आपकी पूर्णतासे परे कोई पूर्णता नहीं है। बस, आप परमात्मासे एक हो गये।

यह कोई विषय और इन्द्रियोंकी ही बात नहीं है आप किसी भी स्थानपर चिन्तन कीजिये। जन्माग्रसे लेकर व्यापिनीपर्यन्त किसी भी चक्रमें। पहले देखिये, फिर छोड़ दीजिये। शरीरमें या बाहर, भीतमें, चहारदीवारीमें, पात्रमें, अपने शिष्यमें, कहीं भी क्रमसे या बिना क्रमके व्यक्तको अव्यक्तमें लीन हो जाने दीजिये। स्मृति, कल्पना आदि रूप वृत्तिको प्रकाश और विमर्शके परमाकाशमें डूबने दीजिये। आप स्वयं परमेश्वर हैं।

सिरकी ओर देखिये :

संस्कृतमें कपाल कहते हैं खोपड़ीको। तन्त्रकी भाषामें 'क' का अर्थ है पराशक्ति और 'पाल' या 'पालक' का अर्थ है शिव। शिवका स्वरूप है प्रकाश और शक्तिका स्वरूप है विमर्श। आप अपने मनको खोपड़ीके भीतर ही स्थिर कर दीजिये। प्रकाश और विमर्शके सम्मिलित रूपका चिन्तन कीजिये। नेत्र बन्द हों और मन ब्रह्मरन्ध्रसे सन्निहित अत्यन्त प्रकाशमान ज्योतिमें दृढ़ हो जाय। कपाल स्थान है, विमर्श वृत्ति है, प्रकाश ध्यानका विषय है। स्थानसे धारणा, लगातार चिन्तनसे ध्यान और विषयकी एकतासे समाधि सम्पन्न होती है। नेत्र बन्द करनेका अर्थ है भेददृष्टि न करना। प्रकाश और विमर्श ही सम्पूर्ण जगत्‌के रूपमें प्रकट होता है। आप स्वयं अपनेको अपने लक्ष्यके रूपमें अनुभव करें!

हृदयपर दृष्टि डालिये :

उदरसे ऊपर और वक्ष:स्थलसे नीचे हृदयका स्थान है। वहीं सुषुम्ना नाड़ी है। उसका स्वरूप है कमलनालसे निकलते हुए सूक्ष्म तन्तुके समान। उसका ध्यान करके उसके भी भीतर चिदाकाशका चिन्तन कीजिये। यह चिदाकाश सर्वथा प्रपञ्चशून्य है। इसीसे प्राणशक्ति नि:सृत होती है। इस प्रकारका विमर्श करनेमात्रसे ही प्रकाशका प्रादुर्भाव हो जायगा।

चारों द्वार बन्द कीजिये :

मनुष्यके शरीरमें कण्ठसे ऊपरका भाग ज्ञानप्रधान है। उसमें चार प्रकारके छिद्र हैं—मुख, नासिका, नेत्र और कान। गुरुसे युक्ति सीखकर दोनों हाथोंकी अंगुलियोंसे उन द्वारोंको बन्द कर दीजिये। भ्रूग्रन्थिके छिद्रसे बिन्दुका दर्शन कीजिये। ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ेगी, संविद्गगनमें आपकी स्थिति हो जायगी।

नेत्रज्योतिका प्रयोग कीजिये :

आपके नेत्रोंमें एक ज्योति है। उन दोनोंसे एक सीधी रेखा बनती है। उन्हींकी सीधसे दो रेखा और बनाकर त्रिकोणका दर्शन कीजिये। आप देखेंगे कि उस त्रिकोणमें दोनों नेत्रोंका एक रश्मिबिन्दु है। मानो, सूक्ष्म अग्निके द्वारा तिलक कर दिया गया हो। इस तिलकका ध्यान हृदयमें भी किया जा सकता है और ब्रह्मरन्ध्रके उपर व्यापिनीके अन्तमें भी। जब सारे विकल्प छूट जायँगे, लयकी स्थिति होगी, तब आप स्वयं अपनेको ज्योतिस्वरूप अनुभव करेंगे।

अनाहत नाद सुनिये :

कानके पात्रमें या अन्तर्देशमें कण्ठ-ताल्वादिके आघातके बिना ही एक शब्द हो रहा है। वह नदीकी धाराके समान बहता रहता है। उसकी धारा कभी टूटती नहीं यह ध्वनि सम्पूर्ण शरीरमें और बाहर भी सुनी जा सकती है। इस नादब्रह्ममें पूर्णरूपसे मग्न हो जाइये। अहंकी शिथिलतामें आप अपनेको परब्रह्म अनुभव करेंगे। जब आपका चित्त अविच्छिन्न अनाहत ध्वनिमें एकाग्र हो जायगा तब परमाकाश-स्वरूपका आविर्भाव हो जायगा।

प्रणवका उच्चारण कीजिये :

प्रणवके अनेक प्रकार हैं। वेदोंमें ॐ, शैवोंमें 'हूँ', शाक्तोंमें 'ऐं', 'ह्रीं', 'क्लीं', 'श्रीं' इत्यादि। इनका ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेदसे उच्चारण होता है। अपने सम्प्रदायके अनुसार उनका प्रयोग करना चाहिए। तीन बार प्रणवका उच्चारण करके चतुर्थको प्लुत कर देना चाहिए। जब वह पूरा होने लगे तो शान्त आत्म-ज्योतिमें विश्रान्त हो जाना चाहिए। इस दशामें अकार, उकार, मकार या बिन्दुरूप प्रमेय नहीं है; केवल प्रमेय शून्य शक्ति है। अलग-अलग अक्षर ब्रह्मकी अलग-अलग स्थितियोंके वाचक होते हैं। परन्तु अर्द्धमात्रा रूप विश्रान्त स्थिति समग्र ब्रह्मका बोध कराती है। वहाँ केवल समस्त भावोंके परिपूर्ण भण्डार संविन्मय परमेश्वर ही रहते हैं। वही अखण्डचैतन्य एकात्मक धाम हैं।

किसी भी अक्षरका सहारा लीजिये :

किसी भी अ, क, च आदि एक अक्षरको आलम्बन बनाइये। उसके उच्चारणकी इच्छामें उस अक्षरका क्या स्वरूप है? उच्चारणके अन्तमें क्या है? वस्तुतः वह पहले भी शून्य है, अन्तमें भी शून्य है। अतएव उच्चारणकालमें भी शून्य ही है। उसपर ध्यान जानेसे देहादिके सम्बन्धसे होनेवाला प्रमातापनका अभिमान गलित हो जायगा और आप अपनेको शून्यतासे उपलक्षित ब्रह्म अनुभव करेंगे।

वाद्यध्वनिका आलम्बन :

वाद्य अनेक प्रकारके होते हैं—शततन्त्री, परिवादिनी, तुम्बवीणा आदि। उनसे मुर्च्छनात्मक स्वर प्रकट होते हैं। वे अनेक होते है, उनकी दीर्घध्वनि एक होती है। अपनी उठती हुई वृत्ति-परम्पराको उनके साथ जोड़ दीजिये। जबतक वे शब्द होते रहें, एकाग्रता बनी रहे। यह सालम्बन है। अन्तमें जब शब्दकी निवृत्ति हो जाय तब निरालम्ब स्थितिमें बैठ जाइये। यह परम चिदाकाशमें ही स्थिति होगी। अनन्यचित्तता अपेक्षित है।

अन्तर्मुख हो जाइये :

नाभिमें अकार, हृदयमें 'उ', मुखमें 'म', भ्रूमध्यमें बिन्दु, ललाटमें अर्द्धचन्द्र, उसके ऊपर निरोधिनी, सिरमें नाद, ब्रह्मरन्ध्रमें नादान्त, त्वचामें शक्ति, शिखामूलमें व्यापिनी; शिखामें समना, शिखान्तमें

उन्मना—इन सभी भूमिकाओंका उल्लंघन करके निरञ्जन आकाशाकार परम शिवमें अपने आपको मग्न कर दीजिये। आप स्वयं शिव ही हैं।

देहमें देखिये :

इस देहमें क्या है ? सामने-पीछे; दायें-बायें सभी ओर आकाश है। क्रमभावना छोड़ दीजिये, एक साथ देखिये। आकाशमें शरीर लुप्त हो जायगा, मनमें कोई विकार नहीं रहेगा। देह न भासनेसे आकाश रहेगा। भानस्वरूप आपके रहनेसे चेतन रहेगा। चेतन और आकाशकी एकता हो जायगी। आप चिदाकाश ब्रह्म हैं।

शून्यताकी भावना :

सबके पीछे प्रमाता बैठा है। परन्तु उसका कोई स्वरूप नहीं है जिसका ध्यान किया जा सके। सबसे नीचे बहिरंग देशमें प्रमेय स्थित है। वह भी अपने अभावके अधिकरणमें स्वरूप-शून्य ही है। हृदयमें अर्थात् प्रमाता और प्रमेयके बीचमें प्रमाण स्थित है। वह भी प्रमाता-प्रमेयके आधारसे शून्य-स्वरूपरहित ही है! तब, तुम क्या हो? स्थिरतासे देखो। प्रमाता निर्विकल्प; प्रमेय निर्विकल्प; प्रमाण निर्विकल्प और तुम निर्विकल्प। यह छोटा सा शरीर ही ग्राह्य-ग्राहकका भेद बनाता है। क्षणभरके लिए ही सही, इसे शून्य रूपमें देखो। तुम स्वयं निर्विकल्प हो।

यदि पूर्वोक्त धारणा स्थिर न होती हो तो उपायका चिन्तन करो। उपाय क्या है ? तुम्हारे इस पार्थिव शरीरका कण-कण अस्थि-मांसादि आकाशसे व्याप्त है कि नहीं ? सबमें आकाश अनुगत है। सबको दृष्टिसे हटा दो, आकाशको रहने दो। तब पूर्वोक्त भावना प्रकट हो जायगी।

देहका विभाजक क्या है ?

इस शरीरमें सबसे बाहर त्वचा ही त्वचा है। जैसे घरकी विभाजक रेखा भीत है वैसे ही आकाशसे शरीरका विभाजन करनेवाली यही त्वचा है। जैसे त्वचाके बाहर आकाश है, वैसे भीतर भी। त्वचाके भीतर आकाशके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह ध्यान करनेसे ध्येयका लोप हो जायगा। स्वरूपकी व्यापकता स्फुट हो जायगी। हम देहस्थ प्रमाता हैं—यह भाव शान्त हो जायगा।

हृदयकमल :

जहाँसे प्राण-अपानका विभाजन होता है वहाँ हृदयकमलमें निर्मल आकाश ही प्रकाशमान है। हृदयकमलके खिलनेपर विश्वका दर्शन होता है और उसके संकुचित होनेपर अदर्शन। उन दोनोंके बीचमें चिन्मात्र प्रमाता है। आप कमलका संकोच-विकास, उन्मेष-निमेष छोड़ दीजिये। चिन्मात्र रूपसे रहिये। आप देखेंगे कि सम्पूर्ण विश्वके रूपमें आप ही उदय-विलयकी लीला कर रहे हैं।

लक्ष्य ही देखिये :

स्थान, वस्तु और कालका नियम मत रखिये। एक रोमकूपमें भी चेतन्यदेवका दर्शन कीजिये। जन्माग्रहसे व्यापिनीपर्यन्त सभी अवस्थाएँ वहाँ मिलेंगी। वहीं मनको एकाग्र और लीन होने दीजिये। परतत्त्व-संवित्का उदय हो जायगा। आपका विमर्श और परमात्माका प्रकाश। वस्तुतः प्रकाशका ही विमर्शरूप देख सकेंगे। क्षण-क्षणमें आपकी वृत्ति क्षीण होगी और चाहे जब, जहाँ, जैसे भी अपना मन लगावेंगे, एक विलक्षणता दीखेगी, वह आपकी ही है।

देहको भस्म कर दीजिये :

ॐ र क्ष र य ॐ तनुं दाहयामि नमः इस मन्त्रका उच्चारण करके ध्यान कीजिये कि मेरे दाहिने पाँवके अँगूठेसे कालाग्नि रुद्र निकलकर अपनी ज्वालासे इस शरीरको भस्म कर रहे हैं। गूगलकी तरह यह शरीर जल रहा है। इसका भान शान्त हो जायगा। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्के दाहका भी चिन्तन कर सकते हैं। शरीर संसारका दाह एकाग्र मनसे ही सम्पन्न होता है। केवल आप परम पुरुषके रूपमें शेष रहेंगे।

सूक्ष्मतम तत्त्वोंका चिन्तन :

अपने शरीरमें ही जगत्के सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर तत्त्व विद्यमान हैं। वे न केवल शरीरके भीतर ही हैं, इसके बाहर भी हैं। आप चाहे जहाँ इसका चिन्तन कीजिये। प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पृथिवी आदि इन्हींके विकार जड़ता, बुद्धि, अहंभावना, मांस-रक्त-मेद आदि भी हैं। स्पष्टताके साथ इस कार्यवर्गका चिन्तन करके इन्हें कारणदशामें लीन कर दीजिये—जैसे ये मर गये हों। इनके विलयका चिन्तन करते-करते अन्तमें परमचितिका आविर्भाव हो जायेगा।

प्राणका चिन्तन :

पहले स्थूलरूपसे प्राणशक्तिका चिन्तन कीजिये। धीरे-धीरे उसको सूक्ष्म होने दीजिये। जन्माग्रसे लेकर व्यापिनीपर्यन्त सूक्ष्मताको देखिये और हृदयमें शान्त हो जाइये। यह शान्ति स्वतन्त्र परमेश्वरका आविर्भावस्थल है।

षडध्वाका चिन्तन :

अध्वाके छः विभाग हैं—वर्ण, मन्त्र, पद, कला, तत्त्व एवं भुवन। पूर्व दो अध्वा उत्तर दो में व्यापकरूपसे स्थित है। उत्तर दो अध्वा पूर्वमें व्यापकरूपसे अन्तर्हित है। इसका अभिप्राय है कि सबमें सब है। अब इस सिद्धान्तका ध्यानान्वयन कीजिये। चिदानन्दघन परमेश्वर स्वतन्त्र स्वराट् है। वह अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति उन्मनाके द्वारा वाच्यवाचक-रूप अपरिमित सृष्टि शून्यसे लेकर पृथ्वीपर्यन्त स्वरूपरूपभित्तिपर ही प्रकाशके द्वारा खचित कर लेता है। यह सृष्टि उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है फिर भी उससे अधिकके समान एक साथ ही अवभासित होने लगती है। इसमें ग्राहक-भागके साथ संलग्न वाचक हैं वर्ण, मन्त्र और पद। ये क्रमशः पर, सूक्ष्म और स्थूल हैं। ग्राह्यभाग ही वाच्य है। उसमें भी कला, तत्त्व एवं भुवन तीन विभाग हैं। ये भी क्रमशः पर, सूक्ष्म तथा स्थूल हैं। वर्ण ही अभेद-विमर्शके सार हैं। किञ्चित् स्थूलताके द्वारा वे ही मन्त्र बनते हैं। मन्त्रमें भेदाभेद-विमर्श एवं नादरूपता रहती है। वे ही स्थूल होकर पदरूप ग्रहण करते हैं। वे भेद-विमर्शके अवगमक होते हैं। ठीक इसी प्रकार वाच्यरूप पारमेश्वरी कलाशक्ति उत्तरोत्तर वैशिष्ट्यको स्वीकार करके भुवनरूप बनती है। वस्तुतः पारमेश्वरी शक्तिके स्फुरणमें कोई क्रम नहीं है। फिर भी वह अपनी स्वतन्त्रतासे दर्पणनगरके समान क्रम भी दिखाती है। क्रममें भी पूर्व-पूर्व पदपदार्थ उत्तरमें व्यापक हैं घटादिमें मृत्तिकाके समान। उत्तर-उत्तर पूर्वमें शक्तिके रूपमें स्थित हैं जैसे वृक्ष अपने बीजमें। इस प्रकार सर्व सर्वात्मक है। इस प्रकार अनाश्रित तत्त्व, निरालम्ब तत्त्व अथवा निरुत्तर तत्त्व प्रमातापर्यन्त सबकी व्याप्ति है। इस प्रकार विचार करें तो प्रत्येक प्रमाता या भाव परमेश्वरका स्वरूप ही है क्योंकि वही षडध्वाके विकासरूप पारमेश्वरी शक्तिका स्वरूप है। अ से लेकर ह पर्यन्त जितने भी वर्ण हैं, उनसे जितने मन्त्र और पद बनते हैं सब

पृथक्-पृथक् अहंताके विश्रामस्थान परमेश्वर ही हैं। अब आप ध्यान दीजिये—सम्पूर्ण जगत् षडध्वाका ही रूप है। स्थूलको सूक्ष्ममें और सूक्ष्मको चिन्मात्र आत्मबोधस्वरूपमें लीन कर लीजिये। इस प्रक्रियासे ध्यान करनेपर आपका परमेश्वर-रूप प्रकट हो जायेगा।

शून्यका चिन्तन :

सम्पूर्ण विश्व नामरूपरहित शून्य है। मन भी शून्य है। आप शून्यताके अधिष्ठान हैं।

घट-पटादि जो भी पदार्थ दीख रहे हैं उन्हींको भीत हटाकर विभागके बिना अर्थात् बिना किसी दीवारके देखिये। यह आपका विश्रामस्थान है। आप स्वयं ब्रह्म हैं।

शून्य दिशाओंकी ओर देखिये। वृक्ष, पर्वत, भित्ति कुछ मत देखिये। चित्तवृत्तिके आलम्बनरहित होनेपर आप देखेंगे कि चित्त क्षीण हो गया है। आप स्वयं महाप्रकाश हैं।

जब दो पदार्थ, दो भाव या दो पद ज्ञात हो रहे हों तो उनके विभाजक मध्यवर्ती अवच्छेदक शून्यको देखिये। वृत्ति एकाग्र हो जानेपर दोनों पद पदार्थोंको एक साथ ही छोड़ दीजिये। आप स्वयं परमधामके रूपमें विराजमान हैं।

अनदेखेको देखिये :

अदृष्टपूर्व वस्तु जैसे त्रिनेत्र शंकर, चतुर्भुज विष्णु आदिमें अपनी चेतनाको रोक लो। दूसरे किसी पदार्थ देखे हुए घट आदिका चिन्तन मत करो। उस ध्येयके पूर्व और ध्येयका परित्याग करनेपर चेतनाका जो स्वरूप है उसमें कोई रूप नहीं है। व्यक्त ध्येय और पूर्वोत्तरवर्तिनी मध्यदशा दोनोंमें एकमात्र अनुसन्धाता प्रमाता ही है। वही चिन्मात्र अपना स्वरूप है। इसी दशामें आत्मपरमेश्वरका आविर्भाव होता है।

अपने देहपर दृष्टि दीजिये :

चरणसे लेकर केशपर्यन्त सम्पूर्ण शरीर चिन्मय है। इसके एक-एक कण रोम-रोम चिन्मय हैं। सम्पूर्ण जगत् चिन्मय है। अलग-अलग ऐसा चिन्तन कीजिये या एक साथ। अपने निर्विकल्प मनमें चिच्छक्तिका यह चमत्कार भर जाने दीजिये। बाहर-भीतर, पहले-पीछे सब चित्‌का

चमत्कार ही है। प्रकाशमान प्रकाशसे पृथक् नहीं होता। अन्यथा उसकी प्रकाश्यमानता ही सिद्ध नहीं होगी। प्रकाश ही प्रकाशित हो रहा है। प्रमाता ही प्रमेय हो रहा है। आप ही सबके रूपमें प्रकट हो रहे हैं।

समत्व विज्ञानका उदय कैसे हो ?

बाहरसे भीतर लिया हुआ प्राण जहाँ जाकर शान्त होता है वहाँसे बाहर निकलनेके लिए पुनः उदित होनेके पूर्व जो स्थिति है और बाहर गये हुए श्वासके भीतर आनेके लिए उन्मुख होनेके पूर्वकी जो स्थिति है दोनों ही प्राणापानके शान्तिस्थल हैं। अन्दर और बाहर दोनों ही स्थानोंपर उस समय प्राणापानका भेद नहीं रहता। अब आप यह देखिये कि प्रश्वास-निश्वासका गमनागमन शान्त है। केवल शून्य है। इस ध्यानसे समदृष्टिका उदय होगा।

आप परमानन्द हैं :

विषयोंके संयोग और सम्भोगसे जो आनन्द स्फुरण होता है उसे छोड़ दीजिये। अपने आनन्दामृतसे सम्पूर्ण जगत्को भरा हुआ देखिये। 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्।' आपके स्वरूपभूत चिदानन्द समुद्रकी लहरियोंसे सम्पूर्ण जगत् भर रहा है। आनन्द भी है जगत् भी है। चिन्मयके स्थान-पर रसमय कर दीजिये। अपने इस विस्तीर्ण और उदीर्ण आनन्दसे तरं-गायित जगत्को अपने वैभवके रूपमें देखकर आप स्वयंको परमानन्दके रूपमें अनुभव करेंगे।

जादूका खेल देखिये :

नेत्र बन्द कर लीजिए या खुले रखिये। जादूगरने अद्भुत खेल रचा है। मायाके उद्यान, विविध वृक्ष, ललित लताएँ, रंग-बिरंगे पुष्प, आप उनका आनन्द ले रहे हैं। जादूगरने अपने अङ्ग काट दिये, जोड़ दिये, अविद्यमान वस्तुएँ दिखा दीं, विद्यमानका लोपकर दिया, सबका लोपकर स्वयं भी लुप्त हो गया। यह आनन्द लेते-लेते आप निर्विकल्प निर्विषय अवस्थामें पहुँच गये। थोड़ी देर ऐसे ही रहिये।

प्राण-संस्पर्श :

नीचे और ऊपरके सब इन्द्रिय-छिद्रोंको बन्द रखिये। आपकी प्राण-शक्ति धीरे-धीरे नीचेसे ऊपर और ऊपरसे नीचे विचरती है। उसकी

शनैः- शनैः गतिका आनन्द लीजिये। एक स्थानसे दूसरे स्थानपर चढ़ रही है, उतर रही है, इतनी देर लग रही है मानो शरीरके अन्तरालमें एक चींटी मन्द मन्थरगतिसे उतर-चढ़ रही हो। उसके स्पर्शका आनन्द लीजिये।

मन ही मन प्राणवायुको संकुचित करके स्थिर कर लीजिये या फैलाकर छोड़ दीजिये या कहीं भी बाहर-भीतर स्थिर कर लीजिये। प्राणवायुके वशीकरणसे आत्मशक्ति उल्लसित हो जायेगी।

सुख-सादृश्य :

क्या आप गृहस्थ हैं? पत्नी-परिष्वंगका सुख आपके ध्यानमें है? सुख न स्त्रीमें है, न पुरुषमें है। वह है आनन्दशक्तिके समावेशमें। स्त्री-पुरुषके द्वन्द्वपरसे ध्यान हटा लीजिये और आत्ममात्रनिष्ठ सुखका चिन्तन कीजिये। युगलसंग-सुखकी अभिव्यक्तिका कारण था, सुख नहीं। केवल सुखमात्र जो कि अपना ही स्वरूप है, अवधानका विषय बनाइये। आत्मस्थानमें क्षण-क्षणके स्फुरणमें बिना किसी विषयके उस आनन्दको स्फुरित होने दीजिये। इससे बाह्यान्तरका विस्मरण हो जायेगा। आत्मानन्दमें स्थिरता आजायेगी। बृहदारण्यक श्रुतिका दाम्पत्य-सुख केवल दृष्टान्तमात्र है, विधान नहीं।

मानो कंगालको अनन्त निष्कण्टक कोशकी प्राप्ति हो गयी हो। चिर-कालसे वियुक्त प्रियतम, पुत्र, मित्रादिकी प्राप्ति हो गयी हो उस समय कैसा आनन्द होता है। आनन्द कहींसे आता नहीं। आप स्वयं शान्त आनन्द हैं, उस समय वह छलक पड़ता है। उस छलकते हुए आनन्दको मन ही मन पकड़ लीजिये और तन्मय हो जाइये। किसीके आने-जाने मिलने-बिछुड़नेकी आवश्यकता नहीं है। आप अपने आनन्दको उभारकर अपने वैभवको देखिये और शान्त हो जाइये।

अतिशय भूख लगनेपर भोजनका आनन्द, अत्यधिक प्यास लगनेपर शीतल जलका आनन्द, मधुर क्षीरके आस्वादनका आनन्द देखिये। प्रत्येक ग्रासमें प्रत्येक बिन्दुमें तुष्टि-पुष्टि और क्षुधाकी निवृत्ति हो रही है। उल्लास है, रस है और आनन्द है। स्पर्शविमर्शका उल्लास है,

स्नेहार्द्रताका रस है और अपने चेतन अहंका विमर्श परमानन्द है। आप ही हैं **रसो वै सः।**

क्या आपने कभी मधुर संगीत, सुकोमल स्पर्श, परम सौन्दर्यके दर्शनका आनन्द-चमत्कार अनुभव किया है। यदि कभी आपने किसी अनुपम सुखका साक्षात्कार किया हो तो उसको मनमें आरूढ़ करके शब्द-स्पर्शरूप-रहित आनन्दके रूपमें अनुभव कीजिये और तन्मय हो जाइये। आपकी सुषुप्त शक्तियाँ जाग्रत हो जायेंगी और विषय-निरपेक्ष आनन्दके रूपमें आप अपनेको अपराधीन ब्रह्म अनुभव करेंगे।

जहाँ मनमें प्रिय, मोद, प्रमोदकी वृत्तियाँ उठें वहाँ लग जाने दीजिये। सावधान! मन क्षुब्ध नहीं होना चाहिए। उत्कटतम सौन्दर्य, माधुर्यमे भी मैं इसको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला परमानन्द चिदात्मक शिव हूँ—यही ध्यान रखिये। किसी भी विषयके दर्शनरूप निमित्तसे उद्गत ज्ञानाकार और आनन्दाकार उस निमित्तका नहीं है, अपना है। उसी प्रज्ञान आनन्दमय मनको स्थिर होने दीजिये, वह पर्दा फट जायेगा।

सन्धिपर दृष्टि :

जब निद्रा आजाती है तब वृत्तियाँ तममें डूब जाती हैं और बाह्य विषयका दर्शन लुप्त हो जाता है। दोनों दशाओंकी एक सन्धि होती है जहाँ बाह्य विषयोंका दर्शन नहीं हो रहा है परन्तु वृत्ति तमस्से आच्छादित नहीं हुई है, आप अपनी संवित्को वहीं रोक लीजिये। घोर अन्धकार और विषय-प्रकाशका यह सन्धि-स्थल स्वानुभवगम्य है एवं आनन्द-संवित्के उद्दीप्त उत्थानका अवकाश। आप अपनेको आनन्द संविन्मात्र अनुभव करेंगे।

बाह्याकाश :

आकाशमें प्रकाश फैल रहा है। वह प्रकाशमात्र है। वह सूर्यके निमित्तसे या चन्द्रमा, दीपक आदिसे आया, इससे कोई मतलब नहीं। घरके भीतर हो या बाहर, प्रकाशमण्डलमें अपनी दृष्टि निर्निमेष संलग्न कर दीजिये। जितने स्थानमें प्रकाश है, वह धारणाका विषय है। दृष्टि शिथिल होते ही पुनः लगा दीजिये, यह ध्यान है। केवल प्रकाश ही प्रकाश दिखे, यह समाधि है। ज्ञानदृष्टिसे सम्पूर्ण विश्वको चिद्घनाकार

स्वस्वरूप ही देखिये। प्रकाशका छोड़ दीजिये, केवल निर्मल आकाश है। वह आपके स्व-स्वरूप चिदाकाशसे अभिन्न है। बस, आप ही आप हैं।

अल्पाश्रय :

कोमल आसनपर लेट जाइये। हाथ-पाँव ऊपर उठा लीजिये। केवल कमर ही आसनका स्पर्श करे। एक शक्ति आपके शरीरमें दौड़ेगी। वह सुषुप्त चेतनाको जाग्रत् कर देगी। सावधान रहेंगे तब हाथ-पाँव ऊपर रहेंगे। तमोगुण मिटेगा। शरीरको हिलायें नहीं, रजोगुण मिटेगा। सात्त्विक बुद्धि जाग्रत् होकर आत्म-प्रतिविम्बको ग्रहण करेगी, परिपूर्ण आत्ममयी हो जायगी।

कुक्षिमें :

आसनपर भलीभाँति बैठ जाइये। दोनों हाथों और शरीरके बीच दो त्रिकोणाकार आकाश बनेंगे। आप उसी आकाशमें अपने मनको लगाइये। वह अपनी दौड़-धूप बन्दकर शान्त हो जायगा। आकाशसे एक होकर पूर्ण हो जायगा। सम्पूर्ण चिच्छक्तिके आविर्भावका स्थान बन जायगा।

स्थूलालम्बन :

शरीर हो या घड़ा, उसपर दृष्टि डालकर एकटक स्तब्ध कर दीजिये। पलक न गिरे, न उठे। लक्ष्य अन्दर रहे। वाह्य आधार छूट जायगा। शीघ्र ही आपका मन निराधार हो जायगा और भेदरहित होकर शिवसे एक हो जायगा।

उच्चारण :

मुँह खोल लीजिये। जिह्वाको भीतर रखिये। जिह्वा न ऊपर लगे, न नीचे। सारी चेतना वहीं समेट लीजिये। अकार-रहित 'ह्'का उच्चारण कीजिये। उच्छ्वासमें 'ह्' और निःश्वासमें 'स्'। परन्तु इस मुद्रामें 'स्'का उच्चारण नहीं होता। दृष्टिको भ्रूमध्यमें स्थिर कर दीजिये। मन शान्त होकर अपने प्रकाशक प्रमातामें लीन हो जायगा।

आसनालम्बन :

आप किसी भी आसनपर बैठिये या लेटिये। मृगचर्म, रेशमी, रूई-की गद्दी, मखमल, शीतल वस्त्र कुछ भी या गद्दी, तकिया, ओढ़ना—सब

कुछ ले सकते हैं। उनके स्पर्शमें क्या सुख मिलता है, इसको देखिये। बस, सुखको पकड़ लीजिये और मन ही मन वस्त्र सम्बन्धको छोड़कर अपने शरीरको कुछ ऊपर उठा लीजिये—सब कुछ नीचे, आप ऊपर! चाहे तो शरीरको भी नीचे छोड़ सकते हैं, अपनेको निराधार देखिये। सबकी सब वासनाएँ छूट जायँगी और आप अपने स्वरूपमें स्थित हो जायँगे।

चञ्चलतामें :

आप झूलेपर झूल रहे हों या हाथी, घोड़ा, मोटरपर बैठकर चल रहे हों। यह भी हो सकता है कि आप स्वयं शरीरको हिला रहे हों। आप ध्यान दीजिये, बाह्य या शारीरिक चञ्चलता आपकी चेतनाको नहीं हिला सकती। आपका मानस प्रशान्त सत्तामें स्थित है। वह हिल नहीं रहा है, प्रकाश रहा है। आपका मन चञ्चल नहीं, चञ्चलताका आधार आकाश है। आकाश आपके चिदानन्दस्वरूपसे अभिन्न है। बस, दिव्यता ही दिव्यता!

शरीर निश्चल रखिये। उन्मेष-निमेष-रहित दृष्टिसे निर्मल आकाशको देखते रहिये। आपमें परिपूर्ण परमेश्वर-भावका आवेश हो जायगा।

आपके लिंग-शरीरमें अर्थात् हृदय-ब्रह्मरन्ध्रमें सम्पूर्ण तिमिराकार आकाश लीन है। 'लिंग' शब्दका अर्थ ही है लीनका गमक। अब आप निर्भय होकर अपने सर्वसंहारक सर्व-भावपरिपूर्ण कालरूपको अन्तःकृत आकाशमें ही देखें। आप देखेंगे तिमिरकी घनी श्यामता और हो जायँगे परमप्रकाश ज्योतिर्घन!

वेदान्तकी पद्धतिसे :

विशुद्धसत्त्वप्रधान माया है और मलिनसत्त्वप्रधान है अविद्या। माया-प्रतिबिम्बित चिदात्मा 'मैं सब जानता हूँ, मैं सब करता हूँ' इस प्रकार सर्वज्ञत्वादि गुणोंका आश्रय ईश्वर है और वह एक है। अविद्या-प्रतिबिम्बित चिदात्मा जीव है। वह भी 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' ऐसा सोचता है। वह मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृति भेदोंके कारण अनेक होता है। ये जीव आतिवाहिक लिंग-शरीरमें अहंभाव करके सुखी, दुःखी क्षुधा-पिपासावाले और अध्यस्त अन्तःकरणधर्मके अभिमानी बन जाते हैं।

इनकी संज्ञा 'तैजस्' है। कारण-शरीर अविद्या है। उसके अभिमानी जीव 'प्राज्ञ' हैं। समष्टिमें तैजस्के स्थानपर 'हिरण्यगर्भ' है और प्राज्ञके स्थान पर 'ईश्वर'। स्थूल समष्टिका अभिमानी 'वैश्वानर' है, व्यष्टिका 'विश्व'। प्राज्ञ सुषुप्तिमें अविद्याविषय आनन्दभोग करके उठता है और अपने अज्ञानका स्मरण करता है। ईश्वर स्वयं सर्वज्ञ होनेके कारण अविद्याका अभिमान तो नहीं करता, परन्तु प्राज्ञोंके साथ तादात्म्य होनेके कारण वह अपनेको ही सर्वकर्ताके रूपमें अनुभव करता है। महाप्रलयकालमें जब ईश्वर योगनिद्राप्रसक्त होता है, तब प्राज्ञोंकी अविद्या भी वासनारूपसे उसीमें लीन रहती है। अन्यथा महासर्गके समय कारण-शरीरका उत्थान होकर जीवदशाका प्रादुर्भाव कैसे होता? यही है वेदान्तकी सृष्टि-लय-प्रक्रिया। अब आप ध्यान दीजिये—विश्व-वैश्वानर, तैजस्-हिरण्यगर्भ, प्राज्ञ-ईश्वर, माया-अविद्या और उनके सब विलास आपके ही स्वरूप हैं! आप ही भैरवात्मा तुरीय हैं। पूर्वोक्त सब कुछ आपका ही प्रकाश, आपका ही विलास है, आप स्वयं ब्रह्म हैं।

कृष्णपक्षमें :

कृष्णपक्षकी रात्रिका अन्धकार चारों ओर फैल रहा है। आकाश मेघाच्छन्न है। अपने हाथतक दीख नहीं रहे हैं। आप चिरकालतक इस अन्धकारको खुली आँखों देखिये। आप समग्र अन्धकारके प्रकाशक—पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचेके भेदके बिना प्रकाशक हैं; परमेश्वर हैं। जब ऐसा अन्धकार सम्मुख न हो तो नेत्र बन्द कर लीजिये। देखिये, वैसा ही अन्धकार चारों ओर फैला हुआ है। कभी खुले-नेत्र देखिये, कभी बन्द-नेत्र। आपकी परमेश्वरता प्रकट हो जायगी।

किसी भी इन्द्रियके विषयके दर्शनमें बाधा पड़नेपर स्वभावसिद्ध या प्रयत्नसिद्ध निरोध उदित होता है। उस निरोधका आलम्बन लेकर आप अन्तर्मुख हो जाइये और अद्वय-शून्यमें प्रविष्ट हो जाइये। परचैतन्य आत्माका प्रकाश हो जायगा।

केवल 'अ' :

बिन्दु और विसर्गसे रहित 'अ'का उच्चारण दोहराइये अर्थात् न 'अं' बोलिये, न 'अः'। बिन्दु अविभाग संवेदन है। विसर्ग भेदसर्जनकी

प्रक्रिया है। अकार माने करणरहित अकिञ्चित् चिन्तन। न कुछ पहले, न बीचमें। यह दृष्टि परमेश्वरको प्रकट कर देगी।

प्रत्येक वर्णके साथ विसर्गका उच्चारण करनेपर उसके अन्तका दर्शन होता है : कः, खः, गः आदि। अन्तर्मुख होकर अपने स्वभावको देखिये। विसर्गके अन्तमें जो शून्यता है, वही स्वभाव है। अपनी चेतनाको तदाकार कर दें। निराश्रय संवेदनमें ब्रह्म-संस्पर्श होता है।

अपने आत्माको दिशाओंके भेदसे अनावृत आकाशरूप देखिये। आप चिन्मात्र हैं। न आपसे अन्तरंग आपका कोई आश्रय है और न आपसे बहिरंग आपका कोई विषय। बस, यही परिपूर्ण अहंताके प्रत्यभिज्ञानका स्थान है।

शरीरपर चोट :

अंगुली, अंगूठा आदिपर किसी नुकीली सूई या काँटेसे चोट करके जरा-सा छेद कर लें। अपनी सारी चेतनाको वहीं समेट लें। यह जो व्यथा-अनुभवकी संवित् है, उसमें एकाग्र हो जायँ। इससे आत्मविषयक निर्मल ज्ञानकी युक्ति निकल आयेगी। स्वाभाविक चोटकी व्यथा होनेपर भी ऐसा चिन्तन कर सकते हैं।

दृष्टिका उत्कर्ष :

आप सूक्ष्मदृष्टिसे देखिये। जैसे स्वप्नमें दीखनेवाले शरीरोंमें पृथक् अन्तःकरणोंकी सत्ता नहीं है उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें दीखनेवाले शरीरोंमें भी पृथक्-पृथक् अन्तःकरणोंका अस्तित्व नहीं है। आपका शरीर काठके हाथी या चामके हरिनके समान अन्तःकरण-शून्य है। जब आपके अन्तःकरण ही नहीं है तो सकल्प-विकल्प कहाँ ? इस भावनासे निर्विकल्प समाधि हो जायगी ओर स्वरूपका प्रकाश होगा।

विवेकख्याति :

माया अविद्यमानको दिखाकर और विद्यमानका लोपकर पुरुषोंको मोहित करती है। मोहित करना मायाका धर्म है। कुछ करना कलाका धर्म है। कुछ जानना विद्याका धर्म है। यह सब मेरे धर्म नहीं हैं। इस अनुसन्धानसे अपनी पृथक्ता प्रकट होकर स्वकी पूर्णताके द्वारा सबको आत्मसात् कर लेती है।

शान्ति :

अन्तर्मुख होकर देखिये, बिना सोचे-विचारे यह इच्छा कहाँसे पैदा हो गयी ? निश्चय ही चिन्मात्रके अमूर्त होनेपर भी मायाकृत क्षोभसे ही इसका उदय हुआ है। चिन्मात्र आत्मा अमूर्त निराकार है। इसमें इच्छा और उसके विषय अविद्या ही हैं। इस दृष्टिको जाग्रत् करके जहाँ इच्छा हुई है, वहीं उसको लीन हो जाने दीजिये। अविद्या ही आकाश है। उसमें न जाने क्या-क्या उदय-विलय होते रहते हैं। इच्छा उदयके पूर्व भी आप शान्त हैं, पश्चात् भी। उन्मेष-निमेषके समान इच्छाका उदय-विलय होता है, आप निर्विकल्प हैं। एक चिन्ता उठी, लीन हुई। फिर पहली ही दूसरी चिन्ताके रूपमें आयी। अनेक इच्छाओं और चिन्ताओंमें एक ही इच्छा या चिन्ता अनुगत है। इच्छा या चिन्ता नहीं है, आप ही हैं। आप इच्छा, चिन्ता, अनेक प्रकारके ज्ञानके रूपमें प्रकट हो रहे हैं, आप ही हैं। यह सब आत्मस्वरूप ही है, ऐसा चिन्तन करनेसे परमार्थ-ज्ञान हो जायगा।

इच्छा-उदयके पूर्व :

विचार कीजिये, जब घट-पटादि अन्य विषयोंका ज्ञान और उनके प्राप्ति-परिहारकी इच्छा उत्पन्न नहीं हुई थी तब अहंभावका क्या स्वरूप था ? वहाँ कोई सीमित अहं नहीं था। वही तो चिदानन्द है। वस्तुतः चित्त, निर्वृति, इच्छा, ज्ञान, क्रिया सब आत्माकी ही शक्तियाँ हैं। अतः केवल पूर्वदशामें ही नहीं, सभी दशाओंमें यह प्रमाता परिच्छिन्न नहीं, सच्चिदानन्द सदाशिव ही है।

जब इच्छा और ज्ञान उदित हो जाते हैं तब विषय-सम्पर्कके पूर्व ही यह ज्ञान और इच्छा आत्माका ही स्वरूप है, ऐसा निश्चयकर चित्तको इच्छा और ज्ञानके आकारमें ही रहने दीजिये। केवल इसीसे परमार्थ-ज्ञान हो जायगा।

आप क्षणिक-विज्ञानवादसे परिचित होंगे। ज्ञेयरूप वास्तविक घटादिके बिना ही घटज्ञान होता है। घटज्ञानमें ज्ञातरूप कोई आत्मा भी नहीं रहता, केवल ज्ञान ही है और वह भी क्षणिक। अब आप देखिये कि न यह है और न मैं। केवल ज्ञान ही है और आत्ममायासे ही तत्तदाकार भास रहा है। ज्ञानातिरिक्त न विषय है, न विषयी। यह वही घड़ा है,

ऐसा समझना भी भ्रम ही है; क्योंकि ऐसी समझ तो नदी-प्रवाहमें भी होती है कि यह वही है। ज्ञाता-ज्ञेयके विभागसे शून्य ज्ञानस्वरूप सदाशिव आप ही हैं।

हाथी, चींटी, कीड़े-मकोड़ेसे लेकर सदाशिवपर्यन्त केवल चेतना ही चेतना है, कहीं कोई विशेष नहीं है। जो सूर्यमें चमक रहा है वही एक नन्हें-से कीड़ेमें भी। सब ब्रह्ममय ही है। इस भावनासे, इस बोधको धारण कर लेनेसे आप संसारपर विजय प्राप्त कर लेंगे।

विकारोंमें :

मनमें एकाएक विकारोंका उदय हो जाता है। काममें स्त्री-पुरुष, क्रोधमें शत्रु, लोभमें धन, मोहमें स्वजन इसी प्रकार मद, मात्सर्य आदिके विषय मनमें उदित हो जाते हैं। ठीक है—आगये, आगये। जो भी आकार आया हो, उसीमें बुद्धिको स्थिर कर दीजिये। बस, आप अन्त-र्मुख हो जायँगे। जैसे कच्छप अपने अंगका संकोच कर लेता है, वैसे ही आप वृत्तिका संकोच कर लीजिये। आप देखेंगे कि इस एकाग्रतासे बाह्य विषयका आलिंगन नहीं होगा, आकार भी छूट जायँगे और संविन्मात्र वस्तु शेष रहेगी।

सम्पूर्ण विश्व इन्द्रजाल अर्थात् जादूके खेलके समान है या संविद्में खचित चित्रके समान है। जैसे नावपर चल रहे हों या स्वयं घूम रहे हों तो दृश्य घूमते हुए दीख पड़ते हैं। ऐसा ध्यान या दृष्टि आपको परमा-नन्दमें मग्न कर देगी। ग्राह्य, ग्राहक दोनों हो संविद्के विलास हैं।

सुख-दुःखकी सन्धि क्या ?

अपने चित्तको दुःखके विषयमें मत फेंकिये। सुखके विषयमें भी स्थापित मत कीजिये। अभिप्राय यह कि 'मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ' ऐसा अभिमत मत कीजिये। शुद्ध आत्मामें सुख-दुःखादिका अध्यास करके मत बैठिये। केवल यह देखिये कि दोनोंके मध्य क्या है ? वही तो चेतनतत्त्व है। उसीपर विमर्शको स्थिर कर दीजिये।

पूर्ण-अहंता :

केवल एक देहमें 'मैं हूँ' यह आस्था छोड़ दीजिये। मैं केवल प्रमाता चिन्मात्र आत्मा हूँ, ऐसा मत सोचिये। मैं सर्वस्वरूप चिन्मात्र सदाशिव

हूँ, सर्वदा हूँ, सर्वत्र हूँ, सर्व हूँ। असंदिग्ध मनसे और संविन्मात्र दृष्टिसे ऐसा देखिये। दूसरेको मत देखिये।

अनेक विद्वानोंने शिव-शक्तिके सामरस्यरूप आत्मामें विश्वात्मा अहं-भावकी विशद व्याख्या की है। परन्तु तत्त्वमञ्जरीकार इस अहंभावका भी निषेध करते हैं। उनका कहना है कि यदि 'मैं' नामकी कोई परिच्छिन्न वस्तु हो, तो चाहे जहाँसे भयकी प्राप्ति हो सकती है। जब 'मैं' ही कुछ नहीं, तो भय कैसा ?

बौद्धमत भी इसका विरोधी नहीं है। उनका कहना है कि जब 'मैं' को पृथक् करके बनाये रखेंगे, तो दूसरा भी रहेगा। स्व-परका विभाग होनेपर राग-द्वेष भी अवश्यंभावी है। सच पूछें तो सभी दोष मैं और तू के भेदका आश्रय करके रहते हैं। अतएव इस बातपर ध्यान जमाइये कि आप विश्वात्मा हैं, विश्वसे परे हैं, स्वतन्त्र, दिव्य एवं अक्षर हैं। आपका अहं निरन्तर परिपूर्ण संवित्तत्त्व ही है। सारे भय मिट जायँगे।

मूर्ख मनुष्य अपनेको अकेला समझकर डरता है। विज्ञानवान् पुरुष यह सोचकर कि मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं, निर्भय हो जाता है। वास्तविकता यह है कि सभी शास्त्रोंमें अहंके रूपमें ही भगवान्का वर्णन है। केवल उसकी परिमितता ही त्याज्य है।

ज्ञानकी व्यापकता :

किसी भी वस्तुके विषयमें हमारा ही ज्ञान और इच्छा हैं, परन्तु वे केवल हमारे ही हृदयमें सीमित नहीं हैं। वे सर्वव्यापी हैं। सदाशिवसे लेकर कृमिपर्यन्त और घटपटादिमें भी जहाँ-जहाँ ज्ञान और इच्छा है, वह सब मुझ ज्ञानस्वरूपका ही विस्तार है। ज्ञान-क्रियात्मक सब कुछ सर्वात्मक ही है। ऐसी धारणा करनेसे आप सर्वात्मक हो जायँगे।

सावधानता :

सभीको अर्थात् सदाशिवसे लेकर कीटपर्यन्त सब प्राणियोंको ग्राह्य-ग्राहकका संवेदन समानरूपसे ही होता है। योगियोंकी यह विशेषता है कि वे सम्बन्धमें सावधान रहते हैं। अर्थात् किसीके साथ अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते। ग्राहकनिष्ठ परमार्थताको विस्मृत नहीं करते।

संवित् :

जैसे अपने शरीरमें संवित् है, वैसे ही दूसरोंके शरीरमें भी। अपने शरीरकी अपेक्षा छोड़कर दूसरोंके शरीरमें भी शरीर निरपेक्ष संवित्का चिन्तन कीजिये। कुछ ही दिनोंके अभ्याससे आप अपनेको सर्वव्यापी अनुभव करेंगे। बात यह है कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि अवस्थाएँ परस्पर व्यावृत्त हैं, परन्तु संवित् सबमें अनुवृत्त है। इन चारों अवस्थाओंमें देहकी अपेक्षा रखे विना ही संवित् इनसे स्वतन्त्र है। इस संवित्पर दृष्टि देनेसे परिच्छिन्नताका भाव छूट जाता है।

निराधारता :

मनको बाह्यालम्बनसे शून्य कर दीजिये। संकल्प-कलाका किञ्चित् भी विकल्प मत कीजिये। संकल्प-कलासे जीवत्व है और निर्विकल्पतासे ब्रह्मत्व है। आपका स्वरूप परिपूर्ण विज्ञानस्वरूप ही है।

स्मरण कीजिये :

आप शुद्धबोधस्वरूप परमात्मा हैं और आपका ही सब स्फुरण विस्तार है। यह द्विविध प्रत्यभिज्ञा होने दीजिये। जो सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, व्यापक, परमेश्वर, स्वच्छ, स्वतन्त्र शिव है, वही मैं हूँ—इस असंदिग्ध दृढ़भावसे आपकी शिवता प्रकट हो जायगी। आप अपना वैभव देखिये। विश्वमें जो पृथक्ताएँ दीख रही हैं, वे जलकी लहरियोंके समान, अग्निकी ज्वालाके समान और सूर्यकी बिखरती हुई रश्मियोंके समान मेरा ही वैभव है। आप ही परिपूर्ण परमेश्वर हैं।

विराम-दशा :

प्रारम्भिक दशामें ऐसा भी किया जा सकता है कि दौड़ते-दौड़ते या प्रदक्षिणा करते-करते थक जानेपर शरीरको धरतीपर गिर जाने दीजिये। क्षोभशक्ति या वेगशक्तिका विराम होनेपर निर्विकल्प-दशाका उदय हो जायगा। (सयाने या ओझा लोग देवताओंका आवेश प्राप्त करनेके लिए अब भी प्रायः ऐसा करते हैं।)

किसी वस्तुको ठीक न समझ पानेपर असमर्थतासे, अज्ञानसे या चित्तका लय होनेपर विज्ञानात्माका आविर्भाव होता है।

स्तब्धता :

अपने नेत्रोंको स्तब्ध कर लीजिये। न हिले, न डोलें। बस, केवल इतने मात्रसे ही कैवल्यका उदय हो जायगा।

कान और अधोद्वार दोनोंको संकुचित करके 'अनच्कमहलम्' का ध्यान कीजिये। सनातन ब्रह्ममें प्रवेश हो जायगा। सन्त-सम्प्रदायोंमें अब भी प्रायः 'महल' शब्दका प्रयोग चलता है। यहाँ इसका अभिप्राय यह है—'अनच्क' अर्थात् स्वररहित, 'अहल्' अर्थात् व्यञ्जनरहित। अर्थात् अवर्णनीय पदका चिन्तन कीजिये। ब्रह्मभाव प्रकट हो जायगा।

ऊर्ध्वदृष्टि :

किसी कुँआ, बड़ा गड्ढ़ा या गहरी जगहमें बैठकर ऊपरकी ओर देखिये। बुद्धि अविकल्प हो जायगी और चित्त निर्विषय हो जायगा।

गड्ढे या कुँएके सर्वथा समीप खड़े हो जाइये, ऊपरसे ही नीचेकी ओर आकाशको निश्चल दृष्टिसे देखिये। तत्क्षण चित्तकी भाग-दौड़ मिट जायगी।

सर्वत्र :

नील-पीतादि रूप या सुखादिरूप फलमें जहाँ-जहाँ आपका संवेदन फैले, वह बाह्याकार हो या आन्तराकार, सर्वत्र चित्प्रकाशका शिव विद्यमान है। दिक्, काल, वस्तु सब प्रकाशसार हैं। इन प्रकाशमान पदार्थोंसे प्रकाशात्मा विज्ञानस्वरूप आनन्दका परिच्छेद नहीं होता। अतः सर्वत्र उसीका अनुभव कीजिये।

योगशास्त्रमें प्रायः छः प्रकारकी समाधियोंका उल्लेख मिलता है। समाधि माने अखण्डात्मा अद्वय ब्रह्मस्वरूपमात्रसे स्थिरीभाव, वह बाहर हो या भीतर। हृदयमें दो प्रकारकी समाधि है: निर्विकल्प और सविकल्प। सविकल्पके दो भेद हैं: दृश्यसम्पृक्त और शब्दसम्पृक्त। ये ही तीनों समाधियाँ बाह्यालम्बनसे भी होती हैं। इस प्रकार इनकी संख्या छः हो जाती हैं। सातवीं समाधि है: जहाँ-जहाँ मन जाय, वहीं-वहीं ब्रह्मदर्शन। यह वेदान्तको भी मान्य है।

चक्षुरादि इन्द्रियोंसे विषयोंमें आत्मचैतन्यकी अभिव्यञ्जना होती है। चैतन्यातिरिक्त चेत्य नहीं हो सकता। जैसे दर्पणमें दीखता हुआ प्रति-

बिम्ब विचित्र होनेपर भी दर्पणसे भिन्न नहीं है, इसी प्रकार आत्मचैतन्यमें अभिव्यक्त विश्व अपने आधारभूत चैतन्यसे पृथक् नहीं है। जैसे घनीभूत प्रकाश ही सूर्यमण्डल है, इसी प्रकार संकुचित चिन्मात्र ही विश्वरूपसे भास रहा है।

सामीप्य :

छींक आनेके पहले और निवृत्त हो जानेके पीछे, भय, शोक, शून्य-वन, युद्धसे पलायन, कौतूहल, क्षुधानिवृत्ति आदि अवस्थाओंमें ब्रह्मसत्ता अनवच्छिन्न चिदानन्दरूपसे समीप ही स्फुरित होती रहती है। प्रबुद्ध पुरुष विमर्श करके उसमें प्रविष्ट हो जाता है और अप्रबुद्ध मूढ ही रहता है।

स्मृति :

जब कोई भी पदार्थ स्मृतिपथपर आरूढ़ हो तो उसकी पूर्वानुभूतिमें मनको फेंक देना चाहिए, क्योंकि अनुभूत पदार्थकी ही स्मृति होती है। मन चला गया अन्यत्र, आपका शरीर मनसे रहित है। अब आप उसको देखिये। स्मर्यमाण और अनुभूयमान दोनोंमें ही अनुसन्धाता एक है। अन्य देश, अन्य काल और अन्य वस्तुमें भी वही है और प्रत्यक्ष देश, काल और वस्तुमें भी वही है। शरीर-विषय-सम्बन्धके बिना ही संवित् प्रकाशित हो रही है।

परावर्तन :

किसी वस्तुपर दृष्टि डालकर धीरेसे लौटा लीजिये। तद्विषयक ज्ञान और संकल्प भी निवृत्त कर दीजिये। आप शून्यमें विश्राम कर रहे हैं—साक्षात् अनुभवस्वरूप।

भक्ति :

जब परमेश्वरके प्रति भक्तिका उद्रेक होता है तब दूसरी वस्तुओंसे विरक्ति हो जाती है। बुद्धिस्थ विरक्तिको देखिये। वही शिवकी वास्तविक शक्ति है। उसकी भावनामात्रसे आप शिव हैं।

सर्वव्यापी परमेश्वरके चरणोंपर गिरनेका नाम भक्ति नहीं है। सम्पूर्ण भावोंके स्वभावको परमेश्वरके साथ एकीभूत करके भावना करना ही भक्ति है।

दृश्यमानकी शून्यता :

एक वस्तु ज्ञात हो रही है या बहुत-सी वस्तुएँ बाहर-भीतर कहीं भी प्रतीत हो रही हैं। क्या हुआ ? उनके ज्ञानके समकाल ही उनकी शून्यता-की भावना कीजिये। उनके 'है' में नहीं देखिये। विद्यमान वस्तुका ही अभान कर दीजिये। वेद्यमें ही वेद्याभावात्मक प्रकाशरूपा चित्तका निर्विकल्प संवित्से ध्यान कीजिये। ऐसी दृष्टि करने-मात्रसे ही आप शान्त, ब्रह्मस्वरूप हो जायँगे।

शुद्धि-अशुद्धिसे निश्चिन्त :

अल्पज्ञोंने शुद्धिके नामसे जिसका वर्णन किया है, शिवानुभूतिमें वह अशुद्धि ही है। आप-शुद्धि-अशुद्धिका संकल्प-विकल्प छोड़कर निर्विकल्प परमानन्द-संवित्में बैठ जाइये।

मिट्टी-पानीसे कितनी भी पवित्रता सम्पादित की जाय, बहिर्मुख अपवित्र ही रहता है। वह तो ऐसा ही है, जैसे घड़ा बाहरसे चमक रहा हो और भीतर मल रखा हुआ हो। कहना यह है कि तत्त्वज्ञानमें उसका विशेष उपयोग नहीं है। यदि मिट्टी-पानीका उपयोग तत्त्वज्ञानमें प्रति-बन्धक नहीं है तो उसके करनेमें क्या हानि है ? हमारा इतना ही कहना है कि जैसे जप, होम आदि कर्मोंमें शरीरकी शुद्धि अपेक्षित है, वैसी ज्ञानके लिए आवश्यक नहीं है। उसका विस्मरण ही अभीष्ट है। वह शुद्ध है या अशुद्ध, इसपर ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं है। स्नान भी मन्त्र, मृत्तिका, प्रकाश, वायु, दिव्यभाव, जलीय और मानस भेदसे सात प्रकारका होता है। यह सब धर्मकी दृष्टिसे उचित है, परन्तु परिपूर्ण आत्मसंवित्का चिन्तन करनेके लिए इनकी कोई आवश्यकता नहीं। कितनी भी शुद्ध करो, देह तो अशुद्ध ही रहेगी। इसका भाव छोड़ना ही सबसे उत्तम पवित्रता है।

निष्कर्ष यह है कि क्या विहित है और क्या निषिद्ध, इसके पीछे पड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं। सब कुछ विहित है, सब कुछ निषिद्ध हैं। यहाँ अवश्य कर्त्तव्य विधान यह है कि चाहे जैसे भी हो, अपने चित्त-को परिपूर्ण विज्ञानमें स्थिर कर लिया जाय, समाधि लगाओ, कर्म करो, मत करो, भोग भोगो, वे सब तुम्हारा स्पर्श नहीं करेंगे। जिसको विषाप-

हारी मन्त्र सिद्ध है, वह विषभक्षण करनेपर भी उससे प्रभावित नहीं होता। परमार्थवस्तुमें शुद्धि-अशुद्धि प्रकाशसे अतिरिक्त नहीं है।

साक्षात् अपरोक्ष पूर्णता :

साधारणसे साधारण प्राणी भी यह अनुभव करता है कि 'मैं हूँ', 'मैं जानता हूँ', भले वह विवेकी हो या विवेकहीन। वही तो सत्स्वरूप विज्ञाता आत्मा है। यहाँ 'अहं' और 'विमर्श'की एकता है। अर्थात् अहं ही सत्ता और ज्ञान है, अविनाशी सर्वज्ञ है। उपायकी क्या आवश्यकता? जैसा कि कहा है 'घड़ा सूर्यको प्रकाशित नहीं करता। कोटि-कोटि उपाय भी शिवको प्रकाशित नहीं करते। तुम स्वस्वयंप्रकाश शिव हो।' 'संवित्-प्रकाश'का वचन है 'आत्मतत्त्व अपरोक्ष, निरावरण, स्वप्रकाश-रूपमें स्थित है। उपायका विस्तार करनेवाले अज्ञानी हैं।' 'महार्थमञ्जरी'-कारने कहा है : 'मूर्ख और पनिहारिन भी जिसको जानती है उसको कौन नहीं पहचानता?' देखिये श्रुति :

> **'उतैनं गोपा अदृशन्नुतैनमुदहार्यः।**
> **उतैनं विश्वा भूतानि स दृष्टो मृडयाति नः ॥'**

ब्रह्मको परिपूर्णता :

शत्रु-मित्र, मान-अपमान सब सम हैं। ब्रह्मको परिपूर्ण जानकर सुखी हो जाओ।

किसीसे द्वेष मत करो, किसीसे राग मत करो। राग-द्वेष छोड़ते ही ब्रह्मभावका विकास हो जाता है।

अवेद्य, अग्राह्य, शून्य और अभावानुपाती जो कुछ है, सो सब परिपूर्णतम ब्रह्म ही है। जिसमें वह न हो, ऐसा कुछ नहीं है। जहाँ वह न हो, ऐसा कुछ भो नहीं है। वहाँ उपाय भी नहीं है। वह शिवरूप शून्य है। एक पुष्प और आकाश-पुष्पमें क्या अन्तर है? दोनों स्फुरण-मात्र हैं। सब स्फुरण ही तो है।

आकाशसे निराकाश :

बाह्याकाशपर मन लगाइये। वह नित्य है, निराश्रय है, शून्य है, व्यापक है, आदि-अन्तसे रहित है। उसमें मन लगाना अर्थात् उसका

विमर्शात्मक ज्ञानके द्वारा भासना। ऐसी स्थितिमें निरालम्ब चेतनका उदय हो जायगा और निराकाश अशून्य धाममें समावेश होगा। जहाँ-जहाँ मन जाय, क्योंकि वह चञ्चल है, तो उस मनकी विषय-वस्तुको उसी निर्विकल्प संवेदनरूप चेतनके विमर्शसे तत्काल छोड़ दीजिये। फिर भी जाय तो पुनः छोड़ दीजिये। वैराग्य और अभ्यास दोनोंकी दृढ़तासे मन निरालम्ब और परिपूर्ण परमात्मा ही हो जाता है।

सच तो यह है कि ज्ञानका चाहे जो भी रूप हो—'मैं, मेरा, यह' आदि—उस परिच्छिन्नताके प्रसंगसे भी ज्ञानात्मा परिच्छिन्न नहीं होता, पूर्णात्मा ही रहता है। इसका कारण यह है कि अहं-विमर्श कभी छूटता नहीं। वह विविध प्रतिपत्तियोंमें एक ही निर्विशेष रहता है। आत्मा परमानन्द-स्वरूप तो है ही। ज्ञानी हो या अज्ञानी—सबका आत्मा एक है। प्रेम ही भजन है। प्रेम ही ब्रह्म है। न्यूनता या पूर्णताके भावसे वह विच्छिन्न नहीं होता, आनन्दस्वभाव ही रहता है। ज्ञान हो या अज्ञान, कभी आनन्दसत्ताकी परमप्रेमरूपता क्षीण नहीं होती। ज्ञानी-अज्ञानी सभीके रूपमें स्वतन्त्र परमेश्वर ही ज्ञात हो रहा है। अबोध, बोध, सम्बोधकी कल्पना करके उसके स्वातन्त्र्यको विघटित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह सर्वथा निर्विकल्प ही है।

नामोच्चारण :

पाञ्चरात्र-मतमें 'वासुदेव', 'विष्णु', 'विश्वम्भर', 'हरि' आदि नामोंके उच्चारणमात्रसे ही मोक्ष माना गया है। आप भी नित्य, विभु, निराधार, व्यापक आदि शब्दोंके उच्चारण कीजिये और उसके अनुरूप ध्यान कीजिये। आप स्वयं उन्हीं शब्दोंके अर्थ हैं।

वेदान्तके अनुसार चिन्तन कीजिये। यह सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्च अतात्त्विक, इन्द्रज़ालके समान है। इन्द्रजाल कोई वस्तु नहीं होती, इस विमर्शकी दृढ़तासे शान्ति प्राप्त हो जाती है।

आत्मा-निर्विकार है—बोधात्मक, चिदात्मा, निर्विभाग। भिन्न-भिन्न ज्ञान और क्रियाएँ विकारमात्र हैं। उन्हींसे बाह्य पदार्थ होते और जाने जाते हैं। 'चन्द्रज्ञान'का वचन है—सब शून्य निरालम्ब ही हैं, माया हैं, स्वप्न हैं, भ्रान्ति हैं। शून्यसे शक्ति, शक्तिसे वर्ण, वर्णसे मन्त्र, मन्त्रसे

सृष्टि। अतः सृष्टि कुछ नहीं है, शुद्ध संविन्मात्र ही है। यही अनुत्तरभाव है अर्थात् इसके बाद कुछ नहीं है।

कल्पनाएँ मिथ्या हैं :

मैं हूँ चिन्मात्र। मुझमें न बन्धन है, न मोक्ष। जहाँ देश-काल नहीं, वहाँ मुक्ति-बन्धन कैसे ? अपने स्वरूपका विमर्श न करनेके कारण ही भयभीतकी विभीषिकाएँ झलक रही हैं। खेतोंमें चिड़ियोंको डरानेके लिए जो पुआलके मनुष्य बनाये जाते हैं, क्या वे जंगली हाथियोंको डरा सकते हैं ? तत्त्वज्ञके लिए इनका कोई मूल्य नहीं है। यह बन्धन है, यह निषिद्ध है, यह कर्तव्य है, यह मोक्षका साधन है—ये सब बद्ध-मुक्त आदिकी कल्पनाएँ ठीक वैसे ही बुद्धिके विपर्ययमात्र हैं, जैसे जलमें सूर्यका उलटा प्रतिबिम्ब। बुद्धिका प्रकाशक संविन्मात्र मैं बुद्धिसे सम्बद्ध नहीं हूँ। न मैं बुद्धि हूँ, न बुद्धि मेरी है, न बुद्धि सत्य है। सुख-दुःखादि सब इन्द्रिय द्वारा ही मैं से आ जुड़ते हैं। इन्हें छोड़ दो। बस, तुम मुक्त हो।

ज्ञानसे ही सब प्रकाशित है। आत्मा ही प्रकाशक ज्ञान है, एक स्वभाव एक है। वही ज्ञान है; वही ज्ञेय। वेद्य-वेदक एक। प्रकाशसे पृथक् प्रकाशमान नहीं, विमर्शसे पृथक् प्रकाश नहीं, अहंसे पृथक् विमर्श नहीं, मैं चिदेकस्वरूप विमर्श हूँ।

परिपूर्ण विज्ञान :

संकल्पात्मक मन, चेतनारूप बुद्धि, प्राणशक्ति और परिमित प्रमाता—इन चारोंका भेद मिटा दो। तुम स्वयं परिपूर्ण विज्ञान-स्वरूप हो। स्वतन्त्र परमात्मा कभी देह-इन्द्रियादिकोंसे खेलता है, कभी इन्हें छोड़ देता है। वह कभी निष्प्रपञ्चरूपसे तो कभी सर्वरूपसे स्वातन्त्र्येण विहरता है। इसमें न कहीं आना है, न जाना है, न ढूँढ़ना है, न पाना है; न तीर्थ है, न श्राद्ध है, न पाप है, न पुण्य है; न स्वर्ग है, न नरक है। यह सब संविद्का स्फार है, चेतनाका चमत्कार है, निस्तरंग महोदधिका आत्मस्फूर्जन है। सर्व, सर्वातीत, सर्वसाक्षी, साक्षि-साक्ष्यकलना-रहित निज आत्मा ही परिपूर्णतम विज्ञान है।

•

भक्ति-साधनाका मनोविज्ञान

[श्रीमन्मध्वगौडेश्वर-सम्प्रदायमें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती अपने ढंगके अद्वितीय रसिक भक्त हुए हैं। उन्होंने श्रीमद्भागवतपर सारार्थदर्शिनी टीका, जो उन्हींके शब्दोंमें 'भक्तचित्तहर्षिणी एवं रसवर्षिणी है', लिखी है। प्रेममधुलुब्ध रसिक मधुपोंके लिए वह रसका निधान ही है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंमें एक अल्प कलेवर ग्रन्थ 'माधुर्य कादम्बिनी' है। कादम्बिनीका अर्थ है मेघमाला—घटा। इस ग्रन्थमें भक्तकी मानसिक स्थितियोंका क्रमिक विवेचन है। मेरा विश्वास है कि इस ग्रन्थका यह संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण भक्तजनोंके लिए एवं अनुसन्धित्सु मनोविज्ञानके विद्यार्थियोंके लिए समान रूपसे लाभदायक होगा।]

वेदोंने आनन्दमय पुरुषसे भी परे पुच्छ प्रतिष्ठाके रूपमें जिस ब्रह्मका वर्णन किया है, जिसे बार-बार रस और आनन्द कहकर संकेत करता है, श्रीमद्भागवतके रङ्गागणमें जो सबको अपने-अपने भावानुसार वज्र, नरवर, स्मर आदिके रूपमें दिखायी पड़ता है, गीता जिसको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा कहती है, वे व्रजराजनन्दन श्यामसुन्दर अपने शुद्ध सत्त्वमय नाम-रूप-गुणलीलाके साथ विना किसी कारणकी अपेक्षा किये ही स्वेच्छासे ही भक्तजनोंके श्रवण, नयन, मन, बुद्धि आदि इन्द्रियवृत्तियोंमें अवतीर्ण होते हैं। उनका वह श्यामसुन्दर वपु अनादि नित्य है। जैसे वे यदुवंश, रघुवंश आदिमें स्वतन्त्र श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि रूपमें अवतीर्ण होते हैं, वैसे ही प्रेमियोंके जीवनमें भी।

जैसे भगवान् स्वतन्त्र हेतुनिरपेक्ष प्रकट होते हैं, वैसे ही भगवान्की भक्ति भी स्वयं प्रकाश है। उसे किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं है। श्रीमद्-भागवतमें भक्तिके लिए अहैतुकी, अप्रतिहता, यदृच्छया इत्यादि शब्दोंका प्रयोग आता है। यदृच्छाका अर्थ है स्वच्छन्दता, स्वैरिता। यदि यदृच्छा शब्दका अर्थ किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे भक्तिका उदय होता है—ऐसा किया जाय, तो एक प्रश्न उठता है—क्या यह सौभाग्य शुभ कर्मसे उत्पन्न हुआ है अथवा विना कर्मके ही ? यदि भक्तिको कर्मजन्य, सौभाग्यसे जन्य माना जाय तो वह कर्मके पराधीन होगी और उसकी स्वयंप्रकाशता सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि भाग्यको कर्मजन्य न मानें तो अनिर्वचनीय होनेके कारण भाग्य स्वयं अज्ञेय असिद्ध हो जायगा। वह भक्तिका कारण कैसे बनेगा ? इसलिए भक्ति भाग्यजन्य नहीं है।

यदि ऐसा माना जाय कि भगवान्की कृपा ही भक्तिका कारण है तो ऐसा प्रश्न उठेगा कि कृपाका कारण क्या है ? इस प्रकार कारण-कार्य परम्पराका अन्त न होनेसे अनवस्था दोष हो जायगा। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भगवान्की कृपा किसी उपाधिका आश्रय लेकर नहीं हुआ करती। यदि उसको भी कारणके अधीन मानेंगे तो सबपर न होनेसे भगवान्में विषमता दोष प्राप्त होगा। भगवान् क्यों किसीपर पक्षपातपूर्वक कृपा करते हैं और निर्दयतापूर्वक उससे वञ्चित रखते हैं ? दुष्टोंको दण्ड देकर स्वभक्तोंका पालन करना तो दूषण नहीं है। यह पक्षपात भूषण ही है; क्योंकि भगवान्के गुणोंमें भक्तवात्सल्य सर्वगुणचक्रवर्ती है और यह

सबको अभिभूत करके अवसर-अनवसरका विचार किये बिना ही अभिव्यक्त होता रहता है।

भगवान्‌की कृपाके समान ही भक्तजनोंकी कृपा भी निरुपाधिक—हेतु निरपेक्ष होती है। तथापि मध्यम कोटिके भक्तमें किञ्चित् वैषम्य स्वीकार करना पड़ता है। उत्तम कोटिका भक्त सबको भगवान्‌में और भगवान्‌को सबमें देखता है; परन्तु मध्यम कोटिका भक्त ईश्वरसे प्रेम, भक्तसे मैत्री, दु:खीपर कृपा और द्वेषीपर उपेक्षा रखता है। इस प्रकार श्रीमद्‌भागवतमें मध्यम कोटिके भक्तमें विषमता स्वीकृत होनेके कारण अपने भक्तके वशमें रहनेवाले भृत्यवश्य भगवान् भी यदि अपने भक्तके कृपापात्रपर विशेष कृपा करें तो कुछ असङ्गत नहीं है। भक्त कृपा क्यों करता है—अपने हृदयमें विराजमान भक्तिके कारण। भक्तिसे कृपा और कृपासे भक्ति, इसमें भक्तिकी स्वयंप्रकाशता ही प्रकाशमान है, क्योंकि भक्तके हृदयमें स्थित भक्ति ही कृपाके रूपमें अभिव्यक्त होकर शिष्यके हृदयमें भक्तिका सञ्चार कर देती है। इसीसे जहाँ श्रीमद्‌भागवतमें यह उल्लेख मिलता है कि किसी अतिभाग्यसे भगवत्सेवामें श्रद्धाका उदय होता है, ऐसा कहा गया है, वहाँ भी भाग्यका अतिक्रमण करके भक्तकी करुणासे ही अभिप्राय है। भगवान्‌ने अपने भक्तको ऐसी श्रेष्ठता प्रदान कर दी है और वे उसके इतने वशमें हो गये हैं कि सम होनेके कारण जो वस्तु किसीको भगवान् नहीं दे सकते वही वस्तु भक्त उन्हींकी कृपाशक्तिको आत्मसात् करके भक्तिके रूपमें दे सकता है। यह भगवान्‌का प्रसाद है। जैसे भगवान् स्वेच्छामय रूप धारण करके, स्वेच्छावतार चरित्रोंसे भक्तजनमन आवर्जन करते हैं, उसमें स्थूल दृष्टिसे ही भूभार हरण आदिकी कारणता रहती है, वैसे ही भक्तिके प्राकट्यमें निष्काम कर्म आदि स्थूल दृष्टिसे कारण भी हों तो भी भक्तिकी स्वयंप्रकाशतामें कोई क्षति नहीं है। श्रीमद्‌भागवतमें ही भक्तिका दोनों प्रकारसे उल्लेख मिलता है कि वह योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ आदिसे साध्य नहीं है, और साथ ही दान, व्रत धर्म आदिके द्वारा भक्ति सिद्ध होती है। ज्ञानांगभूता सात्त्विक भक्ति साध्य है, प्रेमांगभूता सात्त्विक भक्ति साध्य है, प्रेमांगभूता निर्गुण भक्ति नहीं। इस प्रसङ्गमें दान, व्रत, तपस्या, त्याग आदि भी भगवत्सम्बन्धी ही हैं। यह बात स्पष्ट कर दी गयी है—भक्तिसे

ही भक्तिका उदय होता है। इससे भक्ति अहैतुक एवं स्वयंप्रकाश है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

भगवद्भक्ति निःश्रेयस पथ है। उसके बिना धर्म, ज्ञान और योगकी भी सिद्धि नहीं होती। यह बात प्राचीन ग्रन्थोंमें स्पष्ट रूपसे कही गयी है। इसका निष्कर्ष यह है कि भक्तिके बिना दूसरे साधनसे अपना फल देनेमें असमर्थ हैं; परन्तु भक्तिको अपना फल प्रेमकी सिद्धिके लिए उन साधनोंकी किञ्चित् भी अपेक्षा नहीं होती। भागवतमें बिना ज्ञान-वैराग्यके भी उनकी श्रेयससाधनता एवं सर्वधर्मत्यागपूर्वक भगवद्भजनका निरूपण मिलता है। भक्ति ही निरपेक्ष साधन है और सब सापेक्ष साधन हैं। भगवद्भक्तिके विना जाति, शास्त्र, जप, तप निष्प्राण हैं एवं लोकरञ्जन-मात्र हैं। सब साधन भक्तिके अधीन हैं। जैसे—कर्मयोग न केवल भक्तिकी अपितु देश, काल, पात्र, द्रव्य, अनुष्ठान, पवित्रताकी अपेक्षा रखता है। भक्तिमें देश, काल, वस्तुका कोई भी नियम नहीं है। उच्छिष्ट दशामें भी भगवन्नामका उच्चारण किया जा सकता है। श्रद्धा या अवहेलना, कैसा भी उच्चरित भगवन्नाम संसार-सन्तरणका साधन है। इसके विपरीत कर्मयोग स्वर-वर्ण-हीन मन्त्रोच्चारण होनेपर अनर्थका हेतु है।

ज्ञान भी निष्काम कर्मयोग आदिके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही उदय होता है। इसलिए वह भी कार्याधीन है। यदि ज्ञानका अधिकारी दैववश दुराचारी हो जाय तो शास्त्रमें उसकी निन्दा मिलती है। कंस, हिरण्यकशिपु, रावणके उपदेश भिन्न-भिन्न अवसरोंपर मिलते हैं; परन्तु उनमें ज्ञानका उदय सर्वथा ही नहीं है। इधर व्यक्तिमें ऐसा नहीं है। हृद्रोगी पुरुष भी रास-पञ्चाध्यायीके पाठका अधिकारी है। उसके द्वारा वह भक्ति प्राप्त करता है, तब हृद्रोग दूर होता है। पहले भक्ति पीछे दोष-निवृत्ति। भक्ति दुराचारीको भी ऊपर उठाती है। विष्णु-पार्षदोंने अजामिलके भक्त होनेका निरूपण किया है। कौन नहीं मानता कि पुत्रस्नेहसे ग्रस्त अजामिलअपने पुत्रके लिए भगवन्नामका उच्चारण करके नामाभासकी महिमा से ही कल्याणभाजन हो जाता है। कर्मयोग आदि साधनोंमें देश, काल, पात्र, अन्तःकरण आदिकी शुद्धि साधक हैं, उनकी विपरीतता बाधकहैं। वे सर्वथा परतन्त्र हैं और भक्ति उन्हें जीवनदान देती है। वे भक्तिहीन रूपमें न किसीके साध्य हैं, न बाध्य हैं।

ज्ञानसे भक्ति सिद्ध होती है, यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि ज्ञानके फल मोक्षसे भी भक्तिकी श्रेष्ठताका वर्णन मिलता है। भगवान् कभी मुक्ति दे देते हैं; परन्तु भक्ति नहीं। मुक्त सिद्धोंमें भी नारायण-परायण दुर्लभ है। जैसे स्वयं भगवान् नारायण कभी-कभी इन्द्रको प्रधान और अपनेको गौण—उपेन्द्र बनाकर अपनी कृतालुता ही प्रकट करते हैं। उससे उनमें कोई अपकर्ष नहीं आता। इसी प्रकार भक्ति ज्ञानका पोषण करनेके लिए कभी-कभी अपनेको गौण भी बना देती है। इससे भक्तिकी निम्नता नहीं, अनुग्रहशीलता ही प्रकट होती है। भक्ति ही साधन, भक्ति ही साध्य; इसलिए पुरुषार्थ शिरोमणि है। भक्ति भगवान्‌की स्वरूपभूता है, इसलिए उन्हींके समान परम शक्तिशाली सर्वव्यापक सर्ववशीकारिणी, सर्वसञ्जीवनी, सर्वोत्कृष्ट, परम स्वतन्त्र तथा स्वयंप्रकाश है। इसलिए जो भक्तिके बिना अन्यत्र प्रवृत्त होते हैं उनमें प्रेक्षावत्वकी न्यूनता है; क्योंकि भगवद्भक्तिके बिना तो मनुष्य जीवन भी सफल नहीं होता—

'को वै न सेवेत बिना नरेतरम्।'

द्वितीय अमृतवृष्टि

माधुर्यकादम्बिनीमें द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदिको अवकाश नहीं है। आप इसके लिए ऐश्वर्यकादम्बिनीके दर्शन चाहें तो कर सकते हैं।

मनुष्यके कारण हैं खेत। इन्हींमें भक्तिकल्पवल्लीका प्रादुर्भाव होता है। कर्म, योग आदि घास-फूसका उसमें कोई सम्बन्ध नहीं रहता। भावुकजन भ्रमरकी भाँति अन्य फलाभिसन्धिका निरास करके इसका आश्रय ग्रहण करते हैं। इस कल्पवल्लीके मूल प्राण हैं अपने विषय भगवान्‌के प्रति अनन्य अनुकूलता। यह भक्ति स्पर्शमणिके समान अल्प-कालमें ही प्राकृत लोहताका त्याग कराकर चिन्मयतारूप शुद्ध स्वर्णभाव प्राप्त करा देती है। जब कन्दलीभावके बाद इसमें साधन नामके दो पत्ते फूट निकलते हैं तब उनका नाम होता है क्लेशघ्नी और शुभदा।

यह दोनों ही हृदयमें भगवान्‌के प्रति लोभका सञ्चार करते हैं और उनके साथ प्रिय, आत्मा, पुत्र आदिका शुद्ध सम्बन्ध-दान करके उसको स्नेहोज्ज्वल बनाते हैं। इस अन्तर्देशका राजा राग ही है; किन्तु बाहर-बाहर शास्त्रकी आज्ञासे भजनमें संलग्न होनेके कारण किञ्चित् रूक्षताका

आभास बना रहता है और प्रिय आदि शुद्ध स्नेहसम्बन्ध स्पष्ट नहीं दीख पड़ता, इसलिए वैध नामक राजाका ही अधिकार रहता है। यह बात अवश्य है कि यह वैधी और रागानुगा—दोनों ही भक्ति क्लेश-नाशिनी एवं मङ्गलजननी हैं। क्लेश शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश। पापके सभी रूप प्रारब्ध, अप्रारब्ध, रूढ और बीज—सभी क्लेशके अन्तर्गत हैं। इनका नाश करनेके कारण भक्तिको क्लेशघ्नी कहते हैं। भगवान्‌से विमुख करनेवाले विषयोंमें वितृष्णा, भगवद्विषयमें तृष्णा और अनुकूलता, कृपा, क्षमा, सत्य, सरलता, समता, धैर्य, गाम्भीर्य, मानदत्व अमानित्व आदि सद्‌गुण शुभ हैं। इनकी दाता होनेके कारण भक्तिको शुभदा कहते हैं। श्रीमद्‌भागवतमें ठीक ही कहा गया है कि भगवद्‌भक्तके जीवनमें सम्पूर्ण सद्‌गुणोंके साथ देवता निवास करते हैं। भक्तिके अंकुरित होनेपर जब ये दोनों दल साथ ही साथ उद्‌गत होते हैं तो उनके विकासमें और वृद्धिमें एक क्रम तो होता है; परन्तु उसको सब नहीं समझ सकते; पारखी विद्वान् ही समझ सकते हैं।

भक्तिके अधिकारीमें सबसे पहले श्रद्धाका उदय होता है। उसका स्वरूप है—शास्त्रप्रतिपादित पदार्थमें दृढ़ आस्था। शास्त्रके अनुसार आचरण करनेका प्रयास और उसके निर्वाहके लिए सादर आकांक्षा। यह स्वाभाविक भी होती है; और बलपूर्वक उत्पन्न भी की जाती है। इसके बाद सद्‌गुरुके चरणारविन्दका आश्रय लेकर सदाचारकी जिज्ञासा और समानशील सत्पुरुषोंके सङ्गमें निवास। इससे भजनक्रिया होने लगती है। दृढ़ निष्ठा होनेके पूर्व भजनक्रिया अपने शैथिल्य और परिपूर्णताके तारतम्यसे अनेक रूप ग्रहण करती है। मनकी अवस्थाएँ उत्साहमयी घनतरला, व्यूढविकल्पा, विषयसङ्गरा, नियमाक्षमा तथा तरङ्गरङ्गिणीके रूपमें अपने आश्रय भक्तको छह रूपोंमें दिखाती हैं—

१. जैसे कोई छात्र शास्त्राध्ययन प्रारम्भ करे और उसके मनमें ऐसा उत्साह हो कि बस-बस अब थोड़े ही दिनोंमें मैं ऐसा विद्वान् हो जाऊँगा कि लोग मुझे देखकर दङ्ग रह जायेंगे। ऐसे ही जब भजन करेनेवालेके हृदयमें अब भक्ति मिली! अब भक्ति मिली' भजनके साथ-साथ ऐसा उत्साह बढ़ने लगता है, तब उस अवस्थाका नाम उत्साहमयी होता है।

२. भक्तिके अंगोंका अनुष्ठान प्रारम्भ कर देनेपर भी कभी उनका निर्वाह हो पाता है और कभी नहीं हो पाता। इस प्रकार वह कभी घन होती है और कभी तरल। जैसे शास्त्राभ्यासी छात्र कभी अपने अधीन विषयको ठीक-ठीक समझकर प्रसन्न होता है और कभी-कभी बुद्धि गम्भीर विषयमें प्रविष्ट न होनेके कारण रूक्ष और शिथिल हो जाती है। इसी अवस्थाका नाम घनतरला है।

३. 'क्या मैं परिग्रह सहित ही रहूँ? सगे-सम्बन्धियोंको वैष्णव बना दूँ, घरमें ही रहकर भजन करूँ अथवा सबको छोड़कर श्रीवृन्दावन धाममें चलूँ और बिना किसी विक्षेपके कीर्तन-भजन करूँ और कृतार्थ हो जाऊँ? अभी सबका त्याग करना उचित है या बुढ़ापेमें? गृहस्था-श्रमका विश्वास नहीं है। बड़े-बड़े भक्तोंने यौवनमें ही संसारका परित्याग कर दिया है। अब विलम्ब नहीं करना चाहिए; परन्तु वैराग्यका वल तो अभी इतना नहीं है। फिर मैं क्या करूँ? क्या भक्तिके लिए वैराग्य आवश्यक है? वैराग्यसे भक्ति होती हो तो वह सापेक्ष हुई; परन्तु भक्तिसे वैराग्य होता हो तो इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह तो सन्तोंका अनुभव ही है। मैं गृहस्थ रहूँ कि विरक्त बनूँ? जप-कीर्तन ही करूँ या श्रवण ही करूँ? वैष्णवोंकी सेवाका माहात्म्य भी तो कम नहीं है। इस प्रकार जब मनमें विविध प्रकारके विकल्प उठने लगते हैं तब उस अवस्थाका नाम व्यूढविकल्पा है।

४. मनमें आवेश तो एक ही रहेगा विष्णुका या विषयका। 'ये भोग मुझे भक्तियोगमें शिथिल कर देते हैं। किन्हीं-किन्हींको छोड़ देता हूँ तो फिर भोगने लग जाता हूँ। पूरा त्याग बन नहीं पाता। विषयभोगका पूर्वाभ्यास बड़ा प्रबल है, संघर्ष चल रहा है। इसमें कभी विषय मनको जीत लेते हैं तो कभी मन विषयको। मनकी इस दशाका नाम विषयसङ्गरा है।

५. आजसे मैं इतनी जपसंख्या पूरी करूँगा, इतने दण्डवत् प्रणाम करूँगा, भक्तजनोंकी यह-यह सेवा करूँगा, भगवत्सम्बन्धसे रहित बातचीत नहीं करूँगा। संसारी चर्चा करनेवालोंकी सन्निधि छोड़ दूँगा? इत्यादि प्रतिज्ञा प्रतिदिन करते रहनेपर भी समय समयपर

उसका टूट जाना उसके पालनमें असमर्थ हो जाना, इसको 'नियमाक्षमा' कहते हैं। विषयसङ्गरा दशामें विषयके त्यागमें असमर्थता रहती है और नियमाक्षमामें भक्तिके साधन बढ़ानेमें असमर्थता रहती है यह दोनोंमें एक है।

भक्तिका यह स्वभाव ही है कि जिसके हृदयमें वह आकर विराजमान हो जाती है, उससे सभी लोग प्रेम करने लगते हैं और जब लोग प्रेम करने लग जाते हैं तब सम्पत्ति भी इकट्ठी होने लगती है। 'जनानुराग प्रभवा हि सम्पदः'। जब भक्तिके कारण ये विभूति आने लगती हैं, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि मिलने लगती है तव मानो भक्तिलतामें छोटी-छोटी टहनियाँ निकलकर लहलहाने और लहराने लगती हों, इस तरंगायमान दशाको ही तरङ्गरङ्गिणी कहते हैं। जैसे मूललताकी वृद्धि-समृद्धि एवं साज-सँवारके लिए छोटी-छोटी टहनियोंको काटना आवश्यक है, ऐसी भक्तिलताकी इन छोटी-छोटी उपशाखाओंका उच्छेद ही कर देना चाहिए।

तृतीय अमृतवृष्टि

अब अनर्थोंकी निवृत्तिका निरूपण करते हैं। अनर्थ चार प्रकारके होते हैं। (१) पापजन्य, (२) पुण्यजन्य, (३) अपराधजन्य, (४) भक्तिजन्य। ईश्वरकी भजनीयताका अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँचो क्लेश पापजन्य हैं। भोगमे अभिनिवेश पुण्यजन्य है। नामापराधको ही मुख्यरूपसे अपराध कहते हैं क्योंकि सेवापराध तो प्रायः नामसे नित्य निवृत्त हो ही जाते हैं। सावधान न रहनेसे सेवा-पराध भी नामापराध हो जाता है। जैसा कि शास्त्रोंमें कहा है 'नामके बलका आश्रय लेकर जो अपराध, करता है; सत्य अहिंसा आदि यम और स्वयं यमराज भी उसे पवित्र नहीं कर सकते।' यहाँ नाम शब्दका अर्थ भक्ति है। जो अनर्थरूप रोगको शान्त करे वही 'नाम-औषधि' है। यह तो आप जानते ही हैं कि जो धर्मशास्त्रको रीतिसे भी हम फिर प्रायश्चित्त कर लेंगे, इस अभिमानके वशीभूत होकर पाप करता है, प्रायश्चित्तके द्वारा उसकी शुद्धि नहीं होती; प्रत्युत पापोंकी गाढ़ता ही होती है।

भक्तिमार्गमें यात्रा कर देनेपर फिर किञ्चित् भी हानिकी आशङ्का नहीं है। 'दशाक्षर मन्त्रका केवल जप ही सिद्धिदाता है।' इन वाक्योंका अतिशय विश्वासके कारण जो अनुष्ठानमें अंगवैगुण्य आता है, उससे नामापराध नहीं होते क्योंकि उसमें पाप करनेकी इच्छा नहीं होती। जिस त्रुटिकी निन्दा या प्रायश्चित्त नहीं है, वहाँ पाप भी नहीं है। भक्ति-मार्गमें अंग-शाकल्यसे अनुष्ठानमें साद्‌गुण्य आता है किन्तु अंग-वैकल्यसे अपराध नहीं होता; क्योंकि यह मार्ग अविद्वान् अधिकारीके लिए भी है। इसमें नेत्रनिमीलन करके उल्लंघन करते हुए भी दौड़ा जा सकता है, इसमें प्रत्यवाय और पतन अर्थात् फलभ्रंश नहीं है। क्योंकि इस मार्गमें कहीं भी मानमद, सिद्धि, अथवा भगवद्-वैमुख्यरूप अपराध नहीं है। इस मार्गमें केवल प्रभुका सामुख्य बना रहना चाहिए। अर्थात् भगवद्-अपराध नहीं करना चाहिए। निरन्तर नाम-जपसे सभी प्रकारकी अपराध-बाधाओंका उपशम हो जाता है।

प्रथम नामापराध है सन्तोंकी निन्दा। निन्दासे सम्बद्ध द्वेष, द्रोह आदि भी लक्षणासे संगृहीत हैं। यदि यह अपराध हो जाय तो पश्चात्तापपूर्वक सन्तों ही के चरण पकड़कर उन्हें प्रसन्न करना चाहिए। प्रणाम, स्तुति, सम्मान इसके उपाय हैं। आगसे जले स्थानको आगसे सेंककर ही चिकित्सा की जाती है। यदि कोई सन्त शीघ्र प्रसन्न न हों तो बहुत दिनों तक उनकी रुचिके अनुसार सेवा करनी चाहिए। अपराध बड़ा होनेके कारण यदि वे उसपर प्रसन्न न हों तो वैराग्यपूर्वक सब कुछ छोड़कर नाम-संकीर्तनका आश्रय लेना चाहिए। नाम अमित शक्तिका भण्डार है। उसमें उद्धारका सम्भार है। परन्तु यदि कोई यह सोचकर नामका आश्रय ले कि कौन बार-बार सन्तोंके चरणोंमें गिरने जाय और अपनेको दीन-हीन बनाने जाय तो यह भी नामापराध ही हो जाता है। यह भी नहीं सोचना चाहिए जो कृपालु, रागद्वेषरहित एवं तितिक्षु हैं वही सन्त हैं, और केवल उनकी निन्दा ही नामापराध हैं। क्योंकि 'जो भजे भगवन्त सो अन्तमें है सन्त' इसलिए उसकी पहलेकी त्रुटिपूर्ण स्थितियोंमें भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। उसकी निन्दा भी नामापराध ही है। यदि कोई सन्त भगवद्‌भावमें निमग्न होनेके कारण किसी अपराधीपर भी क्रोध नहीं करते तो यह उनकी विशेषता है। निन्दा करने-वालेको तो अपराध लगेगा ही। ऐसी स्थितिमें भी अपराधीको अपनी

शुद्धिके लिए उन्हें प्रणाम सेवा आदिसे सत्कृत करके क्षमा माँगनी ही चाहिए क्योंकि भले ही वह सन्त क्रोध करके शाप न दे, परन्तु उसके चरणोंकी धूलि असहिष्णु होती है और वह अपराधीका नाश कर देती है।

कोई-कोई महापुरुष ऐसे होते हैं जिनको पहचानना कठिन है निष्कारण करुणाके अपार अपूपार हैं, वे निर्द्वन्द्व और स्वच्छन्द हैं। वे कब किसपर किस कारणसे अपनी राशि-राशि कृपा बिखेर देते हैं इसके सम्बन्धमें कोई मर्यादा नहीं है। जैसे जडभरत शिविकामें वाहक बनानेवाले कटूक्तिविषवर्षी रहूगणपर भी कृपा वर्षा करते हैं। चेदिराज उपरिचरवसुने पाखण्डधर्मावलम्बी दैत्य-समूहपर जो कि उनकी हिंसा करनेके लिए आया हुआ था; महान् कृपा की। प्रभुवर नित्यानन्दने महापापी माधवपर जिसने उनका सिर फोड़ दिया था अत्यन्त कृपा वरस दी। गुरु-अवज्ञाके सम्बन्धमें भी सन्त-निन्दाके समान ही अपराध-की उत्पत्ति और निवृत्ति समझना चाहिए।

अब शिव, विष्णुके भेदके सम्बन्धमें विवेचन करना चाहिए। क्योंकि चैतन्य दो प्रकारका होता है, एक स्वतन्त्र दूसरा अस्वतन्त्र। पहला सर्वव्यापी ईश्वर है, दूसरा देहमात्रमें शक्तिकी व्याप्तिवाला ईश्वराधीन जीव है। ईश्वर चैतन्य भी दो प्रकारका है। पहला मायाके स्पर्शसे रहित दूसरा लीलासे मायास्पर्शको स्वीकार करनेवाला। पहलेका नाम नारायण आदि है और दूसरेका नाम शिव आदि। हरिर्निर्गुणः। शिवः शक्तियुतः। शिवको गुणसम्वृत होनेसे जीव नहीं समझना चाहिए। जैसे दूध ही दही होता है, वैसे निर्गुण गोविन्द ही सगुण शिव होते हैं। ब्रह्म भी वही है। काष्ठके प्रज्वलित एवं धूमयुक्त दशामें जैसे अग्नि है वैसे ही उसके पूर्व भी है। इन सब बातोंका विचार करके शिव-विष्णु आदिमें भेद-बुद्धि नहीं करनी चाहिए। जीवके अनेक भेद होते हैं। अविद्यासे आवृत और अनावृत। ऐश्वर्यशक्तिसे आविष्ट और अनाविष्ट। आविष्ट भी दो प्रकारके होते हैं। भगवान्के चिदंश ज्ञानादिसे युक्त सनत्कुमारादि और मायांश भूतसृष्टि आदिसे आविष्ट ब्रह्मा आदि। इस प्रकार भी शिव, विष्णुका अभेद ही प्राप्त होता है; क्योंकि चैतन्य दोनोंमें ही एक रूप है। किसी-किसी महाकल्पमें जीव भी महाशिव हो जाता है। ऐसी स्थितिमें श्री, विष्णु, शिव, ब्रह्म एवं सूर्य आदिमें भेद मानकर अनन्यताके

आवेशमें विवाद करनेका कोई कारण नहीं है। जो दूसरेकी निन्दा करके एकके प्रति अनन्य बनते हैं; उनको अभिज्ञ सन्तोंसे समझकर और नामसंकीर्तन करके इस नामापराधरूपी जड़ बुद्धिको उखाड़ फेंकना चाहिए। धर्मानुष्ठान करनेवालोंको बहिर्मुख और विवेचन-प्रधान जिज्ञासु जनोंको नास्तिक कहकर जो निन्दा की जाती है; वह श्रुति शास्त्रकी ही निन्दा है और वह भी नामापराध ही है। इससे बचनेके लिए धर्मानुष्ठान करनेवालोंका अभिनन्दन और जिज्ञासु जनोंकी श्रुतिशास्त्रानुवर्तिनी बुद्धिकी प्रशंसा करनी चाहिए और ऊँचे स्वरसे भगवन्नामका संकीर्तन करके अपनी वाणीका पाप धो डालना चाहिए। क्योंकि धर्म और ज्ञानका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ भी स्वच्छन्दवर्ती रागान्ध अनधिकारियोंको भगवन्मार्गमें अग्रसर करती हैं और परमकारुणिक यदि सन्तोंके समझानेसे बुद्धिमें बैठ जाय तो उसे परम सौभाग्य समझना चाहिए और उससे नामापराधकी निवृत्ति हो जाती है। इसीप्रकार दूसरे अपराधोंकी उत्पत्ति एवं निवृत्तिके कारणोंको समझना चाहिए।

अब भक्तिजन्य अनर्थोंका विवेचन करते हैं। जब कोई वृक्ष लगाया जाता है, तब उसके मूल तनेसे बहुत-सी छोटी-छोटी टहनियाँ निकलती हैं। इससे वृक्ष शक्तिहीन—क्षीण हो जाता है और उपशाखाओंसे घिर जाता है। ऐसा देखनेमें आता है कि उन टहनियोंको यदि छाँट दिया जाय तो वह वृक्ष हरा-भरा एवं सम्पुष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जब मनुष्य भक्तिमार्गमें चलता है, तब भक्तिके कारण ही उसको पूजा, प्रतिष्ठा, लाभ, ख्याति, कीर्ति एवं यश आदिकी प्राप्ति होती है। ये छोटी-छोटी टहनियाँ अपने मूलकारण भक्तिको ही क्षीण कर देती हैं; इसलिए इन्हें भक्तिजन्य अनर्थ कहा जाता है। भक्तिके साधकको इनसे सावधान रहना चाहिए।

इन चारों अनर्थोंकी निवृत्ति पाँच प्रकारकी होती है—एकदेशवर्तिनी, बहुदेशवर्तिनी, प्रायिकी, पूर्णा और आत्यन्तिकी। भजनक्रियासे पहली, निष्ठा हो जानेपर दूसरी, रति उत्पन्न होनेपर तीसरी, प्रेम होनेपर चौथी और भगवच्चरणारविन्दोंकी प्राप्ति होनेपर पाँचवीं अर्थात् अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाती है। चित्रकेतुके जीवनमें भगवत्प्राप्ति होनेपर भी शङ्कर भगवान्‌का अपराध देखनेमें आता है। परन्तु वह वास्तविक नहीं केवल प्रातीतिक है; क्योंकि वहाँ इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करना

अभीष्ट है कि भगवत्प्राप्ति हो जानेपर शरीर चाहे पार्षदका रहे चाहे असुरका; इससे प्रेममें कोई अन्तर नहीं पड़ता। जय-विजयके जीवनमें जो महापुरुष सनकादिका अपराध देखनेमें आता है उसका कारण उनकी समृद्ध प्रेमजन्य स्वच्छन्द स्वेच्छा ही है। उनकी इच्छाका स्वरूप यह है कि—'हे प्रभुवर! देवाधिदेव नारायण! हम जानते हैं कि आपके मनमें कभी-कभी युद्ध करनेकी इच्छा होती है, परन्तु और सब तो अल्पबल हैं—आपसे युद्ध करने योग्य नहीं हैं और हम लोगोंमें आपके प्रति प्रतिकूलताका भाव नहीं है। ऐसी स्थितिमें आपकी इच्छा कैसे पूरी हो? इसलिए स्वामिन्! किसी भी प्रकारसे हम अनुकूलोंको ही थोड़ी देर प्रतिकूल बनाकर युद्धसुखका अनुभव कीजिये। हम आपकी परिपूर्णतामें अणुमात्र भी न्यूनता नहीं सह सकते। आप अपने भक्त-वात्सल्यको भी लघु बनाकर हमारे प्रार्थना-हठको पूर्ण कीजिये।' उनकी इसी इच्छाके वशीभूत होकर भगवान्‌ने उनसे सनकादिके प्रति अपराध निष्पन्न कराया और उन्हें असुरयोनिमें जाना पड़ा। वह तो भगवान्‌की विशेष सेवाके लिए ही उनके प्रेमका विलास है। दूसरे किसी भक्तके मनमें यदि इस प्रकारकी इच्छा जाग्रत हो तो उसे अपने मनमें ही आनुकूल्यका संकल्प करके नष्ट कर देनी चाहिए।

प्रश्न यह है कि शास्त्रोंमें ऐसे शत-शत वचन प्राप्त होते हैं कि भगवन्नाम एक बार उच्चारणसे ही सम्पूर्ण पापराशिका नाश कर देता है और भगवन्नामके केवल एक बार श्रवणसे ही कसाई भी संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार अजामिल आदिके उपाख्यानोंमें यह सिद्धान्त स्पष्ट किया गया है कि एक ही नामाभास अविद्या-पर्यन्त निखिल अनर्थकी निवृत्ति करके भगवत्प्राप्तिका हेतु बनता है। ऐसी स्थितिमें भगवत्भक्तिके अपराध आदि क्रम-क्रमसे निवृत्त होते हैं—यह कहना संगत नहीं मालूम पड़ता। ठीक है नामकी ऐसी ही शक्ति है—इसमें सन्देह नहीं। परन्तु अपराधियोंपर अप्रसन्न होनेके कारण वह अपनी शक्ति भलीभाँति प्रकाशित नहीं करता—इसीसे अनर्थोंको जीवन मिलता है; परन्तु नामोच्चारण करनेवालेपर यमराजके दूत आक्रमण नहीं कर सकते। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'न ते यम पाशधृतश्च तद्भटान्स्वप्नेऽपि पश्यन्ति।'

'न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः' इस नामापराधके प्रसंगमें जो यमशब्दका प्रयोग है वह योगाङ्कका वाचक है; यमदूतोंका नहीं। जैसे कोई समर्थ—

सम्पन्न स्वामी अपने अपराधी स्वजनका पालन न करे, उससे उदासीन हो जाय, तो विचारेपर दुःख-दारिद्रय मालिन्य-शोक आदिका पहाड़ टूट पड़ता है, परन्तु दूसरा कोई उसके ऊपर अंगुली उठानेका साहस नहीं कर सकता। परन्तु यदि वह स्वजन फिर अपने स्वामीकी प्रेमपूर्ण सेवा करे—उसके मनको रुचनेवाले काम करे तो धीरे-धीरे वह प्रसन्न हो जाता है, और सारे दोष अपने आप ही भाग जाते हैं। ठीक इसी प्रकार साधक यदि भगवद्भक्त, शास्त्र, गुरु आदिकी निष्कपटभावसे बार-बार सेवा करे तो उसके ऊपर नामस्वामी प्रसन्न हो जाते हैं और सभी दुःखोंका नाश हो जाता है, इस सम्बन्धमें कोई विवाद नहीं है।

'मेरा कोई नामापराध नहीं है।' ऐसा कभी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि बहुत नामकीर्तन करनेपर भी जब जीवनमें प्रेमके चिह्न उदय नहीं होते हैं तो अवश्य ही पूर्व जन्मके या इस जन्मके फल बल-कल्प्य अपराधका अनुमान नहीं होता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि भगवन्नामका उच्चारण करनेपर भी नेत्रमें आँसू, शरीरमें पुलकावलि, हृदयमें द्रवता न आये तो वह हृदय अत्यन्त कठोर फौलादका बना हुआ है। भक्ति-रसामृतसिन्धुमें विवेचन किया गया है कि भगवान्‌के गुण, नाम आदिका श्रवण-कीर्तन करनेसे तत्काल प्रेमकी प्राप्ति होती है। चरणामृतके सेवनसे सद्यः सिद्धि मिलती है। भगवान्‌के प्रति निवेदित घृत-दुग्ध-ताम्बूल आदिके सेवनसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तरङ्ग निवृत्त होते हैं, क्योंकि ये सब चिन्मय हैं फिर भी—जब ये प्राकृत पदार्थोंके समान ही हो जाते हैं तो अवश्य ही किसी-न-किसी महान् अपराधके कारण ही ऐसा होता है।

अब प्रश्न यह है कि ऐसी परिस्थितिमें नामापराधी-पुरुष भगवान्‌से विमुख ही रहेगा, वह सद्गुरुके चरणाश्रय अथवा भजनक्रिया भी नहीं कर सकेगा। ठीक है जब ज्वरका तीव्र वेग होता है तब भोजन रुचता नहीं है, उसके नामसे ही घृणा होती है, वैसे ही नामापराधकी तीव्रता और गाढ़तामें श्रवण, कीर्तनादिमें रुचि नहीं होगी—इसमें क्या सन्देह है? किन्तु जब ज्वर मृदु और पुराना हो जाता है, तब भोजन जैसे कुछ-कुछ रुचने लगता है, वैसे ही अपराधका वेग मृदु और क्षीण होनेपर भगवद्भजनमें कुछ-कुछ रुचि होने लगती है। इसीलिए मनुष्यमें भक्तिका

अधिकार आजाता है। जैसे ज्वरकी दशामें पौष्टिक भोजन भी सम्पूर्ण पुष्टि नहीं देता है और किञ्चित् देता भी है; किन्तु ग्लानि और कृशताकी निवृत्तिमें समर्थ नहीं होता है। हाँ; यह अवश्य है कि पथ्य और ओषधिका सेवन करनेपर—समयपर स्वस्थ कर देता है। वैसे ही श्रवण, कीर्तनादि भजन-क्रिया भी क्रम-क्रमसे समयानुसार अपना फल प्रकट करती है। ठीक ही कहा है श्रद्धा, साधुसंगति, भजनक्रिया, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा और रुचि—इस क्रमसे भक्तकी उन्नति होती है। कुछ लोग तो ऐसा मानते हैं कि नामकीर्तन आदि करनेवालोंके जीवनमें केवल प्रेमके लक्षण ही प्रकट न होते हों—केवल इतना ही नहीं, उनके जीवनमें कभी-कभी पापप्रवृत्ति भी देखनेमें आती है, और बार-बार व्यावहारिक दुःख देखनेके कारण उनके प्रारब्धकर्मका प्रबल वेग भी सिद्ध होता है। इससे भयभीत नहीं होना चाहिए। अपनी भजनक्रिया अबाधगतिसे करते रहना चाहिए। विष्णु भगवान्के पार्षदोंने अजामिलको निरपराध सिद्ध किया था फिर भी देखनेमें यह आता है कि जिस दिनसे पुत्रका नाम 'नारायण' रखा गया उस दिनसे प्रतिदिन अनेक बार पुकारनेपर भी न अजामिलके हृदयमें प्रेमका उदय हुआ, न तो दासी-संग आदि पापोंका निराकरण ही हुआ। युधिष्ठिरके आदि सच्चे भक्त होनेमें भला किसको सन्देह हो सकता है फिर भी उनके जीवनमें बहुत-से दुःख देखे जाते हैं। तब क्या उनका प्रारब्ध निवृत्त नहीं हुआ था? इन सब युक्तियोंसे यह सिद्ध होता है—यद्यपि नामनरेश निरपराध भक्तोंपर प्रसन्न तो तत्काल हो जाते हैं; परन्तु अपने प्रसादका चिह्न समयपर ही प्रकाशित करते हैं। पूर्वाभ्यासके कारण भक्तोंके द्वारा किये जानेवाले पाप भी अकिञ्चित्कर ही होते हैं। जैसे दाँत तोड़नेके बाद सर्पदंश। भक्तोंके जीवनमें होनेवाले रोग, शोक आदि दुःख भी प्रारब्धके फल नहीं हैं। स्वयं भगवान्का वचन है कि—'जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ उसका धन छीन लेता हूँ। जब वह अत्यन्त दुःखी होता है तब उस बेचारे गरीबको सगे सम्बन्धी भी छोड़ जाते हैं। यह निर्धनताका महारोग मेरी अनुग्रहताकी पहचान है।' वस्तुतः विचार किया जाय तो भगवान् भक्त-हितकारी हैं। वे भक्तकी दीनता, उत्कण्ठा आदि बढ़ानेमें बड़े निपुण हैं इसी कारण भक्तको दुःख देते हैं। अतः भक्तके जीवनमें आनेवाले दुःख प्रारब्धके फल नहीं—भगवान्के वरदान हैं।

चतुर्थ अमृतवृष्टि

पहले भजनक्रियाकी दो विधा बतायी गयी थी, एक— अनिष्ठिता और दूसरी निष्ठिता। उनमें-से पहलीके छः प्रकार वर्णन कर दिये गये। दूसरीका लक्षण बताये बिना ही अनर्थ-निवृत्तिका निरूपण कर दिया। ऐसा करनेका कारण यह है कि श्रीमद्भागवतमें पुण्य-श्रवण-कीर्तन भगवान् श्रीकृष्णकी कथाका श्रवण, अनर्थकी निवृत्ति और फिर नैष्ठिकी भक्तिका निरूपण किया गया है। अनर्थकी निवृत्तिमें प्रायः शब्दका प्रयोग होनेसे कुछ अनर्थ शेष रह गये हैं— यह भी सूचित होता है; इसलिए अब नैष्ठिकी भक्तिका निरूपण करते हैं।

निष्ठा शब्दका अर्थ है—नितान्त स्थिति—निश्चलता। जिस भक्तिमें निष्ठा-निश्चलता आजाती है उसका नाम नैष्ठिकी है। जबतक अनर्थोंकी शिथिलता अथवा निवृत्ति नहीं होती तबतक लय-विक्षेप-अप्रतिपत्ति-कषाय और रसास्वाद इन पाँच अन्तरायोंका पूर्णतः निवारण न होनेके कारण प्रतिदिन अनुष्ठान करनेपर भी भक्तिकी निश्चलता नहीं हो पाती थी; अब अनर्थोंका उपशम हो जानेपर अन्तराय और उनके उपद्रव प्रायः निवृत्त हो जाते हैं। भक्तिमें निश्चिलता आजाती है। इसलिए लय आदि दोषोंका अभाव ही निष्ठाका लक्षण है। लय क्या है ? कीर्तनसे अधिक श्रवणमें, श्रवणसे अधिक स्मरणमें निद्राका आना। विक्षेप क्या है ? उन साधनोंके समय व्यावहारिक गतिविधि एवं बात-चीतका सम्पर्क। अप्रतिपत्ति क्या है ? लय-विक्षेप आदि दोषोंके न होनेपर भी कीर्तन आदिमें असमर्थता। कषाय क्या है ? क्रोध, लोभ, गर्व आदिके संस्कार। रसास्वादन क्या है ? विषय-सुखकी प्रतीति होनेपर कीर्तनादिमें मनका तन्मय न होना।

नैष्ठिकी भक्तिका उदय हो जानेपर भी मनमें दोषोंका अस्तित्व तो रहता है। परन्तु वे भक्तिमें बाधा नहीं पहुँचाते। इसी कारण श्रीमद्भा-गवतमें अनाविद्ध शब्दका प्रयोग किया गया है। यह निष्ठा साक्षात् भक्तिमें भो होती है तदनुकूल वस्तुओंमें भी भक्ति स्थूल रूपसे तीन प्रकारकी होती है। कायिक, वाचिक, मानसिक। कोई-कोई कहते हैं कि पहले शारीरिक फिर वाचिक तब मानसिक भक्ति होती है। दूसरे

आचार्योंका मत है कि भक्तोंमें शरीरबल, इन्द्रियबल और मनोबलोंमें पूर्व-जन्मके विलक्षण संस्कार होनेके कारण उनके जीवनमें पहले किसी भी भक्तिका उदय हो सकता है। क्रमका नियम नहीं है। भक्तिके अनुकूल वस्तु हैं—अमानित्व, मानदत्व, मैत्री, और दया आदि सद्‌गुण। किसी-किसी परिश्रमी साधकमें अपने भक्तिके अपरिपक्व होनेपर भी इनकी प्रौढ़ता देखी जाती है। किसी-किसी उद्धत भक्तमें भक्तिके परिपक्व होनेपर भी अमानित्व आदि न्यून मात्रामें देखे जाते हैं। इसमें भक्तिकी निष्ठा ही मुख्य हैं—उसके होनेसे ही अन्तरमें अमानित्व आदि हैं कि नहीं—इसका पता चलता है। बहिरङ्ग अमानित्व आदिका विशेष महत्त्व नहीं है। भगवन्निष्ठाकी अनुभूतिमें दातवत् बहिर्मुख पुरुषोंकी प्रतीति प्रमाण नहीं हुआ करती। वस्तुतस्तु श्रवण, कीर्तनादिमें प्रयत्नकी शिथिलता और प्रबलताको न छोड़ सकना ही अनैष्ठिकी और नैष्ठिकी भक्तिकी पहचान है।

पञ्चम अमृतवृष्टि

अब भक्तके हृदयमें भक्तिकी स्वर्णमुद्रा अभ्यासाग्निकी प्रबलतासे निर्मल एवं उद्दीप्त होकर जगमग-जगमग झलकने लगती है और भक्तके हृदयमें भक्तिके प्रति अतिशय रुचि उत्पन्न हो जाती है—जब भगवद्विषयक श्रवण-कीर्तन संसारके अन्य समस्त पदार्थोंसे विलक्षण—रोचक मालूम पड़ने लगता है, तब उसको 'रुचि' कहते हैं। यह रुचि उत्पन्न हो जानेपर बारम्बार श्रवण-कीर्तनादि करनेपर भी श्रमकी गन्ध नहीं होती। यही रुचि शीघ्र ही उनको व्यसनी बना देती है। जैसे कोई ब्रह्मचारी विद्यार्थी प्रतिदिन शास्त्रका अध्ययन करे परिश्रमके साथ, परन्तु बादमें जब उसका शास्त्रार्थमें प्रवेश हो जाय—वह रोचक लगने लगे, तब उसे किसी प्रकारका श्रम नहीं होता और आसक्ति हो जाती है। ऐसी ही दशा व्यसनोकी होती है। जैसे पित्तदोषसे किसीकी जिह्वा दूषित हो गयी हो और उसे मिश्रीमें मिठास न मालूम पड़े, तो मिश्रीका सेवन ही उसके लिए पित्तदोषके निवारणका औषध है। बार-बार सेवन करनेपर उसके स्वादका साक्षात्कार होने लगता है। इसी प्रकार जीवका अन्तःकरण अविद्या, अस्मिता आदि दोषोंसे दूषित हो गया है, इसको शुद्ध करनेका उपाय है श्रवण, कीर्तनादि भक्ति। दोषशान्ति होनेपर भक्तिका उदय होता है।

वह रुचि दो प्रकारकी होती है। एक वस्तुकी विशेषता चाहनेवाली और एक उसकी अपेक्षा न रखनेवाली। वस्तु शब्दका अर्थ है भगवन्नाम, रूप, लीला, गुण आदि। इनमें विशेषकी अपेक्षा करना अर्थात् कीर्तन सुरीला हो, कथामें गुण, अलंकार ध्वनि आदि प्रसाद-माधुर्य हो; सेवामें स्थान, पात्र आदिकी श्रेष्ठता हो; इन बातोंका ध्यान रखकर भक्तिमें रुचि होना—भक्तिकी न्यूनताकी ही पहचान है। जैसे आज रसोईमें क्या-क्या व्यञ्जन बना है? यह प्रश्न क्षुधाकी मन्दता ही सूचित करता है। इसी प्रकार अन्तःकरणके दोष ही कीर्तन आदिकी विशेषताकी अपेक्षा चाहते हैं। तीव्र रुचिका तो लक्षण ही यह है कि भगवन्नाम, गुण, रूप, लीला, धाम आदिके वर्णनका प्रारम्भ होते ही रुचि प्रवल हो जाती है और उसे रस ही रस दीखता है दोष नहीं।

वस्तुकी विशेषता न चाहनेवाली रुचि भगवन्नाम, रूप, गुण, लीला आदिके प्रारम्भमें ही बलवती हो जाती है और उनमें विशेषता होनेपर तो अत्यन्त प्रौढ़ हो जाती है। तीव्र रुचिमें दोषदृष्टि नहीं होती।

इसके बाद अहो सखे! तुम मुझसे श्रीकृष्णनामामृतका परित्याग करवाकर क्यों कठिनाईसे मिलनेवाले योगक्षेम आदि—संसारी व्यवहारके विषयोंमें डुबो रहे हो अथवा मैं तुम्हें क्या कहूँ? धिक्कार है मुझे, मैं ही अत्यन्त पामर हूँ। श्रीगुरुदेव-कृपाप्रसादसे उपलब्ध और अपनी ही ग्रन्थिमें निबद्ध महारत्नको भूलकर मैं इतने समयतक इधर-उधर भटकता रहा! अन्य अगणित व्यापारोंके समुद्रमें मिथ्या सुखलेशसे चमकती कानी कौड़ियोंके पीछे भटककर अपनी आयु व्यर्थ ही खो दी। भक्तिके किसी भी अंगको अंगीकार न करके मैंने अपनेको शक्तिहीन ही प्रकट किया। हाय! हाय! वही हूँ मैं और वही है मेरी यह जिह्वा जो झूठ कटु ग्राम्यवार्ता—विषयचर्चाको ही अमृतकी चटनीके समान चाटती रही और भगवन्नाम, गुण, कथासे विमुख रही। हाय! हाय!! कथाश्रवणका आरम्भ होनेपर ही मुझे नींद आजाया करती थी; किन्तु उस कथामें कोई विषयचर्चा हो तो कान खड़े हो जाते, नींद टूट जाती। हरे राम! मैंने उस सारी साधुसभाको ही कलंकित कर दिया। इस कभी न भरनेवाले पेटके लिए बुढ़ापेमें भी मैंने क्या-क्या पाप नहीं अपनाये! पता नहीं अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिए किस नरकमें रहना पड़ेगा? ऐसा विचार कर रुचिकी ओर अग्रसर भक्तके

मनमें निर्वेदकी प्रधानता हो जाती है—इसके साथ ही कभी वह एकान्त भूमिमें बैठकर झूमने लगता है। वेदान्तकल्पलताके फलका सार प्रभुचरितामृत-आस्वादन करके बार-बार अभिवादन करने लगता है—बार-बार अत्यन्त आदरके साथ संलाप करता है। बैठते-उठते, आते-जाते भगवत्सेवापरायण हो जाता है। वह होता है तन्मना, लोग समझते हैं उन्मना। वह मानों भक्तजनोंसे भजनानन्दकी शिक्षा प्राप्त करना चाहता है और रुचिनर्तकी उसके दोनों हाथ पकड़कर प्रेमभक्तिकी 'ताता थेई' सिखा रही है। उस समय उसको ऐसा आनन्द आता है अभूतपूर्व कि वह सोचने लगता है कि अभी यह दशा है; जब हमारे मुख्य नृत्याचार्य भाव और प्रेम मेरे हृदयमें प्रवेश करके मुझे नचाने लगेंगे तो मैं परमानन्दकी किस पराकोटिमें विराजमान हो जाऊँगा।

छठी अमृतवृष्टि

पाँचवीं अमृतवृष्टिमें जिसके स्वरूपका निरूपण किया गया है वही भजन-विषयक रुचि अत्यन्त प्रौढ़तम होकर जब भजनीय भगवान्‌को अपना विषय बनाती है, तब आसक्तिके नामसे कही जाती है। भक्तिरूप कल्पलताका मुकुल है यही आसक्ति। इसीसे भाव और प्रेमरूप पुष्प तथा फल शीघ्र ही प्रकट हो जायेंगे। यह सूचना मिल जाती है। 'भजनमें रुचि होती है और भगवान्‌में आसक्ति' यह बात केवल प्रधानताकी दृष्टिसे कही जाती है। वस्तुतः दोनों ही दोनोंकी विषय बनती हैं। अब प्रौढ़ताके कारण रुचि कहते हैं और अप्रौढ़ताको आसक्ति। आसक्ति ही अन्तःकरणके दर्पणको ऐसा परिमार्जित-परिष्कृत कर देती है कि एकाएक उसमें भगवान् प्रतिविम्बित होने लगते और प्रत्यक्ष-से दीखने लगते हैं। भक्तिकी पूर्वदशामें जब भक्त देखता है 'हाय ! हाय ! हमारे चित्तपर विषय आक्रमण कर रहे हैं, तब वह उसे भगवान्‌में लगा लेता है। संकल्प करता है और प्रायः उसका मन भगवान्‌के रूप, गुण आदिमें विष्ट हो जाता है। परन्तु जब आसक्तिका उदय हो जाता है; तब किसी प्रकारका प्रयत्न या संकल्प करनेके पूर्व ही अपने आप उसका मन भगवान्‌में लग जाता है। जैसे प्रारम्भिक भक्तको इस बातका पता नहीं चलता कि उसका मन भगवद्भजनसे निकलकर संसारमें कब चला गया ? वैसे ही आसक्ति होनेपर भक्तको इस बातका पता ही नहीं चलता है कि उसका मन सांसारिक बातोंसे निकलकर भगवान्‌के रूप, गुण, लीलादिमें

कब चला गया ? आसक्तिकी यह दशा आसक्त पुरुषके ही अनुभवमें आती है। अनासक्त पुरुष इसको नहीं समझ सकता।

ऐसा भक्त प्रायः सबमें भक्तिभावका ही दर्शन करता है। प्रातःकाल सामनेसे किसीको आते देखकर भक्तजी पहुँच गये और बोले—ओहो! आपके कण्ठमें श्रीशालग्रामकी शिलाका सम्पुट है। आपकी रसना प्रतिपल पुनः पुनः श्रीकृष्णनामामृतका आस्वादन कर रही है। आपका दर्शन ही मुझ अभागेको भगवत्प्रेम और भजनके लिए उत्साहित कर रहा है। बताइये आप किन-किन तीर्थोंमें गये? किनके-किनके दर्शन किये? क्या-क्या भगवत्सम्बन्धी अनुभव हुए। धन्य हैं! धन्य हैं! आप तो अपनेको और जगत्को कृतार्थ कर रहे हैं। इस प्रकार आगन्तुकसे संलाप-पीयूषका कुछ क्षणतक पानकर भक्तराज आगे बढ़ते हैं। किसी औरको देखकर कहते हैं—ओहो! आप अपनी वेशभूषा और कक्षनिक्षिप्त मनोहर पुस्तक-लक्ष्मीसे बड़े विद्वान् मालूम पड़ते हैं। आप दशम स्कन्धका एक श्लोक सुना दीजिये और उसकी अर्थामृत-वर्षासे हमारे श्रोत्र-चातकको जीवन-दान दीजिये। इस प्रकार भागवतकी व्याख्यासे भक्तके शरीरमें रोमाञ्च होने लगता है।

इसके बाद भक्तराज दूसरी ओर चलते हैं और देखते हैं कि 'अहो! यह तो सभा-की-सभा ही मेरे समस्त दुष्कृतका ध्वंस करनेवाली है।' ऐसा कहकर दण्डवत्-प्रणिपातपूर्वक प्रणतिविनतिमें संलग्न हो जाते हैं। परमभक्त विद्वान् सभापति आदर करने लगते हैं और संकोचसे सिकुड़कर कहीं पास ही बैठ जाते हैं। कहते हैं कि भिषक्शिरोमणि आप तो त्रिभुवनको जीवनदान देनेवाले हैं और भवरोगके महावैद्य हैं। इस महादीन अधमकी भी नाड़ी पकड़कर देखिये और रोगका निदान कीजिये। मेरे लिए पथ्य ओषध बताइये। किसी महारसायनका प्रयोग करके मेरी अभीप्सा पूर्ण करनेवाली सम्पुष्टि आप सम्पन्न कर दीजिये। भक्तजीकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग जाती है। कृपादृष्टि और मधुर वाणीके निस्पन्दसे आनन्दित हो जाते हैं और वहीं पाँच-छः दिन निवास करके फिर आगे बढ़ते हैं।

भक्तजी अपने आनन्दमें मग्न घूमते-फिरते कभी जंगलमें पहुँचते हैं; देखते हैं सामनेसे बड़ी दूर कोई कृष्णसार मृग आरहा है। मन-ही-मन सोचने लगते हैं यदि भगवान् श्रीकृष्णकी मुझपर कृपादृष्टि है तो यह

हरिण तीन-चार पग मेरी ओर आये—नहीं तो मेरी ओर पीठ करके जाये। इस प्रकार वह नैसर्गिक मृग-पशु-पक्षी-चेष्टाको भगवान्‌के अनुग्रह और निग्रहकी पहचान बना लेता है। कभी अनुकूल अनुभव करके सुखी होता है और कभी प्रतिकूल अनुभव करके दुःखी। किन्तु होते हैं उसके सब अनुभव भगवान्‌से सम्बद्ध। भक्त कभी-कभी किसी गाँवके पास पहुँचता है और देखता है छोटे-छोटे ब्राह्मणबालक खेल रहे हैं। उसके मनमें आता है 'अहो! कहीं सनक, सनन्दन, सनत्कुमारादि ही तो नहीं आगये हैं, जाकर बड़े आदरसे पूछता है—आप लोग कृपाकर मुझे बताइए श्रीव्रजराजकुमारकी प्राप्ति मुझे कब होगी? अब वे बालक कुछ भी बोल देते हैं या नहीं बोलते हैं तो वह उनकी चेष्टा और भाषणमें दुर्बोधता या सुबोधताकी कल्पना करके व्याकुल या आनन्दित हो जाता है।

कभी-कभी वह अपने घरमें बैठा-बैठा भी अपार धनके लोभी कृपण वणिक्‌के समान सोचने लगता है कि मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? क्या करनेसे मेरी अभीष्ट वस्तु हाथ लगेगी? इस प्रकार कभी उसका मुँह मुरझा जाता है; कभी सोचता है, कभी सोता है, कभी उठता है, कभी बैठता है। सगे सम्बन्धी पूछते हैं—भाई; तुम्हें क्या हो गया है? तब वह गूँगेकी तरह हो जाता है। कभी अपने भावको छिपा लेता है। अरे! कुछ तो नहीं। भाई-बन्धु कहते हैं कि इसकी बुद्धि ढक गयी, पड़ोसी कहते हैं कि यह जड़ हो गया, मीमांसक कहते हैं अरे! यह तो मूर्ख है। वेदान्ती कहते हैं—यह भ्रान्त है। कर्मी कहते हैं—भ्रष्ट। भक्तलोग कहते हैं कि इसे सर्वश्रेष्ठ सबसे मूल्यवान् पदार्थकी प्राप्ति हो गयी है। परन्तु अपराधी लोग हमेशा ही कहते हैं 'यह तो दम्भी है।' भक्तको मान-अपमानका विचार सर्वथा नहीं है। वह भगवदासक्तिकी भागीरथीके प्रवाहमें आमूलचूल आमज्जन-निमज्जन कर रहा है। वस्तुतः उस भक्तके हृदयमें भगवान्‌की आसक्ति क्रीड़ा कर रही है।

सातवीं अमृतवृद्धि

जब वही आसक्ति सर्वोत्कृष्ट परिणामको प्राप्त होती है; तब उसका नाम रति अथवा भाव होता है। यह भाव ही भगवान्‌की स्वरूपभूत सच्चिदानन्दमयी शक्तियोंका कन्दलीभाव अर्थात् मुकुलित रूप है।

इसीको भक्तिकल्पलताका उत्फुल्लप्रसून कहते हैं। इसका बहिरङ्ग सौन्दर्य भी देवदुर्लभ है। अतरङ्ग सौन्दर्य तो मोक्षको भी तृण बना देता है। इसका एक परमाणु समस्त तमका उन्मूलन कर देता है और इसका फलता हुआ सौरभ मधुसूदन श्रीकृष्णभ्रमरको भी प्रणय-निमन्त्रण देकर ले आता है। और उनको प्रकट करनेमें समर्थ है। बहुत कहाँ तक कहें, इन्हीं भावोंसे सौरभित पलपलमें उदय होनेवाली चित्तवृत्तिरूप तिलपंक्तियाँ द्रवित होकर तत्काल सम्पूर्ण भगवदंगको स्निग्ध बनानेकी योग्यता रखती हैं। यह भाव प्रकट होते ही अपने आधार श्वपचको भी ब्रह्मारुद्रेन्द्र-वन्दित बना देता है। इस भावके प्रकाशमात्रसे ही भक्तके दोनों नेत्र केवल व्रजेन्द्रनन्दनके अनङ्ग-तिरस्कारी अंगोंकी ही श्यामलता उनके अधर, नेत्रकोण आदिकी ही लालिमा, उनके मुखमुसकान चाँदनीकी ही श्वेतिमा, उनके वस्त्राभूषणकी ही पीतिमाका आस्वादन करनेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित एवं रसीले हो जाते हैं तथा अजस्र अश्रुबिन्दुओंसे अपने आपका अभिषेक करने लगते हैं।

इस भावके उदय होते ही क्षण-क्षणमें कण-कणमें जीवनवन तथा रणमरणमें भी स्थान-स्थानपर केवल उनकी मुरलीका ही मधुर-मधुर संगीत, उनके कङ्कण-किङ्किणी नूपुरकी रुन-झुन, उनके कण्ठका कलालाप उनके चरण-कमलकी सेवाका आदेश और उनकी किसी भी लीलाका कुण्डलीकरण स्थिर खड़ा होकर चाहने लगते हैं। अहो! कैसा है उनके करपल्लवका स्पर्श मानो अभी अनुभव हो रहा हो। शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। नासिका युगलको ऐसा अनुभव होता है, मानो उन्हींके अगका सौरभ्य मिल रहा हो। वे क्षण-क्षणमें प्रफुल्ल होते हैं और लम्बी साँस ले-लेकर पहिचानते हैं। कभी-कभी रसना 'हाय! हाय! मुझे उस अधरसुधाका रसास्वादन प्राप्त होगा क्या?' ऐसा सोचती है और मानो अभी-अभी उपलब्ध हो रहा है; इस भावसे उल्लसित होकर ओष्ठ और अधरोंको चाटने लगती है। कभी-कभी हृदय स्फूर्तिमें उनको प्राप्त करके हृष्ट होता है। कभी उनके माधुर्यास्वादनकी सम्पत्तिसे मतवाला हो जाता है। कभी उनके तिरोभावसे विषादग्रस्त होता है। उन्हींके लिए कभी खिलता है—कभी मुरझाता है। इस प्रकार सञ्चारीभावोंसे अपनेको अलंकृत करता हुआ शोभायमान होता है।

बुद्धिका यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि यही एकमात्र अविनाशी परमार्थ है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति सब दशामें उसकी स्मृतिपथमें ही पथिक रहनेका निश्चय करता है। भगवत्सेवाके लिए उपयोगी सिद्ध देहका उदय होने लगता है और अहंता उसीमें प्रविष्ट होती हुई-सी प्रायः साधक शरीरका परित्याग-सा करने लगती है। ममता उसके चरणारविन्द-मकरन्दकी मधुकरी होना चाहती है। वह भक्त अपने भावको जनतासे वैसे ही गुप्त रखना चाहता है; जैसे कोई कृपण मिले हुए महारत्नको। फिर उसके जीवनमें शान्ति, वैराग्य आदि सद्‌गुण आकर जम जाते हैं। इसलिए सुधी-साधु सज्जनोंकी गोष्ठीमें उसकी पहचान हो जाती है—क्यों न हो, चमकता हुआ ललाट हो छिपे हुए धनीको सूचित कर देता है। दूसरे लोग तो उसे विक्षिप्त अथवा उन्मत्त ही समझते हैं; इसलिए लोगोंसे पहचाना नहीं जाता।

वह भाव दो प्रकारका होता है। एक रागा-भक्तिसे उत्थित और दूसरा वैधी भक्तिसे। पहले भावकी जाति और प्रमाणमें अधिकता होती है। वह माहात्म्यज्ञानका अनादर कर देता है और सामान्यकी अपेक्षा अधिक विशेष होता है। साथ ही गम्भीर एवं अटूट अर्थात् प्रगाढ़ होता है। दूसरा भाव पहले-पहल कुछ न्यून होता है और ऐश्वर्य-ज्ञानसे विद्ध ममतासे युक्त होनेके कारण उतना प्रगाढ़ नहीं होता। ये दोनों ही प्रकार-के भाव माधुर्य एवं ऐश्वर्यकी वासनासे युक्त भक्त-हृदयमें प्रकट होकर दो प्रकारसे आस्वाद्य होते हैं। जैसे एक ही मिठास आम, कटहल, गन्ना और अंगूर आदिमें प्रविष्ट होकर भिन्न-भिन्न प्रकारके रसास्वादनका हेतु बनती है, वैसे ही यह भाव भी हृदयभेदसे नाना रूप धारण करता है।

वे भक्त शान्त, दास, सखा, माता-पिता और प्रेयसी-भाववाले पाँच प्रकारके होते हैं। शान्तोंमें शान्ति, दासोंमें प्रीति, सखाओंमें सख्य, माता-पितामें वात्सल्य और प्रेयसीभाववालोंमें प्रियता रहती है। यह केवल नामका भेद है। यही भाव अपनी शक्तिसे ही विभाव, अनुभाव व्यभिचारी, सञ्चारी सबको प्रकट कर देता है। फिर प्रकृतिसे उद्‌भूत ऐश्वर्य होकर आत्मा अथवा राजाके समान स्थायी हो जाता है और विशेषताको प्राप्त होकर उन-उनके साथ शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और उज्ज्वल नामसे पाँच रसोंके रूपमें प्रकट होता है। स्वयं श्रुति

भगवतीने **'रसो वै सः'** इस रूपमें इसीका वर्णन किया है। इसीके सम्बन्धमें यह बात कही गयी है कि **'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।** इस रसकी उपलब्धिसे ही जीव आनन्दी होता है। यह रस दूसरे अवतार या अवतारोंमें सम्भव होनेपर भी कहीं भी पूर्णताको प्राप्त नहीं होता। स्वयं व्रजेन्द्रनन्दनमें ही अपनी पराकाष्ठापर पहुँचता है। जैसे नद, नदी, तडाग आदिको जलनिधि कहनेपर शक्य होनेपर भी वास्तविक जल-निधित्व समुद्रमें ही है। यह रसभावकी प्रथम परिणितिमें ही प्रेमके आविर्भावमात्रसे मूर्त्त हो जाता है और स्थायी भावयुक्त भावुक भक्तके द्वारा साक्षात् अनुभव किया जाता है।

अष्टम अमृतवृष्टि

यह पहले ही कह चुके हैं कि भक्तिकल्पवल्लीके साधना नामकी दो पत्तियाँ होती हैं। अब उनसे भी अतिशय चिकने किसलय श्रवण-कीर्तन आदिका रूपका वर्णन करते हैं। इनमें भावकुसुम संलग्न होते हैं और इनका नाम अनुभाव होता है। ये एकाएक प्रकट होकर क्षण-क्षणमें प्रकाशित करते हैं और भावकुसुमको परिणत करके उसी समय प्रेमफल बना देते हैं।

इस भक्तिवल्लीकी एक-एक चर्या आश्चर्यमयी है; क्योंकि इसके पत्र, स्तबक, पुष्प, फल परिवक्व हो जानेपर भी अपने स्वरूपका परित्याग नहीं करते और सब-के-सब एक साथ ही नित्य नूतनरूपसे शोभायमान होते हैं। इसके बाद तो भक्तका वही मन जो पहले शरीर, सम्बन्धीजन, गृह, धन आदिमें शत-शत सहस्र-सहस्र रूप धारण करके प्रवृत्त था और ममताकी हथकड़ी-बेड़ियोंसे आबद्ध था उसी मन और उसकी सारी वृत्तियोंको खेल-खेलमें ही सब जगहसे छुड़ाकर यह प्रेम एक विचित्र कार्य कर देता है। जैसे महारसके कूपका स्पर्श करने मात्रसे ही वस्तुओंका रूपान्तर हो जाता है, इसी प्रकार इस प्रेमरसके स्पर्शमात्रसे ही वे मायिक वृत्तियाँ भी साकार चिदानन्द ज्योतिर्मय हो जाती हैं और यह प्रेम उन सबको भगवान्के रूप, नाम, गुण एवं माधुरीमें निबद्ध कर देता है। रश्मिमाली भुवनभास्कर सूर्यके समान यह प्रेम अपने उदय होनेके पूर्व क्षणमें ही सभी पुरुषार्थरूप नक्षत्रमण्डलीको विलुप्त कर देता है। इस प्रेमका स्वाद जब मिलने लगता है तब वह इतना गाढ़ा होता है

और साथ ही साथ शक्तिशाली भी कि वह श्रीकृष्णको भी अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इस प्रेमरसकी पौष्टिकी शक्तिका नाम 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' है प्रेमी भक्त इसका आस्वादन प्रारम्भ होनेपर ही विघ्नोंको कुछ नहीं गिनता, यह तो एक छोटी बात है; प्रत्युत वह अपने आपको भी भूल जाता है। उसकी स्थिति महाशूर—भटके समान अथवा महाधन-लोभी, अत्यावेशलुप्त चोरके समान हो जाती है। यदि संसारमें कोई ऐसी क्षुधा हो जो अर्हनिश:, प्रतिक्षण चतुर्विध परम स्वादु, अपरिमित अन्नका भोजन करनेपर भी शान्त न हो तो कहा जा सकता है कि वैसी ही उत्कण्ठा भक्तके हृदयमें होती है। प्रेम ऐसी ही उत्कण्ठासे प्रेमीके मनको तप्त करके उसी समय भगवान्के रूप, गुण, अपार माधुर्यको प्रकट कर देता है और उनको आस्वादनका विषय बनाकर कोटि-चन्द्रके समान शीतलता एवं आह्लादसे भर देता है। अद्भुत है यह प्रेम, जो अपने आधारभूत-भक्तके हृदयमें एक साथ ही उत्कण्ठा और माधुर्य दोनोंका अनुभव कराता है।

जब यह प्रेम उदित होकर थोड़ा-सा बढ़ता है, तब भक्त प्रतिक्षण भगवत्साक्षात्कारके लिए ही व्याकुल रहने लगता है। उत्कण्ठा-शल्यकी जलन अत्यन्त प्रबल हो जाती है। स्फूर्तिप्राप्त रूपलीला एवं माधुर्यसे तृप्ति नहीं होती। उसके मनकी ऐसी दशा हो जाती है कि बन्धु-बान्धव भी अन्धकूप-जैसे लगने लगते हैं। भवन कण्टकवनके समान और आहारका आग्रह महाप्रहार जान पड़ता है। सज्जनोंके द्वारा की हुई प्रशंसा उसे सर्पदंशके समान विषैली जान पड़ती है। नित्य कर्तव्य भी मर्तव्य, अंग-प्रत्यङ्ग भी भङ्गकारी भार सुहृद्गणोंकी सान्त्वना विषदृष्टि और सदा जागर भी अनुपातका सागर प्रतीत होता है। कभी-कभी आनेवाली निद्रा जीवनविद्राविणी और अपना विग्रह भी मूर्तिमान् भगवन्निग्रह ज्ञात होते हैं। प्राण धानकी तरह पुनः पुनः भुने हुए और अपनी पहलेकी प्रिय वस्तुएँ उपद्रवकारिणी जान पड़ती हैं। कहाँतक कहें, उस समय भगवच्चिन्तन भी भक्तके लिए आत्मनिकृन्तन हो जाता है। इसके बाद प्रेम ही चुम्बक-सा बनकर कृष्णलोहको खींचकर ले आता है और किसी भी क्षणमें भक्तके लोचन-गोचर कर देता है। भगवान् प्रत्यक्ष होकर अपने स्वरूपभूत परमकल्याणगुण सौन्दर्य, सौरभ्य, सौस्वर्य, सौकुमार्य, सौरस्य, औदार्य एवं कारुण्य आदि उस भक्तके नेत्र

आदि इन्द्रियोंमें भर देते हैं। उन गुणोंकी परम मधुरता एवं नित्य-नूतनताका आस्वादन करनेवाले भक्तके हृदयमें जब वे प्रेमके कारण प्रतिक्षण बढ़ने लगते हैं और उनके अनुरूप ही उत्कण्ठा भी बढ़ने लगती है; तब आनन्दका एक ऐसा अपार पारावार प्रकट हो जाता है कि कवि-वाणीकी छोटी-सी लकड़ी उसकी थाह लगानेमें सर्वथा असमर्थ हो जाती है।

उस समय भक्तको जैसा आनन्द होता है उसका उपमान सृष्टिमें कहीं भी नहीं है; तथापि दिग्दर्शनके लिए इस ढंगसे कहा जा सकता है कि मानो ग्रीष्म-ऋतुके प्रखर तापसे सन्तप्त मरुभूमिके पथिकको एक विशाल घनी छायावाले वटवृक्षका आश्रय मिल गया हो अथवा उत्तर-काशीतलवाहिनी, शीतलवाहिनी भगवती भागीरथीके सहस्र-सहस्र घट-सम्भृत हिमसलिलकी धारा प्राप्त हो गयी हो। ऐसा भी कह सकते हैं कि मानो दीर्घकालसे दावाग्निपीड़ित गजेन्द्रको अपार कादम्बिनी घटासार जलधाराका अभिषेक प्राप्त हो गया हो। यह कहना भी अल्प ही है कि अनल्प आमयशाली, तल्पशायी, स्वादलोलुप रोगीको परम आह्लाददायी सुधामय प्रचुर भोजनका रसास्वाद प्राप्त हो गया हो। कुछ-कुछ इन्हीं भावोंको भक्तकी मनःस्थितिका उपमान बनाया जा सकता है।

सबसे पहले भगवान् अपार चमत्कारमहोदधिमग्न भक्तके लोचनका अतिथि बनाते हैं अपने सौन्दर्यको। परम प्रियतम प्रभुकी इस रूप-माधुरीके प्रभावसे सब इन्द्रियाँ और मनोवृत्तियाँ लोचनरूपमें परिवर्तित होने लगती हैं। भक्तके शरीरमें कभी जड़ता आती है, कभी वह काँपता है, कभी नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है। वह आनन्दके उद्रेकसे मूर्च्छाग्रस्त होने ही वाला होता है कि भगवान् अपना दूसरा गुण सौरभ्य, दिव्य सुगन्ध उसकी घ्राणेन्द्रियके प्रति प्रकाशित कर देते हैं। इन्द्रिय और मन घ्राणेन्द्रियमें समाने लगते हैं। मूर्च्छा होते-न-होते भगवान् कहते हैं—'मेरे प्यारे भक्त! मैं तुम्हारा ही हूँ। विह्वल मत बन! मेरा अनुभव कर।' इस प्रकार भगवान्‌की सुरीली वाणी, सौस्वर्य भक्तके कानोंमें अमृत उडेंल देती है। इन्द्रिय और मन कान होनेके लिए दौड़ पड़ते हैं। मूर्च्छाके प्रारम्भमें ही भगवान् अपने चरणारविन्दसे, करकमलोंसे अथवा वक्षःस्थलसे अपना सुखद स्पर्श देकर भक्तको अपने सौकुमार्यका अनुभव कराते हैं।

दास्य-भाव हो तो भगवान् चरणारविन्दसे सिरपर स्पर्श करते हैं। सख्यभाव हो तो हाथोंसे हाथ मिलाते हैं। वात्सल्यभाव हो तो अपने करकमलोंसे आँसू पोंछते हैं। प्रेयसीभाव हो तो अपने भुजपाशसे बाँधकर वक्षःस्थलसे वक्षःस्थलका आलिङ्गन करते हैं; यह विशेष समझने योग्य है।

इस आश्लेषसे भी मूर्च्छाका आगमन होनेपर भगवान् अपने अधरामृतका सौरस्य भक्तकी रसनाका विषय बनाते हैं, परन्तु यह सौभाग्य प्रेयसी भाववाले भक्तको और ठीक उसी समय उदय होनेवाले अभिलाषकी पूर्तिके लिए ही करते हैं। इससे भक्तके हृदयमें जितना-जितना आनन्दका उदय होता है उतनी ही उतनी मूर्च्छा भी निविड होती जाती है। भगवान् मानो ऐसे भक्तको प्रबुद्ध करनेमें असमर्थ-से होकर अपने असीम औदार्यको प्रकट करते हैं और अपने सौन्दर्य, माधुर्य आदि सभी गुणोंको एक साथ ही भक्तकी सब इन्द्रियोंमें प्रकट कर देते हैं और बलात् उसका आस्वादन कराते हैं। उस समय मानो भगवान्के संकेतको जानकर प्रेम भी अत्यन्त बढ़ जाता है और तदनुरूप तृष्णाको भी समृद्ध करता है। प्रेम स्वयं चन्द्रमाके रूपमें प्रकट होकर उसके हृदय-समुद्रको शत-शत परमानन्दतरङ्गोंको उद्वेलित कर देता है और स्वयं ही भक्तके मनका अधिदेवता बनकर युगपत् भगवद्गुणोंके आस्वादनका सामर्थ्य दे देता है। यह निर्विवाद अर्थात् अनुभवसिद्ध है कि भक्तको इन सब स्वादोंकी अनुभूति एक साथ ही होती है।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ऐसी स्थितिमें तो मन एकाग्र नहीं रहेगा और चंचल मनमें स्वादकी सान्द्रता; अर्थात् घनता भङ्ग हो जायगी, क्योंकि सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनोवृत्तियोंका सौन्दर्य, सौस्वर्य आदिका आस्वादन करनेके लिए युगपद ही नमन, श्रवण आदिके रूपमें रूपान्तर हो जाता है। यह अद्भुत, अलौकिक, अचिन्त्य चमत्कार रसानुभूतिको अत्यन्त गाढ़ बना देते हैं। लौकिक अनुभवमूलक तर्क-दावाग्निसे इस अलौकिक चमत्कारको काटना उचित नहीं है। अचिन्त्य-भाव तर्ककी कसौटीपर नहीं कसे जाते।

ज्ञान

चारु चिन्तन

मैं

'मैं' अपनेको एक परिच्छिन्न इकाईके रूपमें जानता है। इसके सामने अगणित वस्तुएँ हैं, असीम देश है, अपरिमित कालकी धारा है। अपनेको एक आकृतिविशिष्ट वस्तुके रूपमें स्थापित करके बहुत छोटा अनुभव करता है। कोटि-कोटि व्यक्तियों और वस्तुओंके बीच यह कितना तुच्छ है, मानो धूलिके उड़ते हुए कणोंमें-से एक हो, जलकी छलकती हुई बूँदोंका एक सीकर हो, अग्निका बुझता हुआ स्फुलिङ्ग हो, दिशाओंका एक नगण्य कोना हो; कालमें चमकती हुई कोई क्षणिका हो। परन्तु यह 'मैं' सबको जानता है। अपने छोटेसे केन्द्रविन्दुके चारों ओर दृष्टि दौड़ा-

कर अन्य वस्तुओंको अपने साथ जोड़ लेना चाहता है, दिशाओंमें फैल जाना चाहता है, कालके उच्छृङ्खल प्रवाहमें अपनेको बनाये रखना चाहता है। यह 'मैं' की इकाई सब ओर देखती है, सबको चाहती है। जिसको अपना नहीं बना पाती, उसके लिए व्याकुल होती है, वस्तुओंके अभावसे अपनेमें न्यूनता मानती है, एक कोनेमें रहनेसे उद्विग्न होती है, भविष्यमें न रह पानेकी आशंकासे भयभीत होती है, मिले हुए को छोड़ना नहीं चाहती, छुड़ानेवालेसे जलती है, स्थायी सम्बन्धसे फूलती है, अकेलेपनमें घुटनका अनुभव करती है। यह 'मैं'-'मैं'-'मैं' अपनी संकीर्णतामें बन्दी बनकर असहाय बन गया है।

'मैं' यह ज्ञान है अथवा भ्रम ? यह ज्ञान भी है, भ्रम भी है। 'मैं' ज्ञान है और उसकी इकाई भ्रम। इकाई अर्थात् बहुतोंमें-से कोई एक। यह 'बहुत' क्या है ? 'मैं' की दृष्टिका विस्तार। दृष्टिमें आया हुआ आकार वस्तु है। उसका संकोच-विस्तार स्थान है, बदलना काल है। ज्ञान-स्वरूप है एकरस। अन्यधर्मको अर्थात् देश-काल-वस्तुके स्वभावको अपनेमें धारण कर लेना भ्रम है। अपने स्वभावको दूसरेके साथ जोड़ देना भी भ्रम है। न्यूनता-अधिकता, तुच्छता-महत्ता, जन्म-मरण, शोक-मोह-भय-रोग-मृत्यु भ्रम हैं। ये अपने स्वभाव नहीं, उधार हैं, अध्याहार्य हैं, अध्यारोप हैं, अध्यस्त हैं। यह भ्रम ही इच्छाओंको जन्म देता है। सटाने-हटानेकी इच्छा, जाने-आनेकी इच्छा, जीने-मरनेकी इच्छा ! इनका मूल क्या है ? एक परिधिमें आबद्ध 'मैं'। यदि यह 'मैं' अपनेको स्थानकी गोदमें स्थित अवयवसंस्थान-विशेष देह न मान बैठता तो नरक-स्वर्ग, बैकुण्ठ, गोलोक या दिव्यादिव्य देशान्तरमें गमनागमनकी इच्छा क्यों होती ? यदि काल-विशेषमें जन्म-मरणधर्मा शरीर न मान बैठता तो जन्म-मरणकी इच्छा या भय क्यों होता ? यदि अपनेको देहविशेष ही न मानता तो किसी वस्तुके पाने-खोने या जुड़ने-बिछुड़नेकी इच्छा क्यों होती ? इच्छाओंका मूल 'मैं' नहीं, 'मैं' की परिच्छिन्नताकी मान्यता है। ऐसी स्थितिमें प्रश्न यह उठता है कि क्या वास्तवमें 'मैं' परिच्छिन्न नहीं है ?

'मैं' अपनी ज्ञानरश्मियोंके विस्तारकी अपेक्षा रखता है; दूरकी, देरकी, दूसरेकी जानकारी चाहता है। कान, त्वचा, आँख, जीभ और नाकके द्वारा भिन्न-भिन्न वस्तुओं और उनके गुण-दोषोंकी अज्ञात विशेष-

ताओंका भी ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। यह ज्ञानकी इच्छा करणोंकी पतली नलीसे सीमित शक्तिवाले दूरबीन, खुर्दबीनसे या इनके आधारपर संकलन-विकलन करके प्रश्नोंका उत्तर देनेवाले आन्तरकम्प्यूटरसे पूरी की जा सकती है ? ये सब करण = औजार अलग-अलग और मिलकर भी जो राशि-राशि ज्ञान संचित करते हैं वह सब अपने केन्द्र 'मैं' को बोझिल तो बना सकते हैं, परन्तु प्रश्नका यथार्थ समाधान नहीं कर सकते। संडासी दूसरी वस्तुको पकड़ सकती है परन्तु अपनेको पकड़नेवाली अँगुलियोंको नहीं पकड़ सकती। दिग्दिगन्तमें बिखरनेवाली रश्मियाँ सबको प्रकाशित कर सकती हैं परन्तु क्या उनमें सूर्यको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है ? इसी प्रकार जाननेकी इच्छाएँ भी अधूरी रहकर क्लेशका सर्जन ही करेंगी, विसर्जन नहीं। शास्त्रवासना अथवा ज्ञानवासना भी पूर्ण होकर 'मैं' को सुखी नहीं बना सकतीं। वे निवृत्त होकर ही 'मैं' के सहज ज्ञानको निरा-वरण होनेका अवसर देती हैं।

सुखविषयक इच्छाओंपर भी ध्यान दें। सुख अन्य है, अप्राप्त है, अन्यत्र है, अन्यथा है तो क्या वह 'मैं' के सहज स्वरूपसे एक हो सकता है ? 'मैं' चाहता चलेगा, वह छूटता चलेगा। पकड़के रखनेमें तनाव बढ़ेगा। दूर होगा, मिलनेमें देर होगी तो व्याकुलता बढ़ेगी। 'मैं' अपनेमें शान्त नहीं बैठ सकेगा। शान्तिके बिना सुखका स्वरूप विक्षिप्त ही रहेगा। ऐसी स्थितिमें 'मैं' का सुख क्या है ? यदि वह स्वयं सुख नहीं है तो आगन्तुक या उधार लिया हुआ सुख कबतक साथ देगा ? सुख-समृद्धिकी इच्छा मूलतः अपनेको दुःखी, दरिद्र मानकर उदित होती है। ज्ञानकी इच्छाका कारण ही यह है कि 'मैं' अपनेमें अज्ञानीपनकी स्वीकृति देता है। अपने जीवनको सदा या दीर्घकालतक बनाये रखनेकी इच्छा 'मैं'के विनाशीपनकी स्वीकृति है। मौलिक रूपसे अपनेको दुःखी, दरिद्र, अज्ञानी एवं मरणशील मानकर फिर इनको दूर करनेकी इच्छा तथा सुख-समृद्धि, ज्ञान या अमृतत्वको अपनेसे पृथक्, अप्राप्त मानकर प्राप्तिकी इच्छा अवैज्ञानिक है। अपने स्वभावको अन्यमें निक्षिप्त करके दूसरोंके स्वभाव 'मैं' पर आरोपित कर लेनेके कारण ही वैसा होता है। अतएव अज्ञान-मूलक है।

यह अज्ञान किस प्रकार अपने पाँव फैलाता है, इसपर भी एक दृष्टि डालना उचित है। इस परिच्छिन्न 'मैं'को जीवित रहनेके लिए क्या-

क्या चाहिए ? सच पूछिये तो, इस माँगकी विषयसूची कभी पूरी नहीं की जा सकती। धन, भवन, वसन, परिवार, प्रतिष्ठा सब इसीके लिए अपेक्षित हैं। पढ़े-लिखे बिना, कुछ लोगोंपर आधिपत्य किये बिना, कुछ खाये-पिये-पहने बिना 'मैं'में हीनताका भाव उदित हो जाता है। वह कुढ़ता-चिढ़ता है, झुँझलाता है, सिर पीटता है, भला-बुरा कहता है, सोचता है। इस प्रकार स्वयं दीन-हीन-पराधीन हो जाता है। अपेक्षा पराधीनताकी जननी है परन्तु यह अपेक्षा आयी कहाँसे ? ईक्षाका = दर्शनका अपराध ही अपेक्षा है। ईक्षाका सामीप्य ही उपेक्षा है। जो कहा जाता है, उसे कहा जाने दीजिये। जो होता है, उसे होने दीजिये। जाये सो जाये, आये सो आये। आना या जाना दुःख नहीं है। आये या जाये—इसकी इच्छा दुःख है। आना-जाना सत्के **विवर्त** हैं, चित्की प्रतीतियाँ हैं, आनन्दके **उल्लास** हैं। परन्तु इच्छाएँ छोटे 'मैं' को घेर लेती हैं, नचाती हैं और सिरपर चढ़ बैठती हैं। इच्छा चाहे जितनी आध्यात्मिक वेशभूषा धारण करे, जैसी रूपरेखा रचे, वह अपूर्णताका ही लिंग है। अतएव जिज्ञासु के लिए तीन इच्छाओंका परित्याग बतलाया है: १. सद्विवर्त देह सम्बन्धी और स्थूल वस्तुओंकी इच्छा, २. चिदाकाररूपसे प्रतिभात बुद्धिमें अपने विस्तारकी इच्छा। यश, पूजा-प्रतिष्ठा, कीर्ति, विशाल राज्य आदिकी चाह ३. आनन्दोल्लासके लिए स्त्री, पुत्र आदि भोग्य पदार्थोंकी अपेक्षा और उनके दीर्घकालतक स्थायित्वकी इच्छा। पुत्रैषणा और दारैषणा एक ही हैं। इनमें तत्काल भोगकी इच्छा तो है ही, पुत्रादिके रूपमें चिरकालतक अपनी परम्परा बनाये रखनेकी भी इच्छा है।

इन्हीं इच्छाओंको दूसरे रूपमें देखिये: १. देह-वासना—देह हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ठ हो, नीरोग हो, सुगन्ध हो, भोगसमर्थ हो, सुन्दर हो, सुकुमार हो, मधुर-गम्भीर वाणीसे युक्त हो। यह पूर्ण सत्-रूप 'मैं' का अज्ञान विवर्तांशमें आबद्ध होकर ही चाहता है। २. शास्त्रवासना—पूर्ण चित्-स्वरूप 'मैं' को न जाननेके कारण विवर्त-विषयक ज्ञानको वृत्त्यारूढ करनेकी इच्छाएँ। बुद्धिकी वृद्धि, अनेकविषयक ज्ञान, ग्रन्थ-विद्याका उपार्जन ये सब इसी वासनाके छोटे-छोटे रूप हैं। ३. लोकवासना—'मैं'की मानी हुई भ्रान्त परिच्छिन्नताको कृत्रिम विशालता देनेकी इच्छा है। यदि 'मैं' ही छोटा है तो उसे कितना फैलाया जा सकता है ? पूजा-

प्रतिष्ठा, सम्मान, प्रशंसा, यश-कीर्ति, विश्वव्यापी नाम दीर्घकाल तकके स्मारक, इन सबकी इच्छाओंका उदय अपने 'मैं' की पूर्णताके अज्ञानसे ही होता है। इन तीनों प्रकारकी वासनाओंका केन्द्रविन्दु परिच्छिन्न 'मैं' है और वही मृत्युभय, बन्धन और दुःखसे ग्रस्त-संत्रस्त, दीन-हीन-सा हो रहा है।

इस बातको दूसरी तरह भी कह सकते हैं। इच्छाओंका वर्गीकरण कर दीजिये। उनके तीन विभाग होंगे जीनेकी इच्छा, जाननेकी इच्छा और आनन्द-भोगकी इच्छा। क्या 'मैं' परिच्छिन्न रूपमें रहकर इन्हें पूर्ण कर सकता है? यह नन्हा-मुन्ना जीवन मृत्युग्रस्त है। ज्ञेय विषयोंकी सीमा नहीं है। भोग्य-पदार्थ परिवर्तनशील, इन्द्रियाँ सामर्थ्यहीन, मन रुचिरहित और बुद्धियाँ शिथिल हो जाती हैं। तब इनमें पूर्णता कहाँसे आयेगी? हमारे शोक-मोह-भय, विस्तारकी लालसाएँ, दीर्घकालीन इच्छाएँ कैसे पूर्ण हो सकेंगी? नहीं हो सकेंगी तो क्या हम सर्वदा दुःख-ग्रस्त ही रहेंगे? यदि ऐसा है तो क्या यह 'मैं' असम्भवको सम्भव बनानेके लिए प्रयत्नशील है? इन इच्छाओंके उद्गमका आधार क्या है? वास्तविकता यह है कि 'मैं'के स्वरूपको समझे बिना अन्य रूपसे प्रतीयमान पदार्थोंकी इच्छाएँ बसा ली जाती हैं। वे 'मैं'को बैठने नहीं देतीं, इधर-उधर भटकाया करती हैं। देहमें, इन्द्रियोंमें, भीतर-बाहर, निकट-दूर, भूत-भविष्य, अपना-पराया, अगणित स्थान हो जाते हैं—इनके भटकने और अटकनेके। अपने घरकी सुख-सुविधा, ज्ञान-प्रकाश, सत्ता-स्थिरता अनदेखी रह जाती हैं और थोड़ी-थोड़ी देरके लिए भिन्न-भिन्न होटलोंमें विविध वस्तुओंका स्वाद लेते और बिल चुकाते दैहिक जीवनका अपव्यय हो जाता है। बुद्धि अस्थिर, मन बेचैन, शरीर श्रान्त-क्लान्त-तान्त! इस भ्रान्तिका मूलोच्छेद करना आवश्यक है।

आइये, 'मैं'का परीक्षण-समीक्षण करें। सबसे निकटकी वस्तुके निरीक्षणमें क्षणका भी अपेक्षण नहीं है। उपेक्षण मत कीजिये। 'मैं' का आश्रय क्या कोई जड़ द्रव्य है? जड़ तो ज्ञात होता ही है चेतनसे। यदि 'मैं' चेतन न हो तो 'जड़ है' ऐसा ज्ञात ही नहीं हो सकता। 'मैं'-की उत्पत्ति जड़से हुई, शून्यसे हुई, ईश्वरसे हुई, किसी अन्य चेतनसे हुई या कुछ पदार्थोंके मिश्रणसे हुई—इन सब कल्पनाओंका आधार और प्रकाशक चेतन 'मैं' ही है। अपनी उत्पत्तिका अनुभव होना शक्य

नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि अनुभवके क्षेत्रमें 'मैं'की उत्पत्ति एक कल्पित निराधार, प्रमाणरहित कहानीभर है। 'मैं'का जो आकार अनुभवका विषय होता है, वह 'मैं' नहीं है; क्योंकि आकार प्रकाश्य है, 'मैं' प्रकाशक। कोई भी दृश्य या जड़, शून्य या परोक्ष, जीव या ईश्वर 'मैं'का कारण नहीं हो सकता। 'मैं'का कारण यदि होगा तो वह अननुभूत कल्पना मात्र होगा। तब 'मैं'की उत्पत्ति और उसके कारणकी कल्पना छोड़ दीजिये। कारणरहित 'मैं' अनुत्पन्न 'मैं', स्वतःसिद्ध 'मैं'!

अच्छा, इसका कारण न सही। परन्तु इसका कार्य तो हो। इसी चेतन 'मैं'से जड़ कार्यकी उत्पत्ति हुई, ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है? सब कुछ बदलता है परन्तु 'मैं' नहीं बदलता; वह साक्षी चेतन है। उसका परिणाम होगा तो परिणामको जानेगा कौन? परिणाम सिद्ध कैसे होगा? यदि वह दूसरेको पैदा करेगा तो बाहर या भीतर, दूर या निकट? वह कौन-सा देश होगा जिसमें वह दूसरेको उत्पन्न करे? आन्तर और बाह्यकी, निकट एवं दूरकी उपस्थिति केवल कल्पनामें है। कल्पना अपने पेटमें सारी लम्बाई-चौड़ाईको, सिकुड़ने-फैलनेको समेट लेती है। देशका ओर-छोर उपलब्ध न होनेसे आद्यन्तहीन देश, पूर्व-पश्चिम मध्यके विभागसे रहित देशके केवल कल्पनामें ही साकार होता है, अन्यत्र नहीं। सर्वत्र देशकी कल्पनामें अज्ञातता अनुगत रहती है। उत्तर-दक्षिणकी सीमा ज्ञात नहीं है; मध्यवर्तिनी विभाजक रेखा नहीं है, ऐसी स्थितिमें देशका स्वरूप कल्पनाके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? कल्पनोदरवर्ती देशका आश्रय कल्पनाका आश्रय ही है। कल्पनावच्छिन्न चैतन्य ही कल्पित-देशावच्छिन्न है। अतः देश चेतन 'मैं' को परिच्छिन्न नहीं कर सकता। चेतन 'मैं' निरतिशय बृहत् है। उसके भीतर-बाहर कहीं, किसी भी रूपमें देशका अस्तित्व नहीं है। ऐसे 'मैं'में द्रव्यकी उत्पत्ति या अवस्थान कहाँ है? द्रव्य अपने अभावके अधिकरण देशके प्रकाशक 'मैं'में ही भास रहा है। जिसमें देश नहीं है उसमें द्रव्य भी नहीं है। यही 'मैं' निरतिशय विशाल, महान् बृहत् है।

अच्छा, ठीक है। चेतनमें दूसरा द्रव्य नहीं है, यह मान्य है; स्थान नहीं है, यह भी मान्य है परन्तु उसमें काल हो, चेतनकी प्रत्येक इकाई स्वतन्त्र हो, क्षण-क्षण चमकता रहे तो क्या हानि है? धन्य है, अपनी मृत्युका 'मैं' स्वयं द्रष्टा है। कालके साथ अज्ञान लगा है। कालकी आदि

भी अज्ञात, अन्त भी अज्ञात ! कालके प्रकाशकमें आदि-अन्तका सम्बन्ध नहीं है। अतएव उसके साथ अज्ञान नहीं जुड़ता। कालके आदिमें अज्ञान, अन्तमें अज्ञान; क्योंकि वह प्रवाही है। चेतन प्रवाही नहीं है, अतः उसमें आदि-अन्त-मध्य नहीं। चेतन अज्ञानका भी प्रकाशक है, अतः अज्ञानका भी सम्बन्ध नहीं। काल-द्रव्य प्रतीतिमूलक एक कल्पना है। जो कल्पना-का उदय-विलय देखता है वही कल्पितको भी देखता है। कल्पनावच्छिन्न चैतन्य ही कल्पितावच्छिन्न चैतन्य होता है। अतः काल अपने स्वयं-प्रकाश अधिष्ठान चेतनको परिच्छिन्न करनेमें असमर्थ है। 'मैं' अविनाशी है। विनाशी पदार्थ अपने अभावके अधिकरणमें चमकते और बुझते रहते हैं। उनकी स्वतः सत्ता नहीं होती। इसी लिए वे मिथ्या होते हैं। यह 'मैं' = अपना 'मैं' चेतन आत्मा मिथ्या द्रव्य-देश-कालका प्रकाशक अधिष्ठान है—अनादि, अमध्य, अनन्त। भूत-भविष्य, बाह्य-आभ्यन्तर, प्रत्यक्-पराक्की कल्पनासे रहित। यह अन्य-सापेक्ष स्व भी नहीं है। ऐसा 'मैं' अज्ञात होनेके कारण इच्छाओंसे बोझिल, इच्छाओंका वन्दी, इच्छाओंकी आपूर्तिसे भयभीय हो रहा है। अज्ञान ही अनर्थका, संकीर्णताका और दुःखका कारण है। इस 'मैं' के यथार्थ-परमार्थ स्वरूपका अज्ञान मिटना आवश्यक है।

यह भी देखिये, सुखके लिए दौड़-धूप ! यह रहा, वह रहा, यहाँ है, वहाँ है; चला गया, आनेवाला है; ऐसा क्यों ? अनुत्पन्न पदार्थ देश, काल, वस्तुएँ आपको प्रिय हैं ! आकाश-कुसुमकी माला आपके कण्ठकी शोभा नहीं बढ़ा सकती। आपका प्रियतम वन्ध्यापुत्र होगा तो मिलनकी आशा ही मूर्खता है। आप अपनी स्वतःसिद्ध प्रियताको छोड़कर कल्पितको प्रिय क्यों बनाना चाहते हैं ? परम-प्रिय 'मैं' साक्षात् अपरोक्ष है।

यह 'मैं' सुख क्यों चाहता है ? क्योंकि अपनेको सुख नहीं समझता। सुख अपनेको सुख न जानकर अन्यसे सुखकी इच्छा करता है। यह भी तो देखिये कि 'मैं' से जुड़े बिना कोई भी दूसरा सुख सुख नहीं हो सकता। 'मैं' से अभेद ही सुख है। जिससे अभिन्न होनेपर ही सुख सत्तालाभ करता है, उस 'मैं' से विमुख होकर दूसरेके सम्मुख होनेपर सुख मिलेगा, यह कितनी नासमझी है ! सुखके लिए कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं, 'मैं' सुख है। कुछ पानेकी आवश्यकता नहीं, 'मैं' सुख हूँ। इस सुखको ज्ञानका विषय बनाना भी आवश्यक नहीं, क्योंकि 'मैं' स्वयंप्रकाश,

स्वेतरसर्वप्रकाशक, इतरप्रकाशनिरपेक्ष है। शब्द-स्पर्शादिके समान ज्ञेय न होनेपर भी साक्षात् अपरोक्ष है; क्योंकि यह अपना 'मैं' है। सुख और ज्ञान दो नहीं, एक है। 'मैं' का नाश स्वयं मैं देखे, ऐसा सम्भव नहीं। कारण-कार्य इसके है ही नहीं तो नाश कहाँसे करेंगे? किसीके साथ इसका आश्रयाश्रितभाव नहीं है, तो आश्रयके नाशसे भी इसका नाश प्राप्त नहीं है। समान नहीं है, अधिक नहीं है; स्वामी नहीं है, सेवक नहीं है; शत्रु नहीं है, मित्र नहीं है; दूसरा कौन इसका नाश करेगा? यह है परमानन्दघन, स्वयंप्रकाश, अविनाशी परमार्थ। द्वैत इसका स्पर्श नहीं करता। ऐसी स्थितिमें 'मैं' को विनाशी, अज्ञानी, दुःखी, विकारी मानना सर्वथा अनुचित है। इसमें आना-जाना नहीं है, जन्मना-मरना नहीं है, पाप-पुण्य नहीं है, सुख-दुःख नहीं है। जहाँ परिच्छिन्नता ही नहीं है, वहाँ इनका सम्बन्ध कहाँसे होगा? सम्बन्धकी बात अलग, अपरिच्छिन्नतामें परिच्छिन्नता किसी भी रूपमें आत्मलाभ नहीं कर सकती। मैं कोई परिच्छिन्न इकाई नहीं है, परिपूर्ण ब्रह्म है। प्राप्तका परिहार और अप्राप्तको प्राप्त करनेकी इच्छा अज्ञानसे ही होती है। ज्ञान-स्वरूपमें अज्ञान भी नहीं है। ज्ञानसे जो मिलता है, वह पहलेसे मिला हुआ है। ज्ञान देता नहीं, प्रकाशता है। अज्ञानसे जो खोता है, वह खोता नहीं है, मिला हुआ ही रहता है। ज्ञानाज्ञान किसी पदार्थके उत्पादक या विनाशक नहीं हैं, केवल 'मैं'में भासमान आवरणके भंगकी एक प्रक्रियामात्र हैं। अज्ञान अध्यारोप है, ज्ञान अपवाद है, ज्ञानाज्ञान से विनिर्मुक्त ज्ञेयनिरपेक्ष ज्ञानस्वरूप है। उसको ज्ञान कहना भी एक प्रक्रिया ही है।

यह 'मैं' मेरा है या आपका, उसका है या किसी अन्यका, यह विकल्प उठानेका अवसर ही नहीं है। मैं, आप, वह और अन्य अलग-अलग नहीं है। ये सभी छोटी-छोटी इकाइयाँ चाहे प्रत्यक्ष हों या परोक्ष, साक्षात् अपरोक्ष परमार्थ 'मैं' में निरर्थक हैं। यथार्थ 'मैं' ब्रह्मस्वरूप ही है, यह बोध होते ही कल्पित अविद्या अपने परिवारके साथ लुप्त हो जाती है। फिर बोध भी निष्प्रयोजन हो जाता है। अध्यारोपका अपवाद हो जानेपर अपवादकी भी आवश्यकता नहीं रहती। अपवादकी भी एक अवधि होती है। वही अवधि है स्वप्रकाश सर्वाधिष्ठान, अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप 'मैं'!

●

आप ही आप

१. क्या आप सत्का अनुसन्धान, अन्वेषण, शोध, खोज करते हैं ? बहुत अच्छा; आपके सत्प्रयासमें सफलता मिले। हम आपसे यह निवेदन करना चाहते हैं कि आप सबसे पहले सत्से प्रेम कीजिये और सत्के लक्षणको समझ लीजिये। कोई जंगलमें गाय ढूँढ़नेके लिए जाय और उसे गायके प्रति प्रेम न हो तथा उसकी पहचान न हो तो क्या परिणाम निकलेगा ? वह हारकर, थककर लौट आयेगा अथवा गायके मिलने पर भी वह पहचान नहीं सकेगा कि 'यही गाय है।' पहले तो वह चिरकाल तक खोजमें रुचि ही नहीं रख सकेगा, कष्ट नहीं सह सकेगा और दूसरे, गायका प्रत्यक्ष होनेपर भी, वह मिली भी अनमिली रह जायगी। अतः सत्के प्रति प्रेम और उसके लक्षणका ज्ञान—दोनों ही अपेक्षित हैं।

२. सत्से आपका कितना प्रेम है ? क्या आप वस्तुओंके भोग, उपयोग और संग्रहमें उनके सत् होनेका ध्यान रखते हैं ? क्या आप कर्म करते समय और बातचीत करते समय उसके सत्स्वरूपका ही पक्ष लेते हैं ? यदि आप भोग, संग्रह, कर्म और भाषणमें सत्के प्रेमी और पक्षपाती नहीं हैं तो परमार्थ सत्के प्रति भी आपके अन्तःकरणमें कितनी लगन एवं प्रियता हो सकती है ? कहनेका अभिप्राय यह है कि जो व्यवहारमें सत्का प्रेमी होता है, वही परमार्थ सत्का खोजी भी हो सकता है। असत् पक्षमें दोषदृष्टि हुए बिना सत् पक्षकी ओर प्रगति नहीं हो सकती।

३. यदि आप सत्यको पहचानते ही नहीं हैं तो उसके मिलने पर भी आपको तृप्ति अथवा सन्तुष्टि कैसे हो सकेगी ? सत्यको पहचाननेके लिए आपको एक विभाजन-रेखा बनानी पड़ेगी। आत्मसत्य और अनात्म-सत्य। जब आप सत्यके लक्षणको जानेंगे तो यह पायेंगे कि जिसके मिथ्यात्वका

निश्चय किसी भी दशामें न हो सके, उसको सत्य कहते हैं। कल्पित परोक्षसत्य और ऐन्द्रियकप्रत्यक्षसत्य किसी-न-किसी देशमें, कालमें मिथ्यात्वेन निश्चित हो जाते हैं। एक आत्मसत्य ही ऐसा सत्य है जिसे किसी दशामें झुठलाया नहीं जा सकता। इसीको शास्त्रकी भाषामें 'अबाधित' कहते हैं। इस सत्यकी खोज करनेके लिए किसी विशेष काल—विक्षेप अथवा समाधि, विशेष देश—अन्तर्देश या बहिर्देश और कोई वस्तुविशेष—कार्य अथवा कारणमें स्थित होनेकी अपेक्षा नहीं रहती। यह आत्मसत्य है। इसमें न जाना है, न आना है। न सिकुड़ना है, न फैलना। न बनना है, न बिगड़ना। न जन्म है, न मरण। यह आत्मसत्य स्वयं आप है।

४. प्रियताकी पराकाष्ठा आत्मा ही है। यह श्रुति, युक्ति और अनुभूतिसे सिद्ध है। वित्त, पुत्र, कलत्र आदि सभीसे अधिक प्रिय आत्मा है। आत्माके लिए सबसे प्रेम है, सबके लिए आत्मासे नहीं। आत्मा किसीके प्रेमका अंग नहीं है। स्वयं प्रिय है। इसीको निरुपाधिक प्रेम कहते हैं। यद्यपि यह अपरोक्ष है तथापि अज्ञात है। एक व्यक्तिको, एक वस्तुको हम प्रतिदिन देखते हैं, परन्तु उसको पहचानते नहीं। हीरा भी पहचानके बिना साधारण शीशा ज्ञात होता है। पहचाननेपर ही उसकी महत्ता प्रकट होती है। अपना परम प्रेमास्पद आत्मा ही है—यह पहचानना आवश्यक है। इस परिचयका अथवा अभिज्ञानका फल है—अन्यके प्रति वैराग्य। इस वैराग्यसे भी आत्मानुसन्धान परिपुष्ट होता है, फिर तो बिना आत्मानुभूति प्राप्त किये कभी, कहीं, अन्यमें सन्तोष हो ही नहीं सकता। यह वैराग्य ही दृढ़ ज्ञान प्राप्त करनेकी कुञ्जी है; अन्यथा चार कदम आगे बढ़कर पीछे लौट पड़नेकी सम्भावना बनी रहती है; मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं, प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। अतः आत्माकी परमप्रेमास्पदता जानना आवश्यक है।

५. जीवनकी एक परिवर्तनमयी धारा प्रवाहित हो रही है। जन्म, मरण दोनों ही इसके पहलू हैं। आत्मा साक्षी अमृत है। वह केवल साक्षी ही नहीं, ब्रह्म है। जन्म-मरण अनित्य हैं। प्रापञ्चिक जीवन परिणामी नित्य है। आत्मा कूटस्थ नित्य है। यह आत्मा कूटस्थ होनेके साथ-ही-साथ अपरिच्छिन्न भी है। इसकी अपरिच्छिन्नता सर्वमूर्तसंयोगी विभुसे विलक्षण है और उपादान कारणवत् कार्यमें व्यापकतासे भी। यह केवल

संसर्गरहित ही नहीं है, अद्वितीय भी है। इसलिए आत्मसत्यका बोध होनेपर गमनागमनरूपान्तरापत्ति अथवा अन्य संसर्गकी निवृत्ति हो जाती हो, केवल ऐसा ही नहीं है, प्रत्युत अन्यका सर्वथा बाध हो जाता है। निवृत्ति और प्रवृत्ति—यह द्वन्द्व है। आत्मा निर्द्वन्द्व है।

६. आप सत्यको स्वयं निजरूपमें पहचानते हैं अथवा अन्य रूपमें पहचानना चाहते हैं ? जिस सत्यको आप अपनेसे भिन्न रूपसे पहचानेंगे, वह घटादिके समान प्रत्यक्ष होगा तो विनश्वर भी अवश्य होगा। यदि प्रकृति, त्रिगुण, अपूर्व, अदृष्ट, परमाणु आदिके समान परोक्ष होगा तो कल्पित भी निश्चय ही होगा। यदि वह स्वप्न, सुषुप्ति, राग-द्वेषादिके समान अपरोक्ष होगा तो वह बहती हुई वृत्तियोंका ही कोई आकार होगा, कभो होगा, कभी नहीं होगा। उसको बनाना-बिगाड़ना भी अपने हाथमें होगा। अतः आत्मसत्य न प्रत्यक्ष है और न परोक्ष। वह रागादिके समान अपरोक्ष भी नहीं है। वह वृत्तिका कोई आकार-विशेष नहीं है। निर्माण विभागमें उसका अन्तर्भाव नहीं है। वह साध्य नहीं है, स्वयंसिद्ध है। अतः उसकी प्राप्तिके लिए कल्पना-विशेष, आकार-विशेष और करण-विशेषकी आवश्यकता नहीं है। विचारके द्वारा भ्रान्ति भगा दीजिये, वह आप ही हैं। भ्रान्ति दूर हो जानेपर भी विपर्ययकी गाढ़तासे स्थितिकी अपेक्षा जान पड़ती हो तो विचारका भी परित्याग करके अविचार-पदमें स्थित हो जाइये। हम अद्वितीय ब्रह्म हैं—यह साक्षात्कार अपेक्षित है, विचार-अविचारका कोई नियम नहीं है।

७. वस्तुतः श्रवण, मनन, निदिध्यासन भी आत्मसत्यमें कुछ क्रिया नहीं करते हैं। यह भी समझानेकी एक शास्त्रीय सम्प्रदाय-परम्परागत प्रक्रिया ही है। बौद्ध भ्रमको दूर करनेके लिए इनका औषधवत् उपयोग करना पड़ता है। ये रोग-निवृत्तिमें हेतु हैं, स्वस्थतामें नहीं। स्वास्थ्य स्वरूप है। अतः अज्ञान, संशय और विपर्ययकी निवृत्तिके लिए तीनोंका प्रयोग आवश्यकतानुसार कर लीजिये। औषधकी अनिवार्यता भी रोगका ही लक्षण है। संशयालुके लिए भिन्न-भिन्न विचारोंके मिश्रणका भी उपयोग है परन्तु आजीवन प्रयोगशालामें व्यतीत करना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। आत्मसत्यके साक्षात्कारका फल स्वयं साक्षात्कार ही है। उसका फल समाधि, दिव्यलोकगमन, भावोन्माद अथवा

स्थितिविशेष नहीं है। प्रत्येक स्थितिमें निर्द्वन्द्वता, निर्भयता यहाँ तक कि द्वन्द्व और भयसे भी निर्भयता, साक्षात्कारका स्वरूप ही है, फल नहीं। **अभयं ह वै जनक प्राप्तोऽसि।**

८. अच्छा तो फिर, आप ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं? किसका ज्ञान? अन्यका या अपना? क्या आप अज्ञानस्वरूप हैं? आप स्वयं ज्ञान हैं। आपसे ही सब प्रकाशित होता है। आपके स्वयंप्रकाश स्वरूप में 'सब' कुछ नहीं है, फिर किसका ज्ञान? क्या ज्ञान ही ज्ञान प्राप्त करना चाहता है? ज्ञानका ज्ञान कैसे होगा? तब क्या ज्ञान अज्ञेय है? अवश्य यदि वह कोई अन्य है। अज्ञेय न होता तो ज्ञान प्राप्त करना ही क्यों चाहते? यदि वह ज्ञान अन्य नहीं है आप स्वयं हैं तो उसको चाहना कैसा? वह तो सुज्ञेय है; क्योंकि आप स्वयं हैं। आइये, आप सदात्मा, ज्ञानात्मा, आनन्दात्मा और अपरिच्छिन्नात्माका लक्षण पहचानिये। वह लक्षण भी विलक्षण है। विचक्षण जन क्षण-क्षण और कण-कणके स्वप्रकाश, सर्वविभासक, अधिष्ठान आत्माके रूपमें पहचानते हैं।

९. चार्वाकोंने ज्ञानको जड़ द्रव्योंका विकार माना। ज्ञानका आदि और ज्ञानका अन्त जड़द्रव्य है। ज्ञानका जन्म और नाश! भला, यह भी कोई बात है। ज्ञानके बिना जड़-द्रव्य, विकार, आदि-अन्त किसीकी सिद्धि नहीं होती। गये थे ज्ञान पहचानने अज्ञान लेकर लौट आये।

दिगम्बरोंने ज्ञानको फैलने और सिमटनेवाला, गमनागमन आदि क्रियाका आश्रय और सिद्ध दशामें भी अलोकाकाशके नोकपर स्थित व्यक्तित्वकी एक इकाईके रूपमें स्वीकार किया। यह देशाश्रित ज्ञान ह्रास-विकाससे युक्त अतएव विनाशसे अमुक्त अन्तःकरणके अर्थमें ही प्रयुक्त है, वास्तविक ज्ञान नहीं है।

सौगतोंने ज्ञानको कालके विकराल गालमें क्षण-क्षण उदित और अस्त होते देखा। कण-कणकी वासना-धारा तो अविच्छिन्न चलती है परन्तु ज्ञान कुण्ठित होता रहता है। इन्होंने ज्ञानका विनाश मानकर अपनेको वैनाशिक बना लिया और हाथ लगा ठनठनपाल, केवल शून्यता।

अक्षपाद एवं कणादके अनुयायियोंने ज्ञानको एक गुण बना दिया। ज्ञान बिचारा कभी सुधमें आता है, कभी मूर्च्छित होता है। ज्ञानी अज्ञान हो गया और अज्ञानका विलास ज्ञानके रूपमें उल्लसित होने लगा।

कपिल पतञ्जलिके अनुयायियोंने वृत्तिज्ञानसे असंग आत्माका ज्ञान अलग तो किया परन्तु उसको एक गुहामें ढकेल दिया और वह जब-जब व्यवहारमें आता है, तब-तब वृत्तियोंके कीचड़में लथपथ होकर समाधिके अतिरिक्त कालमें वृत्ति-सारूप्य ही रहता है। ज्ञान, केवल ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित ज्ञानका व्यवहारमें कहीं पता ही नहीं है।

किसीने ज्ञानको ईश्वरका विशेषण बना दिया तो किसीने ईश्वरके परतन्त्र कर दिया। कहनेका अभिप्राय यह है कि शुद्ध ज्ञानका लक्षण और-और ढकता गया। आप जिस ज्ञानको ढूँढ़ रहे हैं वह ज्ञान तत्त्वतः क्या है? अहमंश और इदमंशका निरसन कर देनेपर ज्ञानमें देश, काल, द्रव्य, अवस्था, विशेषण या परतन्त्रताके लिए कहाँ अवकाश है?

१०. ज्ञान स्वका है अथवा अन्यका? यदि ज्ञान अन्यका है तो उस पदार्थके श्रेष्ठ होने पर प्राप्तिके लिए और कनिष्ठ होने पर परिहारके लिए प्रवृत्ति होना अनिवार्य है। यदि वह ज्ञान स्वका है तो अन्यसे निवृत्त होकर स्वमें स्थित होना पड़ेगा। अभिप्राय यह है कि प्राप्तव्यके अन्य होनेपर धर्मादि प्रवृत्ति सार्थक होगी और स्व होनेपर ध्यान-समाधि आदि निवृत्ति। परन्तु यह प्रवृत्ति-निवृत्ति स्व एवं अन्यके भेदज्ञानके ही कार्य हैं। भेद स्वयं प्रकाश्य है, प्रकाशक नहीं। अतः वह स्वयंप्रकाश नहीं है। शुद्ध प्रकाश वह ज्ञान है जिसमें स्व—अन्यका भेद नहीं है। यही कारण है कि ज्ञान प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिका जनक नहीं है। तत्त्वमस्यादि महावाक्यके द्वारा इस ज्ञानपरसे कल्पित अज्ञानावरणका भंग हो जाने पर वह स्वयं अपरिच्छिन्न एवं अद्वैत ही है। आवरण भंग हो जानेपर भेदका भान नहीं मिटता, केवल भेदकी भ्रान्ति मिटती है। भान तो ज्ञानस्वरूप ही है। अतएव भेदको प्रकाशित करता हुआ भी वह अभेद ही है। यही कारण है कि तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिए प्रवृत्ति-निवृत्ति कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रहता। यह ज्ञान न कर्म-उपासना-योग जन्य है और न किसी कर्तव्यका जनक। जनक-जन्य भाव अज्ञानमूलक ही है। अतः जन्य-जनक भासते हुए भी अपने स्वयंप्रकाश अधिष्ठानमें बाधित ही हैं।

११. अज्ञानावरण भंग करनेके लिए ज्ञानको ज्ञेय बनानेकी आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि कोई ऐसा प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाण नहीं है जो ज्ञानको ज्ञेय बनानेमें समर्थ हो। जो प्रमाणका प्रकाशक प्रकाश है, बुद्ध्यादिका साक्षी और भासक है उसको कौन-सा प्रमाण अपना प्रमेय

बनानेमें समर्थ हो सकेगा। प्रमाण और प्रमेय, उनसे सम्बद्ध प्रमातृत्व तीनों ही ज्ञान-प्रकाशसे प्रकाशित हो रहे हैं। यह अज्ञानमूलक व्यवहार-दशाकी त्रिपुटी है। इनमें प्रमाताका परमार्थ रूप ही वास्तविक है, त्रिपुटी बाधित है। अतः तत्त्वमस्यादि महावाक्यके द्वारा जो ऐक्य-बोधकी वृत्ति उदय होती है वह अविद्या-निवर्तक रूपसे ही प्रमाण है, ज्ञानको ज्ञेय बनानेसे नहीं। वृत्तिकी प्रमाणरूपता भी अज्ञानिक व्यवहार ही है; क्योंकि लोकव्यवहारमें यह देखा जाता है कि नित्य परोक्ष वस्तु जैसे स्वर्गादिका ज्ञान केवल वाक्यसे ही होता है, प्रत्यक्ष-अनुमानसे नहीं इसी प्रकार यदि कोई वस्तु नित्य अपरोक्ष रहकर भी अज्ञात या अपरि-चित हो तो उसका अज्ञान अथवा अपरिचय वाक्य-प्रमाणसे ही मिटेगा। यदि आप किसी व्यक्ति या वस्तुको नेत्रादि इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष देख रहे हों परन्तु यही 'सोहन' अथवा 'मोहन' है या यही हीरा अथवा मणिविशेष है—यह परिचय न हो तो वाक्य-प्रमाणके द्वारा उसका अपरिचय मिटा दिया जाता है। यही वाक्य-प्रमाणजन्य वृत्ति है। वृत्ति माने व्यवहार। आत्मा नित्य अपरोक्ष है। अपना आपा ही है। परन्तु इसकी अनश्वरता, पूर्णता, अपरिच्छिन्नता, अद्वितीयता, अज्ञात एवं अपरिचित-सी हो रही है। उस अज्ञातताको मिटानेके लिए वाक्य-ज्ञानके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। वाक्य भी ऐसा होना चाहिए जो उसे कर्म, भोग, गमनागमन, विनाश, प्रिय-अप्रिय आदिके द्वन्द्व एवं परिच्छिन्नताके बन्धनसे मुक्त करता हो। भले ही वह वाक्य किसी भाषामें बोला गया हो परन्तु वह द्वैत-भ्रान्तिका निवर्तक अवश्य होना चाहिए। यदि परमात्माके साथ हमारी एकता भावमूलक होगी तो वह भाव एक-न-एक दिन टूट जायगा। यदि वह समाधिमूलक होगा और हमारे अपने स्वरूपमें बैठनेसे ही रहेगा तो उठनेपर उसका नाश हो जायगा। तत्त्वज्ञान न किसी अन्य के साथ मिलता है और न अपने आपको। अन्यसे निवृत्त करके स्वमें बैठता है। उसका कहीं ले जानेमें या अपनेमें बैठानेमें आग्रह नहीं है। वह केवल यथार्थ स्थितिका बोध है। अज्ञान-दशामें भी आत्मा ब्रह्म ही है, ज्ञान-दशामें तो सुतरां है ही। इसी सत्यका ढक्कन महावाक्य-जन्य वृत्ति हटा देती है। न वह वृत्ति वास्तविक है, न ढक्कन। वस्तु तो ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है और वह अद्वैत ब्रह्म है और आप ही हैं आप ही आप हैं।

•

जिज्ञासा और समाधान

: १ :

प्रश्न : भगवद्भक्तिको परमप्रकाशरूप क्यों कहा गया है ? उसमें जप, तप, आदिकी आवश्यकता क्यों नहीं है ? वह कैसे प्राप्त हो ?

उत्तर : स्वयं भगवान् ही परमप्रकाश हैं—'परम प्रकास रूप भगवाना' 'सब कर परम प्रकासक जोई' इत्यादि। जब उनके सिवाय भक्ति-वृत्तिमें दूसरी कोई वस्तु नहीं रह जाती; तब भक्ति स्वयं प्रकाशरूप हो जाती है। भक्तिका भगवान्से अभेद ही उसकी परमप्रकाशरूपता है। इसीसे उसे चिन्तामणि भी कहा गया है।

जप, तप आदि जीवके प्रयत्नसे होते हैं। वस्तुतः वे भी ईश्वरानुग्रहसे ही होते हैं परन्तु जीवको ऐसा ज्ञात नहीं होता। जीवके द्वारा कर्तृत्व-पूर्वक किये हुए स्वतन्त्र जप-तपसे भक्ति-चिन्तामणिकी प्राप्ति नहीं होती।

नाम वर्षाऋतु है। वह भक्तरूपी शस्यको जन्म देती है। स्मृतिकी अविच्छिन्न धारा गंगाजल है। वह उसको सींचती है। भगवदाकार वृत्ति भक्ति-चिन्तामणि है। भगवान् पहलेसे ही हृदयमें विद्यमान हैं इसलिए तदाकार वृत्तिमें उनका आविर्भाव ही स्वयंप्रकाश है।

इसके लिए साधन क्या है ? भगवान्के लिए उन्मुख होकर उनके अनुग्रहकी प्रतीक्षा ही इसका साधन है। प्रतीक्षासे भी बढ़कर है—समीक्षा। क्षण-क्षण और कण-कणमें उनकी कृपाकी समीक्षा कीजिये। देखिये—'कृपाके विलास' लेख।

प्रश्न : अखण्ड प्रकाशस्वरूप पुनरावृत्तिसे रहित भगवान्का धाम कहाँ है ? वहाँ कैसे पहुँचा जाय ?

उत्तर : जहाँ भगवान् हैं वहाँ भगवान्का धाम है। भगवान् आपके हृदयमें ही हैं अतः वही भगवद्धाम है। सर्वत्र भगवान् हैं, सर्वत्र भगवद्धाम

है। श्रीधर स्वामीने कहा है—'स्वधाम हृदयम्'। उसकी प्राप्तिका उपाय है—इन्द्रियोंका उपशम, मौन और तद्विषयक प्रीति। अनुभूति ही उसका स्वरूप है।

प्रश्न : जब इन नेत्रोंसे भगवान्के दर्शन होते ही नहीं तो फिर मन्दिरोंमें लोग किसका दर्शन करने जाते हैं? वह दिव्य नेत्र क्या है जिससे दर्शन होते हैं?

उत्तर : गीताके जिस प्रसङ्गमें यह कहा गया है कि मुझे इन नेत्रोंसे नहीं देख सकते, वह विराट् रूपके दर्शनका प्रसङ्ग है। ये छोटे-छोटे नेत्र विराट्को कैसे देख सकते हैं? ये तो मील-दो मील भी नहीं देख सकते। अणु भी नहीं देख सकते। विराट् रूपके दर्शनके लिए दिव्यदृष्टि अर्थात् एकाग्र मनकी आवश्यकता है।

इसी प्रसङ्गमें चतुर्भुज और द्विभुज रूपके दर्शनका भी उल्लेख है, 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन', 'दृष्ट्वेदं मानुषं रूपम्'—ये रूप इन्हीं नेत्रोंके द्वारा देखे गये हैं। अबतक प्राचीन और अर्वाचीन अनेक भक्तोंको भगवान्के दर्शन हुए हैं। अभी ऐसे अनेक भक्त जीवित हैं जिन्हें इन्हीं नेत्रोंसे भगवान्के दर्शन होते हैं। आप श्रद्धा-भक्तिसे मन्दिर-मूर्तियोंमें भगवान्का दर्शन कीजिये। वह भी विराट्के अवयव हैं। भाव परिपक्व हो जानेपर भगवान्के अनुग्रह से इन्हीं नेत्रोंसे उनके दर्शन हो सकते हैं। यह केवल अनुमान अथवा विश्वास नहीं है, स्वानुभूति है।

प्रश्न : मन पवित्र कैसे हो जबकि मन अन्दर है, पूजा-पाठ बाहर किया जाता है?

उत्तर : बाहरकी वस्तुएँ ही मनके अन्दर फुर-फुरकर उसको अशुद्ध बनाती रहती हैं। अतः जब बाहर पवित्र-पवित्र वस्तुओंसे सम्बन्ध स्थापित किया जायगा तब मनमें वह भी फुरने लगेंगी और मन पवित्र हो जायगा। पवित्र स्फुरणा मनकी पवित्रता है और अपवित्र स्फुरणा उसकी अपवित्रता। मन स्वयं न पवित्र है, न अपवित्र। वह ज्ञानस्वरूप है। न वह कहीं जाता है, न उसमें कुछ आता है। अन्यका सम्बन्ध भ्रममूलक है। बुरेके साथ सम्बन्ध है तो अच्छेके साथ सम्बन्ध जोड़िये। यही जप-तप हैं। यदि अन्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तो कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। विकृतिको दूर करनेके लिए संस्कृति है। स्वरूप अविकृत और असंस्कृत है।

प्रश्न : ज्ञानका अत्यन्त निश्चित और सुलभ साधन कौन-सा है?

उत्तर : ज्ञानसे आपका अभिप्राय ब्रह्मज्ञानसे है। ब्रह्मज्ञानका साधन ऐन्द्रियक ज्ञान, मानस ध्यान अथवा बौद्धविचार नहीं हो सकता। क्योंकि इनको अद्वय आत्म-चेतन्यरूप ब्रह्मका साक्षात्कार होना सम्भव नहीं है। ब्रह्म इनके द्वारा दृष्ट नहीं है और उसका विषय होना शक्य भी नहीं है। अतः ब्रह्मविद्याके द्वारा ही वृत्तिमें उसका आरूढ़ होना सम्भव है। ब्रह्म-विद्या अर्थात् उपनिषद्, पराविद्या, आत्मा और ब्रह्मको एक बतानेवाले उपदेश, चाहे वे किसी भी भाषामें हों, किसीके द्वारा, किसी भी कालमें और देशमें केवल उनमें अखण्डार्थ धी-जननका सामर्थ्य होना चाहिए। वह वृत्ति ही ब्रह्मज्ञानका साक्षात् साधन है। शेष सब परम्परा साधन बहिरंग साधन हैं।

जहाँ तक सुलभताका सम्बन्ध है, श्रेष्ठ और वास्तविक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए कठिन-से-कठिन साधनके लिए तैयार रहना चाहिए। 'मैं बौरी ढूँढ़न चली, रही किनारे बैठ' वाली बात नहीं होनी चाहिए। इससे लक्ष्य-प्राप्तिकी अभीप्सामें शिथिलता सूचित होती है। वैसे एक दृष्टिसे देखें तो जो देश-काल और वस्तुकी दृष्टिसे दूर है, उनकी प्राप्ति कठिन है। आत्मा-ब्रह्म नित्य प्राप्त है। इसकी प्राप्तिके लिए कोई श्रम नहीं, केवल भ्रम मिटाना है।

प्रश्न : ज्ञानीकी पहचान और स्थिति बताइये ?

उत्तर : ज्ञानी स्वयं ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानका अभिमानी नहीं। इसलिए स्वयं ज्ञानी भी अनेकों या दूसरेको ज्ञानीके रूपमें नहीं पहचानता, ज्ञान-स्वरूप आत्मा ही अनुभव करता है। वह कोई लक्षणवान् व्यक्ति-विशेष नहीं है, ब्रह्म है। रही बात जिज्ञासु कैसे पहचाने ? उसे पहले श्रद्धा करनी पड़ेगी। जो उसके अज्ञानको आत्यन्तिक रूपसे निवृत्त कर दे, वही ज्ञानी। अज्ञान निवृत्त होनेपर जिज्ञासु और ज्ञानी एक। विशेष और सामान्य दोनों बाधित। केवल अपना स्वरूप अबाधित।

दूसरोंकी दृष्टिमें चाहे जो भी स्थिति हो, उसका अपना स्व ही है।

प्रश्न : शरीर रहते हुए उसका भान न रहना, व्यवहार करते हुए आसक्त न होना— यह कैसे सम्भव है ?

उत्तर : ज्ञानीका स्वरूप है—भानमात्र अबाधित भासमान। शरीर है बाधित भासमान। शरीरका व्यवहार भी वैसा ही है। ज्ञातरूपसे मिथ्या

भासमानमें आसक्तिका प्रश्न ही कहाँ है ? क्या आकाशकी नीलिमामें आसक्ति है ? सीपकी चाँदीके प्रति आकर्षण है ? भासमानता आसक्ति का हेतु नहीं है, उसमें सत्यत्वकी भ्रान्ति ही आसक्तिका हेतु है।

यह भी विचारणीय है कि क्या आसक्तिसे इतना द्वेष किया जाय कि उसके कारण साक्षात् अपरोक्षतया भासमान वास्तसिक सत्य आत्माकी ब्रह्मताको तिलाञ्जलि दे दी जाय। आसक्ति है तो रहने दो उस बाधितानुवृत्तिकी वच्चीको। तुम एक सत्य हो; एकरस हो।

प्रश्न : सुषुप्ति और जाग्रत्की सन्धि, दो वृत्तियोंकी सन्धि—इनका अनुभव कैसे हो ?

उत्तर : दोनों अवस्थाओं, दोनों वृत्तियों और उनकी सन्धियोंके द्रष्टा आप ही हैं। आप उनसे तटस्थ-कूटस्थ चेतन हैं। आपको कहीं जाने या कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। आप उन्हें देख रहे हैं, देखते रहिये। 'रहना' शब्दका अर्थ कालके पेट में लाता है परन्तु आप कालके भी द्रष्टा हैं। बहिः और अन्तरका भी भेद नहीं है। द्रष्टा शब्द दृश्यको उपस्थित करता है। वह दृश्य कुछ नहीं, दृष्टि है। 'दृष्टि' शब्द से कुछ परिणाम या सम्बन्ध उपस्थित होता है। वह भी कुछ नहीं है। केवल दृङ्मात्र है। ऐसा कहना भी केवल व्यावृत्तिके लिए है। तत्त्वमें अनुवृत्ति-व्यावृत्ति भी नहीं है।

प्रश्न : स्तुति-वन्दनाके मन्त्र पाठ करना तथा ध्यान करना दोनोंमेंसे भक्ति व भगवत्-प्राप्तिके लिए कौन-सा ठीक है ?

उत्तर : ध्यानके लिए जप अधिक उपयोगी है; क्योंकि उसमें एक ही शब्द और भावकी बार-बार आवृत्ति होती है। समझकर पाठ करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। सगुणका ज्ञान होनेसे भक्ति बढ़ती है। निर्गुणका ज्ञान बढ़नेसे पदार्थका शोधन होता है। बिना समझे पाठ करनेपर पुण्य होता है।

पाठमें छः बातोंका ध्यान रखना आवश्यक है—१. गाकर पाठ नहीं करना, २. शीघ्रतासे पाठ नहीं करना, ३. सिर नहीं हिलाना, ४. अपने हाथका लिखा न हो, ५. समझनेका प्रयत्न न छूटे, ६. पाठ मानसिक नहीं होना चाहिए, वह वैखरी वाणीकी एक क्रिया है।

ध्यान भी शब्दके सहारे ही होता है। जो वृत्ति मनको और पदार्थ से हटाकर सुनिश्चित इष्टमें स्थिर करेगी, वह औरोंकी अपेक्षा अलग

करनेके लिए अपने इष्टका एक नाम अवश्य रखेगी। बिना नामके वृत्तिकी आवृत्ति या ध्यान नहीं हो सकता। वस्तुतः ऐसी कोई वृत्ति ही नहीं होती, जिसमें कम्पनात्मक शब्दका अनुगम न हो। इनके लिए एक शब्दकी आवृत्ति और बार-बार तदाकर वृत्ति अपेक्षित है। वन्दनासे इष्टमें महत्त्व-बुद्धि और अपनेमें निरभिमानताका उदय होता है।

प्रश्न : ज्ञानबल व योगबल—दोनोंमेंसे कौन-सा बल बड़ा है ?

उत्तर योगमें आत्मबल और सिद्धियाँ हैं। निष्काम हो तो अन्त-र्मुखता और समाधि है। वह वस्तुमें परिवर्तन करनेमें समर्थ है। वह देरी और दूरी को मिटा सकता है। योग व्यावहारिक बल है। भक्तिमें समग्र बल ईश्वरका है।

ज्ञानमें केवल अज्ञानको निवृत्त करनेका सामर्थ्य है। उसमें कोई व्याव-हारिक बल नहीं है। योग और भक्ति पीतलको सोना बना सकते हैं। परन्तु ज्ञान उस भ्रमको मिटा देता है जिससे मनुष्य पीतलको सोना और सोनाको पीतल समझता है। अद्वितीय परमार्थ-तत्त्वको ईश्वर, जीव, जगत्के रूपमें विभक्त समझना भ्रम है। यथार्थ ज्ञान इसको निवृत्त कर देता है।

प्रश्न : यत्न करने पर भी अन्तर्ज्योति क्यों नहीं दिखाई देती ?

उत्तर : जिसको प्रयत्नका होना और न होना ज्ञात होता है, वही तो अन्तर्ज्योति है। यदि दीखने लगेगी तो वह अन्तर्ज्योति कहाँ रहेगी, बहिर्ज्योति हो जायेगी। जो आकृतियोंको देखती है वह नेत्र-ज्योति है, आकृतियाँ नेत्रज्योतिको नहीं देखतीं। तुम स्वयं अन्तर्ज्योति हो और वेदान्त-जन्य प्रज्ञासे वह ज्योति अद्वय ब्रह्म है।

जब मन अन्तर्मुख होने लगता है तब उसकी वृत्तियोंका वक्रीभवन होता है। जैसे सूर्य-रश्मियोंके टेढ़ी-मेढ़ी होनेपर अनेक रंग बन जाते हैं वैसे ही मनोवृत्तियोंके सिकुड़नेके समय अलौकिक दृश्य दीखने लगते हैं। उनमें मेघगर्जना या वंशीध्वनि हो सकती है और टार्चकी रोशनी भी। भगवान् प्रत्यक्ष आते हुए भी जान पड़ते हैं और हृदय उनके लिए व्याकुल होने लगता है परन्तु यह सब साधनाकी प्रारम्भिक स्थिति है। इसमें टिकाऊपना नहीं होता। भगवान्के दर्शनके समय ही उन्हें पहचान

लेनेपर अनुभव टिकाऊ होता है। उस समय न पहचाननेपर बादमें भाव होनेपर दृढ़ नहीं होता। अलौकिक कर्म देखनेपर भी भगवद्भाव पक्का नहीं होता। व्रजवासी श्रीकृष्णके अद्भुत कर्म देखते थे, जैसे गोवर्धन उठा लेना, परन्तु उनका ईश्वरभाव नहीं बनता था।

कीर्तनके समय भगवद्भावका होना या किसी दुर्घटनासे बच जाना, किसी दूसरेके द्वारा सूचित करना—यह सब भगवान्‌के ही अनुग्रहका लक्षण है। इसपर विचार कर-करके बार-बार भाव-मुग्ध होना चाहिए।

●

: २ :

प्रश्न : क्या अच्छे गुणों और शुभ कर्मोंको करके ही हम अपना जीवन सफल नहीं कर सकते? क्या ईश्वरके बिना हम जीवनका लक्ष्य 'मोक्ष' प्राप्त नहीं कर सकते?

उत्तर : एक सद्‌गुणवती स्त्री है। वह अपना शृङ्गार करती है। सुन्दर है। भोजन भी अच्छा पकाती है। बोलती मधुर है। परन्तु उसके घरमें दूसरा कोई नहीं है। न देखनेवाला, न खानेवाला, न सुननेवाला। दर्पणमें अपनेको देखती है, स्वयं पकाकर खा लेती है और अपनी मधुर वाणीका स्वाद ले लेती है। इसीप्रकार उसका जीवनक्रम चल रहा है। वह अपनेमें सन्तुष्ट है।

उसके जीवनमें एक पुरुषने प्रवेश किया। प्रेम हुआ। विवाह हुआ। वह उसके सौन्दर्यको देखकर आनन्दित होता है। स्वाद ले-लेकर खाता है और रससे बात करता है। अब वह स्त्री शृंगार उसके लिए करती है, खाना उसके लिए पकाती है और उसके लिए मधुर-मधुर बोलती है। अब आप ही बताइये कि उसके लिए जीवनमें रसोस्वादन द्विगुणित हो गया कि नहीं? अपना सौन्दर्य अपने लिए, अपना सद्‌गुण अपने लिए, अपनी वाणीका माधुर्य अपने लिए—इसका क्या अर्थ? जीवनका एक उद्देश्य होना चाहिए। वह किसके लिए होना चाहिए? वह सबके लिए होना चाहिए। सबमें विद्यमान ईश्वरके लिए होना चाहिए। एकके लिए होना चाहिए। निर्बन्ध मधुर-मधुर बोलिये। असीमके लिए रोटी पकाइये। परमेश्वरके लिए शृंगार कीजिये। आपके सद्‌गुणसे वह प्रसन्न नहीं होता

तो आपका जीवन संकीर्ण अनुदीर्ण एवं आत्मलीन हो जायेगा। मोक्ष नहीं होगा। आप अन्तःकरणके एक बिन्दुमें समा जायेंगे, सिन्धुके समान लहरायेंगे नहीं। सद्गुण होने चाहिए अपने आत्मासे अभिन्न, सर्वात्मा परमात्माकी प्रसन्नताके लिए।

आपके मनमें ईश्वर और मोक्ष शब्दके अर्थके सम्बन्धमें कुछ पूर्वग्रह एवं आग्रह हैं। ईश्वर क्या आपसे दूर है? मोक्ष मिलनेमें क्या देर है? सर्वात्मा ही ईश्वर है। संकीर्णता छोड़कर उसके लिए कर्म करना ही आराधना है। जीवनकी धाराका असीम रसरूप हो जाना ही मोक्ष है। अभी, यहीं, यही ईश्वर है, मोक्ष है।

प्रश्न : चंचल मनकी तीव्र गतिको किस प्रकार रोका जाय, जिससे भगवान्के चरणकमलका रसपान करनेमें लग जाय।

उत्तर : एक जंगली हाथी था। वह इतना उद्दण्ड था कि किसीके वश न हो। एक सधी-सधायी हथिनी उसके पास भेज दी गयी। उसके स्पर्श और आकर्षणसे खिचकर वह बन्धनमें आगया और आज्ञाकारी हो गया।

एक बैल था वह हल जोतते समय जुआ, रस्सी—सब तुड़ाकर भाग जाता। उसको एक तेज बैलके साथ जोड़ दिया गया। बैलने उसे थका-कर शान्त कर दिया।

आपका मन चंचल है तो चंचल कृष्णके साथ उसको जोड़ दीजिये। दोनों नाचें, दोनों गायें। पेड़ पर चढ़ें, फल-फूल चुनें, माखन चुराकर खायें। रामचन्द्रके किसी बानरके साथ उसकी मैत्री कर दीजिये। उनके सामने वह चंचलता कर-करके उन्हें रिझाये। अपने मन को शंकरजीका कोई गण भूत-प्रेत बना दीजिये। अच्छा, यह बताइये, आपका मन जब चंचल होता है तब क्या उस समय, उस स्थानपर ईश्वर नहीं रहता? जहाँ मन जाय, वहीं स्थूलताको हटाकर सूक्ष्म दृष्टिसे परमेश्वरको देखिये। मनका विरोध या निरोध ही साधनका मार्ग नहीं है, अनुरोध भी साधनका मार्ग है। पहले आप उसके मित्र बनिये और फिर उसको अपना मित्र बना लीजिये। उसकी शक्तियोंसे लड़िये मत, उनमें अन्तर्यामीको पहचानिये।

●

केवल महावाक्यसे ही ब्रह्मात्मैक्य-प्रमा

आत्माकी परमप्रेमास्पदताके अनुसन्धानसे आनन्दाभिव्यक्ति प्रीति होकर अन्यके प्रति वैराग्य होता है।

आत्माकी स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूपताके अनुसन्धानसे चित्का अनुभव होकर जड़से आत्माका विवेक और उसकी असंगता प्रकट होती है।

आत्माकी कूटस्थ सत्ताका अनुसन्धान करनेसे अन्य असत्का बाध और अभान हो जाता है।

यह बात बिना श्रुति-स्मृतिका आश्रय लिये केवल युक्तिपूर्वक अनुसन्धान करनेसे सिद्ध हो जाती है। परन्तु इस सच्चिदानन्द आत्माकी देश-काल-वस्तु-परिच्छेदसे रहित एवं सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदसे शून्य अद्वितीय ब्रह्मरूपता बिना महावाक्यार्थ अनुसन्धानके नहीं होती। इसलिए ब्रह्मात्मैक्य-प्रमाका जनक केवल महावाक्य ही है। सापेक्षता अथवा भेद जिस अधिष्ठानमें भास रहा है, वह अखण्ड ही है। ज्ञेय-सापेक्ष ज्ञान अथवा ज्ञान-सापेक्ष ज्ञेय दोनों ही स्वयंप्रकाश नहीं हैं। जिससे सापेक्षता प्रकाशित है, जिसमें सापेक्षता प्रकाशित है, जिसमें सापेक्षता अनिर्वचनीय है, जिसमें अनिर्वचनीयता बाधित है, वह प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वितीय ब्रह्म वस्तु वेदान्तैक्यगम्य है।

•

ब्रह्मानुभूतिसे ही प्रपञ्चका मिथ्यात्व

१. वेदान्तसिद्धान्त हृदयङ्गम करनेके लिए यह आवश्यक है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरमें-से अहंभाव निकाल दिया जाय। जब तक जिज्ञासु अपने शरीरमें 'मैं' रखकर जगत्की जाँच-पड़ताल करेगा तबतक वह देहके समान ही ठोस दिखायी पड़ेगा। उसके लिए ज्ञान, प्रतीति या मिथ्या शब्दका प्रयोग सुना सुनाया होगा। उन शब्दोंसे मृत्युभय, अज्ञान और दुःखकी निवृत्ति नहीं होगी। अतएव जिज्ञासुका सबसे पहला काम है कि परिच्छिन्नमें फँसे हुए अहंको विवेकके द्वारा पृथक् करे।

२. यह ध्यान रखने योग्य है कि जो भी परिवर्तनशील, जड या दुःखदायी ज्ञात होता है वह परिच्छिन्न अहंके बलपर ही टिका हुआ है। परिच्छिन्नता दृश्य है और अहं साक्षी। अतएव विवेककी न्यूनताके अतिरिक्त दोनोंके एक समझनेका कोई कारण नहीं है। श्रौतसम्प्रदायका क्रम ही यह है कि पहले अनात्मासे आत्माको विविक्त कर लिया जाये। आकार न सत्का विकार है, न परिणाम। मिश्रण भी नहीं है। आकार सत्-असत् कहने योग्य नहीं है। बदलता है इसलिए सत् नहीं, दीखता है इसलिए असत् नहीं। चित्में जडता नहीं, आनन्दमें भोग नहीं। यह सच्चिदानन्द आत्माका सहजरूप है—अपरिणामी-स्वयंप्रकाश-परमानन्द।

३. आत्मा मृत्युशील, जड, दुःख और परिच्छिन्नतासे विलक्षण तो है ही, सम्पूर्ण देश, काल एवं वस्तुका प्रकाशक स्वप्रकाश भी है। अतएव यह अपरिच्छिन्न ब्रह्म है। श्रौतसम्प्रदायका यह दूसरा क्रम है। इसी सिद्ध वस्तुको समझानेमें वेदान्तोंकी सार्थकता है। जो इस क्रमको छोड़-कर मनमाने क्रमसे ब्रह्मात्मैक्य-बोध प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए वह सम्भव नहीं है।

४. जब आत्माकी ब्रह्मरूप अपरिच्छिन्नताका अनुभव हो जाता है तब ब्रह्मदृष्टिसे ही सम्पूर्ण दृश्यको आँका जाता है—इसका मूल्याङ्कन किया जाता है। यदि ब्रह्मसे अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु हो तो श्रुतिकी यह प्रतिज्ञा पूरी नहीं होती कि एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान होता है। लम्बाई-चौड़ाई, उम्र और वजन भासमान होनेपर भी ब्रह्मदृष्टिसे अकिञ्चित्कर, केवल प्रतीतिमात्र हैं। व्यवहारके लिए इनकी मिथ्या संज्ञा कल्पित की गयी है। व्यवहारके लिए ही स्वयंसिद्ध आत्म-पदार्थकी संज्ञा ब्रह्म है। अपनेको ब्रह्म जान लेनेके बाद ही प्रपञ्चका पृथक् अस्तित्व बाधित होता है। परिच्छिन्नमें 'मैं' रहते प्रपञ्च मिथ्या कदापि नहीं होता। जब अपना देह, अन्तःकरण और बीज मिथ्या होता है तब द्वैतदृश्य केवल प्रतीतिमात्र होता है। सुनी-सुनाई युक्तिसे द्वैतका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता। वह स्वदृष्टि है, ब्रह्मदृष्टि है। द्वैतके मिथ्या होनेका अर्थ ही यह है कि स्वप्रकाश अद्वितीय आत्मब्रह्म ही अन्यके रूपमें हुए बिना वैसा प्रतीत हो रहा है। ब्रह्मातिरिक्त अन्य सत्ता नहीं है।

५. होता है कि हम देह, देहस्थ परिच्छिन्न 'मैं' को ज्यों-का-त्यों रखकर प्रपञ्चका रहस्य समझनेका प्रयास करते हैं। उसमें शून्यदृष्टि तो बन सकती है परन्तु ब्रह्मानुभूति नहीं हो सकती। परिच्छिन्न 'मैं' को 'यह' मालूम पड़ता है। उसे अपने जीवन, ज्ञान और सुखके लिए समष्टिसे सम्बन्ध रखना पड़ता है। अनुकूलमें राग, प्रतिकूलमें द्वेष और पुनः-पुनः प्रतीयमानमें मोह होता है। इन दोषोंका विवेक वैराग्यके द्वारा निराकरण किये बिना परिच्छिन्न देहसे 'मैं' का पृथक्करण नहीं होता। यदि श्रौतक्रमकी प्रथम भूमिका ही ठीक-ठीक प्राप्त नहीं हुई तो शंकराचार्यके द्वारा उपदिष्ट अद्वैत आत्मबोधकी प्राप्ति शक्य नहीं है।

६. कुलका तात्पर्य यह है कि 'मैं' को परिच्छिन्न मानकर प्रपञ्चको मिथ्या समझना विपरीत ज्ञान है। देहातिरिक्त आत्माको ब्रह्मरूपसे जाननें पर ही प्रपञ्च मिथ्यात्वेन प्रतीत होता है। व्यावहारिक सत्ता एकमात्र ब्रह्मज्ञानसे ही बाधित होती है, अन्यथा नहीं।

•

अमत वस्तु ही निर्विवाद है

प्रत्येक मनुष्यकी रति, मति एवं गति परस्पर विलक्षण होती है। वासना, पूर्वप्रज्ञा और कर्मके अनुसार उनका निर्माण होता है। देश-काल-समाज तथा भोगका भी कुछ प्रभाव पड़ता है। जैसे आकृतियाँ पृथक्-पृथक् होती हैं वैसे बुद्धियाँ भी। मति जिस विषयका निश्चय करती है, उसपर अपना रङ्ग डालती है और कुछ उस विषयका भी रङ्ग लेती है। मतिका कर्म ही मत है। मतिकी भिन्नतासे मत भी भिन्न-भिन्न होते हैं। लब्धसमाधि और साक्षात्कृत-भगवत्-तत्त्व महापुरुषोंकी

मति-रति भी एक दूसरेसे विलक्षण होती है। इसलिए दो आचार्योंके मत भी पूर्णरूपसे मेल नहीं खाते। एक आचार्यके अनुयायियोंमें भी प्रस्थान-भेद हो जाता है। परन्तु जो वस्तु मति या विषयका कर्म नहीं है, उसमें मतभेदका स्पर्श नहीं होता। सभी शास्त्रोंके और आचार्योंके अवान्तर तात्पर्यमें भेद होता है, परन्तु परम तात्पर्यमें भेद नहीं होता। निरूपणकी प्रक्रिया ही पृथक्-पृथक् होती है, तत्त्व वस्तु नहीं। उस परम वस्तुके स्वरूप-निरूपणमें ही नहीं, नाममें भी सर्वसम्मति नहीं है। कोई-कोई उसे तत्त्व कहना भी पसन्द नहीं करते। ऐसी स्थितिमें परमार्थको अमत कहना उचित ही है। जैसा कि उपनिषदें कहती हैं।

कर्म-फलमें तारतम्य स्वीकार है। अतः वह अमत नहीं हो सकता। अमत निर्विवाद और अविरोध होता है। उसमें द्वैत और पारोक्ष्यकी कल्पनाका अवसर नहीं है। आत्मासे वह भिन्न हो तो अद्वितीयताकी सिद्धि नहीं होगी। अतः अज्ञाननिवर्तक ज्ञान ही एकमात्र शरण है। अज्ञानका नाम चाहे कुछ भी रख लो। प्रमाद, अविद्या, मिथ्याज्ञान, अविवेक, भ्रान्ति, विस्मृति, वैमुख्य—ये सब एक ही तराजूके चट्टे-बट्टे हैं। इनकी निवृत्ति होनी ही चाहिए। मतिके अनुसार मत, युक्तिके अनुसार प्रक्रिया, अधिकारीके अनुसार साधना और प्रमेयके अनुसार प्रमाण होता है। जो अपने प्रमेयके साक्षात्कारका करण है, वही प्रमाण है। जो अपने प्रमेयके साक्षात्कारमें समर्थ नहीं है, वह प्रमाणाभास है। इसीसे प्रमाणके साथ-साथ लक्षण-ज्ञान भी अभीष्ट होता है। परोक्ष स्वर्गादि और अपरोक्ष किन्तु अज्ञात आत्मस्वरूप, वाक्य द्वारा लक्षण-ज्ञानकी अपेक्षा रखते हैं। एकमें श्रद्धा प्रधान है और दूसरेमें अनुभव। अनुभव-पर्यवसायी न होनेपर प्रमाण और प्रमेयका निर्धारण ही व्यर्थ हो जाता है। उनकी यथार्थता ही अनुभवकी कसौटीपर सिद्ध होती है।

बृहदारण्यक : एक दृष्टि

वेदका रहस्य है——वेदान्त। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि रहस्यके साथ वेदका अधिगम प्राप्त करना चाहिए।[1] साथ ही बारहवें अध्यायमें यह भी कहा गया है कि अपने लिए विहित कर्मका परित्याग करके भी आत्मज्ञान, शम और उपनिषदोंका अभ्यास करना चाहिए[2]। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मज्ञान-प्रतिपादक वेदान्त एक रहस्य है और इसका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है, किन्तु अवश्य कर्तव्य है।

दध्यङ् आथर्वण ऋषि ब्रह्मवित् महापुरुष थे। ब्रह्मविद्याके रहस्यात्मक रूपके संरक्षणके अभिमानी इन्द्रने उनसे कहा कि इस ब्रह्मविद्याका उपदेश किसी दूसरेको करोगे, तो मैं तुम्हारा सिर काट लूँगा। कर्मेन्द्रिय हस्तके अधिष्ठाता एवं कर्माराध्य देवता इन्द्रके लिए इस प्रकारका गोपन-विधान अस्वाभाविक नहीं था। कर्मठ लोग प्रायः कर्मबन्धनसे मुक्ति दिलानेवाली विद्याका प्रचार-प्रसार नहीं चाहते हैं।

---

१. तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥ (मनु० २,१६५)

२. यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥ (मनु० १२.९२)

एक वार देवताओंके चिकित्सक अश्विनीकुमार महर्षि दध्यङ् आथर्वणके पास उपस्थित हुए और उन्होंने प्रार्थना की कि हमें ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये। महर्षिने कहा कि उपदेश करनेपर इन्द्र मेरा सिर काट लेगा। अश्विनीकुमारने निवेदन किया आप इन्द्रसे सर्वथा भय न करें। हम लोग उपदेशके समय आपका सिर काटकर अलग रख देंगे और आपकी धड़पर अश्वका सिर जोड़ देंगे। जब इन्द्रको पता चलेगा और उपदेश के अनन्तर आकर वह सिर काट देगा, तो हम पुनः आपका असली सिर आपके धड़के साथ जोड़ देंगे। महर्षिने वैसा ही किया। अश्वसिरसे ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। ज्ञात होनेपर इन्द्रने वह घोड़ेका सिर काट दिया तथा अश्विनीकुमारने उनका पहलेका सिर ज्यों-का-त्यों जोड़ दिया। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या एक रहस्य है, देवताओंके लिए भी दुर्लभ है। प्रवचनका अहं लौकिक नहीं है। अहंकारका निरास करके ही इसका उपदेश होता है। यह विद्या कर्मक्षेत्रके अन्तर्गत नहीं है उससे विलक्षण है।

बृहदारण्यक उपनिषद् आठ अध्यायोंमें विभक्त है। प्रथम और द्वितीय अध्याय प्रवर्ग्य कर्मके अंग हैं, तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायमें मधुविद्या और उसके आचार्यवंशका वर्णन है। पञ्चम, षष्ठ अध्याय मुनिकाण्ड अथवा याज्ञवल्क्यकाण्डके नामसे प्रसिद्ध हैं। इसमें जल्पकथा या वादकथाके रूपमें मधुविद्याका ही विस्तार किया गया है। सातवें, आठवें अध्यायका नाम खिलकाण्ड है और इसमें श्रीमन्थ, पुत्रमन्थ आदि कुछ उपासनाओंका तथा पूरी उपनिषद्के आचार्यवंशका वर्णन है। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् शब्दरूपसे एवं अर्थरूपसे भी बृहद् है। अरण्यमें अध्ययन करनेके कारण इसे आरण्यक कहते हैं।

जनक याज्ञवल्क्यके सम्वादमें एक अद्भुत प्रसंग आता है। जनक कहते हैं महाराज, मैं आपको एक सहस्र और दूँगा। मुझे केवल मोक्ष प्राप्तिके लिए ही उपदेश कीजिये। बात यह है कि मोक्षके लिए जिन प्रश्नोंका उत्तर देना था, याज्ञवल्क्य उन सबका निर्णय कर चुके थे। अब किसी भी जिज्ञासाका समाधान करना शेष नहीं था। अन्तिम प्रश्नपर याज्ञवल्क्य संकोच-भयसे ग्रस्त हो गये। यहाँ याज्ञवल्क्यके भयभीत होनेका निरूपण क्यों है? इसलिए नहीं कि वे इस प्रश्नका उत्तर जानते नहीं थे। इसलिए भी नहीं कि उनमें प्रवचनका सामर्थ्य नहीं था। उन्होंने

देखा कि मेरे सब उपदेशोंका मूल्यांकन किया जा रहा है, सबकी कीमत चुकायी जा रही । मैंने मोक्षके लिए जो-जो उपदेश किया उसको यह सहस्र दक्षिणाके बदलेमें डाल रहा है। यह तो काम-प्रश्न और काम-उत्तर हुआ। राजा परम मेधावी है। यह पहलेसे ही ब्रह्मको जानता है। इसने मुझे सहस्र दानके घेरेमें अवरुद्ध कर दिया। आगे उपदेश करेंगे तो वह भी इसी कक्षामें निक्षिप्त हो जायगा। अतः वे भयभीत हो गये। उपनिषद्की इस आख्यायिकाका अभिप्राय यह है कि मोक्षके लिए उपयोगी सभी प्रश्नोंका निर्णय इसमें कर दिया गया है। अब ब्रह्मात्मैक्य-बोधके लिए कुछ भी पूछना या बतलाना आवश्यक नहीं। याज्ञवल्क्यके भयमें तात्पर्य नहीं है उपनिषद्की पूर्णतामें तात्पर्य है। सचमुच ब्रह्मज्ञान-का वक्ता आश्चर्य है और उसको प्राप्त करनेवाला भी आश्चर्य है।

लौकिक युक्ति तर्कशास्त्र अथवा कर्मप्रतिपादक वेदराशिके द्वारा आत्माके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। वह केवल उपनिषदोंके द्वारा ही सम्पन्न होता है। यह सिद्धान्त सर्ववेदान्तसम्प्रतिपन्न है। भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने समन्वयसूत्रकी व्याख्यामें कहा है—प्रश्नोत्तरके रूपमें।

प्र०—यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि आत्मविज्ञान केवल उप-निषदोंके द्वारा ही होता है क्योंकि आत्मा अहंप्रत्ययका विषय है। अहं-अहंके रूपमें उसका अनुभव होता है।

उत्तर—आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा अहं-प्रत्ययका विषय नहीं साक्षी है। चाहे कोई कोटि यत्न करे कर्मशास्त्र या तर्कशास्त्र-के द्वारा आत्माका अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि वह अहं-प्रत्ययके विषय और कर्तासे विलक्षण साक्षी तो है ही साथ ही वही सर्वभूतस्थ, सम, एक, कूटस्थ, नित्य है। सबका आत्मा वही है। उसका विज्ञान अन्य रीतिसे नहीं हो सकता।

बृहदारण्यक ५.९.२६ में याज्ञवल्क्यके मुखसे स्पष्ट कहा है **तं त्वौप-निषदं पुरुषं पृच्छामि** उपनिषदोंमें प्रतिपादित होना ही औपनिषदत्व है। महान् विद्वान् शाकल्य भी इस पुरुषका ज्ञान न होनेके कारण याज्ञ-वल्क्यसे पराजित हो गये।

मधुकाण्ड आगमप्रधान है। वह प्रत्यगात्मासे अभिन्न ब्रह्मस्वरूपका बोध कराता है। मुनिकाण्ड उपपत्तिप्रधान है। दोनोंमें ही अन्तमें संक्षिप्त-

रूपसे वेदान्तार्थका उपसंहार किया गया है। मधुब्राह्मणके अन्तमें श्रुति है—

तदेतद् ब्रह्म अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः इत्यनुशासनम्। बृ ४.५.१९

इसमें अनुशासन शब्दका अर्थ है वेदान्त का सार-सार उपदेश। यह उपदेश क्या है ? ब्रह्म कारणरहित है, कार्यरहित है उसमें कोई दूसरी वस्तु नहीं है, उसमें बाहर भी कुछ नहीं है। वह ब्रह्म क्या है ? प्रत्यगात्मा, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, सर्वानुभवस्वरूप है। वह सर्वात्मना सर्वका अनुभव करता है। वह ब्रह्म कार्य-कारणसे विनिर्मुक्त एकरस पूर्ण प्रत्यगात्मासे अभिन्न है। उपनिषद्ने स्वयं निजमुखसे ही इस प्रकार सर्व-वेदान्तका सार बताया है।

मुनिकाण्डमें छठे अध्याय चतुर्थ ब्राह्मणके अन्तमें यह मन्त्र है——

स वा एष महानज आत्मा अजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म अभयं वै ब्रह्म, अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद। बृ० ६.४.२५.

आत्मा जन्म, जरा, मृत्यु आदिसे रहित अविद्यादिके कार्यरूपसे मुक्त साक्षादभय ही है। ब्रह्मात्मैक्य-विज्ञान होनेपर विद्वान् पुरुष अभय ब्रह्म ही हो जाता है। इस प्रकार बृहदारण्यकका सार-संग्रह उपसंहारके रूपमें किया गया है। भाष्यकारने यह बात इस प्रसंगमें स्पष्ट कही है।

छठे अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मणमें ही आत्माको विज्ञानमयरूपमें जीव कहकर फिर **सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः** कहा गया है उसकी महत्ता असंसारीरूप समझानेमें ही तात्पर्य है। असंसारी क्यों है ? ईशान क्यों है ? स्पष्ट कहा है कि उसमें कर्मका लेप नहीं है। कर्मसे उसकी वृद्धि या ह्रास नहीं होता।

उपनिषद्में कहीं-कहीं यह शैली अपनायी गयी है कि परमात्माने जीवरूपसे प्रवेश किया। यह कहनेका अभिप्राय भी यही है कि परमात्मा आत्मासे अभिन्न ही है। वह अपने द्वारा बनाये गये कार्य देहादिमें जैसे क्षुर क्षुरधानीमें नखसे शिखातक व्याप्त है वही प्राणन क्रिया करके प्राण होता है। देखनेसे उसीका नाम चक्षु होता है। सुननेसे उसीका नाम श्रोत्र होता है। कहीं-कहीं निरूपणकी ऐसी प्रणाली भी देखनेमें आती है कि परमात्माके प्रसंगमें जीवात्माका निषेध कर दिया जाता है।

नान्योतोऽस्ति द्रष्टा नान्योतोऽस्ति श्रोता। बृ० ५. ७.२३

श्रुति कण्ठरवसे ही कह रही है कि परमात्माके सिवा कोई द्रष्टा, श्रोता नहीं है। अक्षर ब्राह्मणका भी यही स्वर है। परमात्मासे अतिरिक्त द्रष्टा, श्रोता नहीं है।

लयप्रतिपादनके द्वारा भी उपनिषद्में निर्विशेष ब्रह्मके स्वरूपके अधिगमकी प्रक्रिया है। इन्द्र-इन्द्राणीके प्रसंगका वर्णन करके विश्व-वैश्वानरका तैजस-सूत्रात्मामें और उसका प्राप्त कारणात्मामें तथा कारण आत्माकी 'नेति-नेति' इस निषेधके द्वारा निर्विशेष ब्रह्मरूपता बतायी गयी है। निश्चय ही यह ब्रह्म न किसीका कार्य है न कारण। यह भी अद्वितीय ब्रह्मके निरूपणकी एक विद्या है।

दूसरे स्थानपर अशेषविशेषोंका निषेध करके निर्विशेष आत्मतत्त्वका निरूपण किया गया है। वस्तुतः वही सभी वेदान्तोंका परम तात्पर्य है। अक्षरतत्त्वका स्वरूप क्या है? ब्रह्मज्ञानी पुरुष इसका सर्वतोमुखी उद्घोष करते हैं। वह न स्थूल है न अणु। ह्रस्व, दीर्घ, लोहित भी नहीं है। स्नेह, छाया, तम उसका स्पर्श नहीं करते। न उसमें वायु है न आकाश। वह असंग, अरस एवं अगन्ध है। नेत्र, श्रोत्र, वाक् मन उसमें नहीं है। तेज, प्राण, मुख और मात्राकी कल्पना भी नहीं है। वह बाह्यान्तरशून्य है। न वह किसीका भोक्ता है न तो भोग्य।[1]

आप देखेंगे कि बृहदारण्यक उपनिषद्में एक ही वाक्य अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। वह वाक्य सम्पूर्ण विशेषोंका निषेध करता है। यह ब्रह्म-रूप आत्मा 'नेति-नेति' के द्वारा बोधित होता है। यह अगृह्य है किसीके द्वारा ग्रहणका विषय नहीं होता। यह शीर्ण-विशीर्ण नहीं होता। यह असंग है। सक्त नहीं होता। न इसमें बन्धन है, न व्यथा है, न व्यय है। यह वाक्य उपनिषद्[2] (५. ९. २६, ६.२.४, ६.३.२२, ६.५.१५) में अभ्यस्त है। केवल पाँचवें और छठे अध्यायोंमें इनका इतनी बार दुहराया जाना

---

१. स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति, अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घम-लोहितमस्नेहमच्छायतोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागम-नोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्य न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन। (५.८.८) बृ०।

२. 'स एष नेति नेत्यात्मा अगृह्यो न हि गृह्यते अशीर्यो न हि शीर्यते, असङ्गो न हि सज्यते असितो न व्यथते न रिष्यति।

उपनिषद्का इस सिद्धान्तमें अत्यन्त आग्रह प्रकट करता है। चौथे अध्यायमें तो यहाँतक कहा गया है कि विशेषोंके प्रतिषेधके अतिरिक्त ब्रह्मका उपदेश है ही नहीं।

अथातो आदेश नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति। बृ० ४.३.६

निषेधकी इतनी स्फुटता, तत्त्वज्ञानके लिए उसपर इतनी निर्भरता औपनिषद-सिद्धान्तकी अपूर्वताका ही द्योतक है। निश्चय ही उपनिषद्के बिना इस सिद्धान्तका साक्षात्कार नहीं हो सकता।

मैत्रेयी ब्राह्मण मधुकाण्डके चतुर्थ अध्यायमें है और मुनिकाण्डके छठे अध्यायमें भी है। एक ही ब्राह्मणका दो बार होना अभ्यासके द्वारा तात्पर्यका निश्चायक है। षष्ठाध्याय सम्पूर्ण अर्थका दृढ़ निश्चय कर देता है। मधुकाण्ड आगम है। याज्ञवल्क्य काण्ड उपपत्ति है। छठे अध्यायमें उपसंहार है।

आइये, अब मैत्रेयी-ब्राह्मणके सार-संक्षेपकी एक झलक देखिये। महर्षि याज्ञवल्क्य गृहस्थाश्रम छोड़कर संन्यासाश्रममें प्रवेश करना चाहते हैं। उनकी दो पत्नी थीं मैत्रेयी और कात्यायनी। उन्होंने मैत्रेयीसे कहा—'आओ तुम्हारी धन-सम्पदाका विभाजन कर दें।' मैत्रेयी धनार्थिनी नहीं थी अमृतत्वकी लालसासे परिपूर्ण थी। उसने प्रश्न किया—'यदि सारी सम्पदा मुझे मिल जायेगी तो क्या मैं अमृत अर्थात् मुक्त हो जाऊँगी?' याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—'जैसा धन-सम्पन्न भोगी मनुष्योंका जीवन होता है वैसा ही तुम्हारा भी हो जायेगा। धन-सम्पदासे अमृतत्व-प्राप्तिकी आशा नहीं है। यदि धनसे सम्पन्न होनेवाले कर्मोंके द्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति हो सकती तो उससे अमृतत्वकी आशा की जा सकती थी। अमृतत्व कर्मका फल नहीं है। अमृतत्व सिद्ध वस्तु नहीं है और वह केवल ज्ञानसे ही मिलता है। कर्ममें सामग्री, सहायक, करण, अधिकार, कर्तृत्व आदि-की अपेक्षा होती है। यह सब ज्ञानके विरोधी हैं। कर्म और ज्ञान एकसाथ नहीं रह सकते।' यह उत्तर सुनकर मैत्रेयीने कहा—'मुझे धनसे कोई प्रयोजन नहीं है। मुझे तो आप वही बतलाइये जो आप जानते हैं और जिससे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है।' मैत्रेयीकी वह तीव्र मुमुक्षा और जिज्ञासा ही याज्ञवल्क्यके उपदेशकी प्रेरणास्रोत बनी।

महर्षिने कहा पत्नी आदि सम्बन्धी अपने पति आदि सम्बन्धियोंसे प्रेम करते हैं। किसलिए प्रेम करते हैं? क्या जिससे प्रेम करते हैं उसके

प्रयोजनकी सिद्धिके लिए ? नहीं-नहीं अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिए। यह सभी जानते हैं कि अपने मनके अनुसार करनेवालेसे जितना प्रेम होता है उतना अपने मनके प्रतिकूल करनेवालेके प्रति नहीं होता। वस्तुतः किसीका किसीसे प्रेम निष्कपट या निष्काम नहीं होता। निरुपाधिक प्रेम केवल अपने आत्मासे ही होता है। अतः अनात्मासे विरक्त होना चाहिए और जिस आत्मासे साक्षात् प्रेम है उसका दर्शन : साक्षात्कार करना चाहिए। आत्मसाक्षात्कारके लिए उपनिषदर्थका श्रवण, युक्तियोंसे चिन्तन और निदिध्यासन करना चाहिए। आत्माके सिवाय और कुछ भी द्रष्टव्य नहीं है। वै शब्दका यही अर्थ है।

आत्माका ही दर्शन क्यों करना चाहिए ? क्योंकि आत्माके दर्शन अर्थात् ज्ञानसे सब कुछका ज्ञान हो जाता है। जैसे आरोपित सर्पका तत्त्व रज्जु ही है वैसे ही नाम-रूपात्मक जगत्का पारमार्थिक तत्त्व आत्मा ही है। जैसे रज्जुतत्त्वका ज्ञान होनेपर सर्पको असलियतका पता चल जाता है कि वह कुछ नहीं है इसी प्रकार आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण जगत्का तत्त्व ज्ञात हो जाता है। अतः केवल आत्मा ही द्रष्टव्य है उससे अतिरिक्त जगत् द्रष्टव्य नहीं है।

ऐसा क्यों ? इसलिए कि जो आत्मा अतिरिक्त अपनेको ब्राह्मण, देवता आदिके रूपमें जानता है वह ब्रह्मात्मारूप अमृतसे च्युत हो जाता है। सचमुच ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, वेद, भू ये सब आत्मा ही हैं। इन सबका आत्माके साथ सामानाधिकरण्य होनेके कारण वस्तुतः आत्मा ही सत्य है वही सबका तत्त्व है। जैसे कल्पित सर्प, माला, दण्ड, धारा, भूच्छिद्र आदिका तत्त्व रज्जु ही है वैसे ही कल्पित देश, काल आदि पदार्थोंका तत्त्व आत्मा ही है।

उपनिषद्में अनेक दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया है कि यह प्रपञ्च चिदात्मासे पृथक् नहीं है। बात यह है कि जिसका ग्रहण किये बिना दूसरी वस्तुका जब ग्रहण नहीं होता है तब दूसरी वस्तु पहलीसे पृथक् नहीं होती। उदाहरणके लिए जैसे दुन्दुभि बज रही है यदि शब्दसामान्यका ग्रहण नहीं होगा तो ताल-स्वर आदिसे युक्त शब्दविशेषका भी ग्रहण नहीं होगा। इसलिए शब्दविशेष शब्दसामान्यसे पृथक् नहीं है। इसी प्रकार यह नामरूपात्मक जगत् चिद्-वस्तुके ग्रहणके बिना गृहीत नहीं होता। अतएव यह चिदात्मासे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जब हम कोई

रूप देखते हैं तो पहले प्रकाश देखते हैं बादमें रूप एवं आकृति। इसी प्रकार चिदात्माके पूर्वसिद्ध होनेपर ही नामरूपात्मक प्रपञ्चका दर्शन होता है। अतः चिदात्मासे अतिरिक्त कुछ नहीं है।

जैसे हम इंधन इकट्ठा करते हैं कुछ सूखा, कुछ गीला। अग्निके संयोगसे धुआँ उठता है, चिन्गारियाँ छिटकती हैं इसी प्रकार परमार्थ आत्मासे श्वासोच्छ्वासके समान अनायास ऋग्वेदादि नाम और लोक-परलोक प्रभृति उत्पन्न होते हैं। छोटी-छोटी चिन्गारियोंका उपादान प्रथमतः अग्निमात्र ही ज्ञात होता है। बादमें चिन्गारियाँ। क्या वे अग्निरूप ही हैं या उससे पृथक् ? उनका अग्नितत्त्वके रूपमें या पृथक् तत्त्वके रूपमें निर्वचन नहीं किया जा सकता। वे अनिर्वचनीय हैं। उन्हींके समान परमार्थ-तत्त्वसे चिटकती एवं छलकती हुई चिन्गारियोंके समान यह कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड तत्त्व या अतत्त्वके रूपमें निर्वचन करने योग्य नहीं है। प्रलयके समय भी नामरूपात्मक प्रपञ्चका उसी परमार्थमें लय दिखानेके लिए जल-समुद्रका दृष्टान्त है जैसे बादलोंसे बरसा हुआ, पहाड़ोंसे बहा हुआ, अनेक नदियोंमें छलकता हुआ जो राशि-राशि जल प्रवाहित होता रहता है वह समुद्रमें ही जाकर समा जाता है—ठीक ऐसे ही अनेक नाम और रूप धारण करके यह प्रपञ्च चाहे जितना भी छलके अन्ततः आत्मतत्त्वमें ही समा जाता है। अतः उपनिषद्में ठीक ही यह घोषणा की है कि—**इदं सर्वं यदयमात्मा**। जो कुछ इदंताक्रान्त दृश्यमान पदार्थ है वह अन्य नहीं है साक्षादपरोक्ष अपना आत्मा ही है।

नित्य, नैमित्तिक अथवा प्राकृत प्रलयकी बात छोड़ दें जब ब्रह्मात्मैक्य-विद्याके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति होकर जगत्का आत्यन्तिक प्रलय होता है जिसे मोक्ष कहते हैं तब अद्वितीय आत्माके अतिरिक्त और किसी भी पद-पदार्थका यथार्थ होना सम्भावित नहीं हो सकता। इसीसे उपनिषद्की गर्जना है 'आत्मा अनन्तर है, अबाह्य है' अर्थात् उसके बाहर-भीतर कुछ नहीं है। कृत्स्नः प्रज्ञानघनः सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है। सूत्रने **तन्मात्रम्** कहा है।

उपनिषद्ने दृष्टान्त दिया है कि समुद्रका जल, मिट्टी और उष्णताके संयोगसे कठिन हो जाता है और सैन्धव लवणके रूपमें सेंधा नमकका एक टुकड़ा बन जाता है। जब उसे पानीमें डाल देते हैं तब पुनः कारण-सम्पर्कसे उसकी कठिनता मिट जाती है। सैन्धव-खण्ड विलीन हो जाता है जलमात्र रह जाता है। जैसे जलराशिसे सूर्य-चन्द्रादिके प्रतिबिम्ब

दीखने लगते हैं इसी प्रकार फेन बुलबुले आदि कार्यकारणके संघातसे चेतनमें खण्डभाव अर्थात् जीवभाव दीखने लगता है। तब विशिष्ट-विशिष्ट रूपोंको लेकर विशेष-विशेष नाम भी पड़ जाते हैं। फिर ऐसा लगता है जैसे मैं अमुक गोत्र अमुक पिताका पुत्र-परिच्छिन्न हूँ। जब शास्त्र शास्त्राचार्यके उपदेशसे ब्रह्मविद्याका उदय होता है तब निश्चय हो जाता है कि यह कार्यकरण संघात अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठान ब्रह्ममें मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है। अर्थात् भूत-भौतिक सृष्टि प्रतीतिमात्र है। जैसे जलका विलय होनेपर तन्निमित्तक चन्द्र-सूर्यादि प्रतिविम्बका भी लय हो जाता है वैसे ही चेतनका जीवभाव निवृत्त हो जाता है। प्रतिबिम्बकी निवृत्ति होनेपर जैसे परमार्थ चन्द्र-सूर्य रह जाते हैं वैसे ही जीवभावकी निवृत्ति होनेपर क्योंकि निमित्त ही बाधित हो गया है—परमार्थ ब्रह्म ही रह जाता है। इसीको श्रुतिमें प्रज्ञानघन कहा है। यह सर्वथा स्वच्छ एवं अद्वितीय है। याज्ञवल्क्यके प्रवचनका उपसंहार है अद्वितीय प्रज्ञानघन। इसके पश्चात् यह कहना कि मरनेके अनन्तर संज्ञा नहीं है यह संज्ञासामान्यका निषेध कुछ असंगत-सा लगता है। अतएव मैत्रेयीने प्रश्न किया—'भगवन्! ऐसा कहकर तो आपने मोहमें डाल दिया' ६.५.१४.। याज्ञवल्क्यने कहा—'अरी मैत्रेयि! मैं मोहमें नहीं डाल रहा हूँ यह आत्मा तो अविनाशी है इसका कभी उच्छेद नहीं होता।

अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा।

मैंने संज्ञासामान्यका निषेध नहीं किया। विशेष संज्ञाका ही निषेध किया है। बात यह है कि परिच्छिन्न भाव रहनेपर ही विशेष विज्ञान होता है। तब द्वैत-सा रहता है। कर्ता अन्य होता है। अन्य करणके द्वारा अन्य कर्म रूप, आदि देखता है। जब ब्रह्म-विद्यासे खण्डभावकी निवृत्ति हो जाती है—परिच्छिन्नता मिट जाती है तब जैसे रज्जुतत्त्वका परिज्ञान होनेपर आरोपित सर्प आदि मिट जाते हैं ठीक वैसे ही अधिष्ठानमात्र शेष रह जाता है वही आत्मा ब्रह्म है। ब्रह्म-विद्यासे सभी द्वैत आत्ममात्र हो जाता है। द्वैत न होनेसे क्रिया, कारक आदि भेदकी सम्भावना ही नहीं रहती। **यत्र ही द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत्केन कं पश्येत्**। ६.५.१५। यह कहना भी शक्य नहीं है कि द्वैतरूप विषयके अभाव होनेपर भी अपने आत्माको ही देखता है क्योंकि आत्मा स्वप्रकाश है। उसमें प्रकाश्य-प्रकाशकका भेद नहीं है।

जिससे सबका विज्ञान होता है उसका विज्ञान किसके द्वारा होगा ? अतः परिच्छिन्न भावकी निवृत्ति होनेपर निर्मल प्रज्ञान भाव ही शेष है ।

चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ अध्यायमें अत्यन्त स्पष्टरूपसे यह निरूपण किया गया कि आत्माके ज्ञानकी प्रक्रिया है—नेति-नेति । वह अगृह्य है, अशीर्य है, असंग है, असित है, व्यथा और व्ययसे मुक्त है । इसके अतिरिक्त अमृतत्वका दूसरा कोई साधन उपदेश करने योग्य शेष नहीं रहता है । याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीसे यह कहकर 'अनुशासन उपदेश पूर्ण हो गया' स्वयं संन्यासाश्रम स्वीकार कर लिया ।

अच्छा; तो अब एकबार पुनः बृहदारण्यकका सिंहावलोकन कीजिये । **अहं ब्रह्मास्मि** यह ज्ञान अमृतत्वका साधन है, भेदज्ञान अथवा भेदभ्रम आविद्यक है । ब्रह्म सच्चिदानन्दघन है । उसके ज्ञानसे भी ब्रह्मत्व होता है । ब्रह्मज्ञान केवल व्यवधानको ही निवृत्त करता है । कोई नवीन विज्ञान या आनन्द नहीं देता । अतएव अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष है । वह नित्य है । ज्ञानसे ही मोक्ष होनेके कारण पहले या पीछे ज्ञानका कर्तव्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । ब्रह्मात्मैक्यबोध-समकाल ही मुक्त हो जाता है । बृहदारण्यकमें इसी औपनिषद सिद्धान्तका असंदिग्ध निर्णय हुआ है ।

आत्मेत्येवोपासीत ३.४.७ यहाँसे ब्रह्मज्ञानका उपक्रम हुआ । व्याख्याके लिए विस्तार हुआ । कहा गया कि जो ब्रह्मविद्यासे अपनेको ब्रह्म जान लेता है वह सर्व हो जाता है ३.४.९ । पहले भी ब्रह्म ही था, आत्मा भी ब्रह्म ही है, मैं ही ब्रह्म हूँ ३.४.१० यह सर्वभाव, पूर्णभाव या ब्रह्मभाव ही मोक्ष है । यह होता है ज्ञानसे । स्पष्ट है कि अपूर्णता अज्ञानकृत है । ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर नित्यप्राप्तकी प्राप्ति-सी होती है जैसे भ्रान्तिसे खोया हुआ गलेका हार भ्रान्ति मिटनेपर मिला हुआ ही मिलता है । निश्चय है जब ज्ञानसे ही अब्रह्मताकी निवृत्ति होती है तो अब्रह्मता आविद्यक एवं मिथ्या है । भेदज्ञानी पशु है ३.४.१० । वामदेवके प्रसंगका यही तात्पर्य है ३.४.१० । ब्रह्मात्मदर्शन एवं सर्वात्मभाव समानकालिक हैं । बीचमें कोई दूसरा कर्त्तव्य नहीं है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि आत्माकी पूर्णता ही अर्थात् अद्वितीयता ही उपनिषदोंका निरुत्तर सिद्धान्त है और इसीमें उनका तात्पर्य है ।

राजा प्रतर्दनकी मुक्ति

एक था राजा। उसका नाम था प्रतर्दन। वह दिवोदासका पुत्र था। उसने अपनी वीरता-धीरता और सौजन्यसे इन्द्रको प्रसन्न कर लिया। इन्द्रने कहा—'राजन्! वर माँगो।' प्रतर्दनने कहा—'मैं अपनी बुद्धिसे वर नहीं माँगूँगा। आप स्वयं चुनकर वर दीजिये जो समग्र मनुष्य-जातिके लिए हिततम हो।' इन्द्रने विचार किया कि प्रतर्दनने जो 'हिततम' शब्दका प्रयोग किया है—इसका अभिप्राय क्या है? मर्त्य-लोकके सुखसे श्रेष्ठ होनेके कारण स्वर्गसुखका नाम 'हित' है। उसकी प्राप्तिमें यज्ञ-यागादिरूप परिश्रम करना पड़ता है। फल भी परिश्रमके अनुरूप ही मिलता है। अतः स्वर्गसुखरूप हितसे बढ़कर उसका वैराग्य है। उसको 'हितकर' कहेंगे; क्योंकि उसमें न कोई परिश्रम है, न वस्तु, न मन्त्र आदिकी अपेक्षा है, न परतन्त्रता है। परन्तु वैराग्यमें भी दोष-दृष्टि करनी पड़ती है। उसमें आयास नहीं है तो आनन्दानुभूति भी नहीं है। मनमें निवृत्तिका भाव तो रखना ही पड़ता है। अतः उससे भी श्रेष्ठ है आत्मबोध अपने आत्माका ज्ञान। उससे नित्यानन्दकी अनुभूति निरा-वरण हो जाती है। इसलिए प्रतर्दनने जो 'हिततम' शब्दका प्रयोग किया है उसका अर्थ आत्मज्ञान ही है। प्रतर्दन आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहता है। फिर यह कहता है हिततमका निश्चय करके बतलाओ। अवश्य ही यह जिज्ञासु है। इन्द्रने अपने मनमें यह सब विचार करके प्रतर्दनसे कहा—'मामेव विजानीहि' अर्थात् मुझे ही जानो।'

इस वचनपर विचार होता है। इन्द्रने कहा—'मुझे ही जानो।' 'अस्मत्' शब्दका एक ही रूप है। 'माम्' अर्थात् मुझे। इस 'अस्मत्' शब्दका प्रयोग दो प्रकारसे देखा जाता है—'मैं सहस्राक्ष इन्द्र हूँ', 'मैं सहस्राक्ष शरीरवाला इन्द्र हूँ' अर्थात् यह शरीर मेरा है। 'मैं' शब्दका अर्थ शरीर है और शरीरका स्वामी भी है। जिन आँखोंसे शरीर देखा जाता है उन आँखोंसे उसका स्वामी नहीं देखा जाता। परन्तु 'मेरा शरीर' इस प्रयोगसे यह अनुमान हो जाता है कि इसमें एक सूक्ष्म शरीर है। व्यवहारमें सूक्ष्म-शरीरयुक्त स्थूलशरीरको 'मैं'-'मेरा' कहा जाता है।

यह बात एक अल्पबुद्धि भी समझ सकता है। ऐसी अवस्थामें 'मैं को जानो, मुझे जानो' इस वाक्यका अर्थ क्या होना चाहिए ? कुछ ऐसा होना चाहिए इसका अर्थ जो साधारण व्यवहारमें नहीं समझा जाता। अवश्य ही वह स्थूल-सूक्ष्मसे विलक्षण अलौकिक आत्मा होगा।

यदि यह प्रश्न करो कि उसके विज्ञानका क्या फल है तो सुनो। तत्त्वज्ञानका फल है—दुःख सम्बन्धराहित्य। अतएव ज्ञान ही हिततम है; क्योंकि उसमें किसी प्रकारका दुःख शेष नहीं रहता। यदि इन्द्रका 'मैं' सहस्राक्ष-रूप होता तो उसमें रोगादिका भय अवश्य होता। यदि इन्द्रका 'मैं' सूक्ष्म देह होता—स्थूल शरीरका संचालक, तो उसमें पुण्य-पापके भय भी लगे होते, परन्तु इन्द्रको विश्वरूपका वध करनेपर भी भय नहीं हुआ, तब अवश्य ही इन्द्रका 'मैं' चिदात्मा है। वही यहाँ इन्द्रका 'मैं' है।

इन्द्र कहते हैं कि 'त्वष्टाका पुत्र था—विश्वरूप। वह देवताओंका पुरोहित था। उसने मेरे द्वारा नियुक्त होनेपर भी मुझसे द्रोह किया। मैंने उसे मार डाला। ब्रह्महत्या कर्ताको लगती है, चिदात्माको नहीं। वेदान्तज्ञानसे रहित बहिर्मुख विषयी यतियोंको मारनेमें भी मुझे कोई दोष नहीं लगा था। मैंने तीनों लोकके असंख्य असुरोंको मारा परन्तु मैं चिदात्मा हूँ। मुझे कोई दोष-पाप नहीं लगा। मेरा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ। प्रतर्दन ! यह मेरी गरिमा नहीं है किन्तु यह ज्ञानकी ही गरिमा है। मेरे अतिरिक्त यदि कोई दूसरा भी चिदात्माको 'मैं'के रूपमें जाने तो वह भी ऐसा ही हो जायगा। यदि वह मन या वचनसे मातृवध, पितृवध भी करे तब भी ज्ञानीके मोक्षमें कोई बाधा नहीं पड़ती। पाप करनेपर भी ज्ञानीके मुखपर हर्ष-विषादकी छाया नहीं आती। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मात्मैक्यका बोध हो जानेपर किसी भी कर्मके द्वारा ज्येष्ठता-कनिष्ठता नहीं होती। मुक्तिका नाश नहीं होता। शास्त्रका अभिप्राय आत्माकी नित्यमुक्तिके बोधमें है।'

अब प्रश्न यह होता है कि आत्मा चाहे मूढ़का हो या ज्ञानीका उसमें पापका लेप तो है ही नहीं। ऐसी यथार्थ स्थितिमें तत्त्ववेत्ताकी क्या विशेषता रह जाती है ? इसका उत्तर सुनिये—'मैं कर्ता हूँ'—इस 'अहं कर्ता' अभिमानमें ही पापका निवास है। यह बात न समझनेके कारण ही अज्ञानवश उसका आरोप स्वस्वरूप चिदात्मामें कर लिया जाता है। यही कारण है कि मुखपर ग्लानि-म्लानि आजाती है और तेजो-हानि

हो जाती है। नरकमें जन्म भी होता है। ब्रह्मात्मैक्य-बोध हो जानेपर कर्मका बीजभाव नष्ट हो जाता है। अब जन्मका अंकुर नहीं उगेगा— इस निश्चयसे वह आनन्दमग्न हो जाता है। लोकव्यवहारमें देखा जाता है कि दग्धबीज अंकुरित नहीं होता। इसीप्रकार ज्ञानाग्नि-दग्ध कर्म जन्मप्रद नहीं होते।

अब प्रश्न यह है कि जब तत्त्ववेत्ताको कर्मलेप होता ही नहीं तो वे पापकर्मका आचरण क्यों छोड़ देते हैं? इसका रहस्य सुनिये—निश्चय ही तत्त्वज्ञ की कोई पारलौकिक हानि नहीं है, फिर भी बहुत बड़ी लौकिक हानि है। अतः तत्त्वज्ञ पापाचरण नहीं करते। एक हानि तो यह है कि विशिष्ट-विशिष्ट शिष्ट पुरुष पापिष्ठका परित्याग कर देते हैं। पाप प्रत्यक्ष नरक है। श्रुतिका कहना है कि तत्त्वज्ञानीके जितने कर्म होते हैं—पाप या पुण्य, उसकी निन्दा-स्तुति करनेवाले फल भोगते हैं। यदि ज्ञानी पाप करेगा तो उसकी निन्दा करनेवाला उसका पाप लेकर नरकमें जायगा। यदि कोई कर्मी ज्ञानीके उस कर्मकी स्तुति करेगा तो वह भी वैसा ही आचरण करने लगेगा। अतएव ज्ञानी पुरुष अनेक दोष-दुष्ट पाप-कर्म-आचरण नहीं करते। दूसरी बात यह है कि जो पहले पुण्याचरण करके शुद्धान्तःकरण होता है वही तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है। उसका अन्तः-करण पुण्यवासनासे वासित होता है अतएव वह पुण्य ही करता है। अधिक क्या कहा जाय, तत्त्ववेत्ताके लिए पारलौकिक भय नहीं है। आचार्य शंकरने उपदेश-साहस्रीमें कहा है कि 'आत्मज्ञानीके लिए पर-लोक-भय तथा मृत्यु-भय नहीं है। उसके लिए ब्रह्मा, इन्द्र आदि समर्थ ऐश्वर्यशाली भी शोचनीय हैं।'[1]

इस प्रकार इन्द्रने प्रतर्दनको आत्मज्ञानकी महिमा सुनाकर आत्म-विज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्रेरित किया—'आत्माको जानो, आत्माका विज्ञान प्राप्त करो।' इसके बाद इन्द्र 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यादि वचनके द्वारा प्रतर्दनको तत्त्वज्ञानका उपदेश करते हैं।

लिंग शरीरमें क्रियाशक्ति प्राण तथा ज्ञानशक्ति प्रज्ञाका निवास है। प्रज्ञा और प्राण—दोनोंका अधिष्ठान है आत्मा। अत. इन दोनों उपा-धियोंके द्वारा आत्मा उपलक्षित होता है। इन्द्रके वचनका क्या अभिप्राय है, इसपर प्रतर्दनने विचार किया। इन्द्र कहते हैं कि 'मैं प्रज्ञात्मा प्राण

---

१. परलोकभयं यस्य नास्ति मृत्युभयं तथा।
यस्यात्मज्ञस्य शोच्याः स्युः सब्रह्मेन्द्रा अपीश्वराः॥

हूँ।' इसका क्या अभिप्राय है ? अन्ततः वह इस निश्चयपर पहुँचा कि अपना आत्मा ही आनन्द, अजर, अभय, अमृत एवं विशोक है। प्रतर्दनने किस प्रकार यह निश्चय प्राप्त किया—यह वर्णन करते हैं।

भाषाका कोई भी शब्द अभिधावृत्तिसे वाच्यार्थक रूपमें आत्माका वर्णन नहीं कर सकता। ऐसा कोई शब्द है ही नहीं जो उसका साक्षात् बोधक हो। इसलिए उपाधिके द्वारा उसे उपलक्षित करनेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। लोकव्यवहारमें वाक्यार्थ-विशारद विद्वान् शब्दशक्तिका अनुसन्धान करके इस निश्चयपर पहुँचे हैं कि गुण, क्रिया, जाति, सम्बन्ध, रूढ़ि आदि जो भी शब्द प्रवृत्तिके निमित्त हैं उनमें-से एक भी आत्मामें नहीं है। गुण क्या है ? श्वेत, कृष्ण, खट्टा, मीठा आदि। क्रिया क्या है ? पाचन, धावन। जाति है—मनुष्य, गाय भैंस। सम्बन्ध है पति-पत्नी। रूढ़ियाँ हैं—पंकज आदि। इनमें-से एक भी रीति आत्माके प्रतिपादनमें समर्थ नहीं है। अतः किसी पद-समुदायके द्वारा उसका प्रतिपादन नहीं बनता। तब क्या किया जाय ? समीपस्थ वस्तुके द्वारा उसको लखाया जाता है। लखानेको ही लक्षणा या संकेत कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि समीपस्थ वस्तुओंमें भी नेत्र, श्रोत्र आदि उपाधियोंके द्वारा यह उपलक्षित क्यों नहीं होता ? होता तो है—वही श्रोता है, द्रष्टा है, घ्राता है इत्यादि रूपसे। परन्तु उनकी अपेक्षा भी अपने अन्तरात्माके अत्यन्त समीप हैं—प्रज्ञा और प्राण। अतः इनके द्वारा लक्षित होना अत्यन्त उचित है।

प्राण एवं प्रज्ञाका अर्थ क्या है ? अभिधा वृत्तिसे 'प्राण' शब्दका अर्थ है—चेष्टक वायु अर्थात् जिस वायुसे चेष्टाएँ होती हैं जो क्रियाशक्ति रूप है। 'प्रज्ञा' शब्दमें भी यह शक्ति है कि वह ज्ञानके हेतु बुद्धिरूप अर्थका बोध कराती है। इन दोनोंकी भ्रान्तिका अधिष्ठान कौन है ? अर्थात् किस परमार्थ तत्त्वमें ये दोनों भास रहे हैं ? अवश्य ही इन दोनोंके भाव तथा अभावका कोई अधिकरण है। जो अभावका अधिकरण है, वही भावका अधिकरण है। इसलिए ये मिथ्याभूत उपाधियाँ भ्रान्तिमात्र ही हैं। आत्मदेवमें इनकी कारणता औपचारिक ही है। जैसे शाखाग्रका चन्द्रमासे कोई सम्बन्ध नहीं, उसके द्वारा चन्द्रदर्शन कराया जाता है, वैसे ही इन उपाधियोंके द्वारा इनका अधिष्ठान जो कि स्वयंप्रकाश एवं सर्वावभासक है, लखाया जाता है। देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदिके द्वारा कर्म एवं ज्ञानके व्यापार देखे जाते हैं। वह कौन है जिसकी संन्निधि

मात्रसे ये समर्थ हो जाते हैं। वह कोई दूसरा नहीं—मैं ही हूँ। यह निश्चय कर लीजिये। देश, काल, एवं वस्तु-भेदके व्यापार मानस ही हैं। इनमें गमनागमन, क्रम, परिणाम आदि सब प्रज्ञा तथा प्राणके ही व्यापार हैं। अपने स्वरूपसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस आत्म-चैतन्यके सान्निध्यसे ये जड़ भी अजड़के समान प्रतीत होते हैं, वह कौन है? निश्चय करो—वह मैं ही हूँ! देह, इन्द्रिय, मन, प्राण—ये केवल दृश्य हैं अतएव जड़ हैं और ये अपने अत्यन्ताभावके अधिकरण चेतन आत्मामें प्रकाशित हो रहे हैं। आत्मा अद्वैत प्रकाश है।

शाखाग्र-चन्द्रमाके समान उपाधिलक्षित आत्मा तत्त्वको यदि समझ सकते हो तो इन दोनों उपाधियोंसे युक्त उपहितके रूपमें आत्माकी उपासना करो। प्राणके दो गुण हैं—आयुष्य और अमृतत्व। प्राणोपासक जीवनकालमें दीर्घ आयु प्राप्त करता है तो देहपातके अनन्तर स्वर्ग। प्रज्ञाका गुण है—सत्य-संकल्पता। यदि सकाम पुरुष प्रज्ञाके इस गुणका ध्यान करेगा तो उसे सत्य-संकल्पताकी सिद्धि होगी। यदि वह निष्काम होगा अर्थात् दृश्य, जड़, भोग्य पदार्थोंमें रुचि नहीं होगी तो उसे तत्त्वज्ञान होगा। उपासनाके द्वारा एकाग्रताकी प्राप्ति होती है। तदनन्तर तत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिए पुनः प्रारम्भसे ही प्रज्ञा-प्राणरूप उपाधियोंका विवेचन करना चाहिए।

कान, त्वचा, नेत्र, घ्राण और जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। वाणी, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियोंके क्रमानुसार सेवक हैं। शरीरका निर्माण ज्ञानकर्मात्मक है। ज्ञानसे जानना और कर्मसे करना। ज्ञानकी एकता प्रज्ञामें होती है। कर्मकी एकता प्राणवायुमें होती है। प्रज्ञा आलोचनपूर्वक इन्द्रियोंको प्रवृत्त करती है। प्राणवायु उन्हें प्रेरित करती है। यह लोक-व्यवहारकी व्यवस्था है। इस सम्बन्धमें किसी-किसीका कहना है कि वे इन्द्रियाँ नेत्रादि अपने-अपने विषयमें युगपत् (एक साथ) प्रवृत्त होते हैं। परन्तु ऐसा कथन नितान्त असत्य है। निपुण-से-निपुण व्यक्ति भी एक साथ विविध विषयोंका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। कालकी सूक्ष्मताके कारण विषय-ज्ञानका क्रम साधारण पुरुषको ज्ञात नहीं होता। यदि ज्ञात भी होता है तो धूर्त उसको आच्छादित करके लोगोंको धोखेमें डाल देता है। बात यह है कि कोई भी इन्द्रिय किसी भी दशामें प्रज्ञा-प्राणकी सहायताके बिना अपने विषय या कर्ममें प्रवृत्त नहीं हो सकता। दूसरेकी सहायतासे जिनकी

प्रवृत्ति होती है, उनमें क्रम होना अनिवार्य है। सहायक बारी-बारीसे सबकी सहायता करता है। यदि ऐसा न होता तो ये धोखेवाज धूर्तलोग एक ही क्षणमें सारे वेदका पाठ कर डालते। जैसे प्रज्ञा और प्राण क्रमानुसार वाणीको प्रवृत्त करते हैं, वैसे ही सभी इन्द्रियोंको। प्रज्ञा एवं प्राण के अनुग्रहसे वाणी जब बोलती है तब दूसरी इन्द्रियाँ भी उसका अनुवाद करती हैं। यदि इन्द्रियाँ क्रम छोड़कर अपने-अपने व्यापारमें प्रवृत्त हों तो उनके साथ प्रज्ञा एवं प्राण आकृष्ट हो जायँगे। इस प्रकार वाणीके व्यवहारमें विघ्न उपस्थित हो जायगा। अतः इन्द्रियोंके व्यवहारमें क्रम स्वीकार करना आवश्यक है। यह प्रक्रिया सभी इन्द्रियोंके व्यापारमें लागू है। अतः सभी इन्द्रियाँ संहत होकर ही अर्थात् मिल-जुलकर ही एक-एक विषयके ग्रहणका व्यवहार करती हैं। यदि वे अलग-अलग रहकर असंहत होकर व्यवहार करें तो विघ्नरूप ही हो जायँगी। प्रज्ञा एवं प्राण इन्द्रियोंके व्यवहारके आलोचक एवं प्रेरक हैं। उन्हींकी सहायतासे इन्द्रियोंका यह क्रमभावी विचित्र व्यवहार सम्पन्न हो रहा है। प्रज्ञा, प्राण एवं इन्द्रियोंके विविध, विचित्र व्यवहारका साक्षी एक ही है। वह चिदात्मा है। वह निर्विकार सबको देखता रहता है। वह उन सबसे विलक्षण है। प्रज्ञा, प्राणकी उपाधिसे ही वह ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा ज्ञाता-भोक्ता है और कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे कर्त्ता। उपाधिसे पृथक् विविक्त आत्मा साक्षी है। साक्षीकी अद्वितीय ब्रह्मताका बोध होनेसे उपाधि एवं तत्कार्य समग्र व्यवहारका बोध हो जाता है।

प्रश्न यह है कि प्राण, वाक् आदि सब समान ही हैं अथवा इनमें कोई श्रेष्ठ भी है? श्रुति इसका उत्तर देती है कि इनमें प्राण ही श्रेष्ठ है; क्योंकि वह जीवनका कारण है। अतएव वाक् आदि इन्द्रियोंकी उपेक्षा करके प्राणोपाधिक ही आश्रय लेना चाहिए। यही आत्मज्ञानका साधन होता है; क्योंकि प्राण ही शरीरका उत्थापन करता है इसलिए उसको 'उक्थ' कहते हैं।

इसपर एक शंका है—सुषुप्तिकालमें प्राण इस शरीरका उत्थापन नहीं करता किन्तु जागरण-कालमें ही करता है। इसलिए प्राणको उत्थापनका कारण न मानकर प्रज्ञाको ही उत्थापनका कारण मानना चाहिए। यह शरीर ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, बुद्धि और प्राण—चारोंकी शक्तिसे ही उत्थापित एवं संचालित होता है। इनकी शक्तिसे ही शरीर रुईकी तरह चलता-फिरता है। उसका कोई भार नहीं मालूम पड़ता। चिदाभास-

युक्त अहं बुद्धि ही सबके मूलमें स्थित है। पूर्व पक्षीका भाव यह है कि शरीरका उत्थापन प्रज्ञासे ही होता है, अतएव 'उक्थ' रूपसे प्रज्ञाकी ही उपासना करनी चाहिए, प्राणकी नहीं। मूलभूत श्रुतिने इसी शंकाका समाधान करनेके लिए कहा है—'यो वै प्राणाः सा प्रजा या वै प्रज्ञा स प्राणः'। सिद्धान्तीका कहना है कि आप सच कहते हैं—प्रज्ञा ही शरीरका उत्थापन करती है परन्तु केवल प्रज्ञा नहीं। प्रज्ञा स्वतन्त्रतासे शरीरका उत्थापन नहीं कर सकती। प्राणसे मिलकर ही करती है। यदि साभास बुद्धि प्राणसे न मिले तो वह केवल शरीरका उत्थापन नहीं कर सकती। इसलिए दोनों संयुक्त उपाधि हैं। जो संयुक्त होता है वही उपाधि होता है। मृत्यु और जीवन—दोनोंमें प्रज्ञा एवं प्राण सहभावी है। अतएव सूक्ष्मतामें दोनों एक हैं। उत्थापन क्रिया प्राणके द्वारा होती है अतः 'उक्थ' के रूपमें उसीका चिन्तन करना चाहिए। इससे चित्तको एकाग्रता प्राप्त होती है। चित्तकी एकाग्रता सिद्ध होनेपर बुद्धि साक्षी तत्त्वके बोधमें समर्थ हो जाती है।

यह प्राण जगत्-हेतु होनेके कारण भी आत्माका उपलक्षक है; क्योंकि सुषुप्ति-कालमें ग्यारह इन्द्रियाँ और उनके विषय अर्थात् सम्पूर्ण जगत् प्राणोपाधिक आत्मामें ही लीन हो जाता है। श्रुतिने स्पष्ट कहा है कि लोक अधिभूत है, देवता अधिदैव हैं और इन्द्रियाँ अध्यात्म हैं। सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति इन्द्रिय-देवताओंसे ही हुई हैं। अतएव उनके लीन होनेपर सम्पूर्ण जगत् लीन हो जाता है।

यदि यह प्रश्न किया जाय कि सुषुप्ति-अवस्था में केवल इन्द्रियोंका हो लय होता है, विषयोंका लय कहाँ होता है? ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यह जगत् प्रतीतिमात्र है। इसका भान न होना ही लय है। वस्तुतः जहाँ उपादान कारण जड़ अथवा परिणामी होता है वहाँ भानका भाव होनेपर विषयोंका लय नहीं माना जा सकता। परन्तु जहाँ जगत्का उपादान कारण चेतन आत्मा-ब्रह्म अथवा निर्विकार सत् है वहाँ जगत्-रूप कार्य भानके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विवेकके समय ही उसे कार्य, दृश्य अथवा भोग्य कहा जाता है। परमार्थतः ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः वेदान्त-सिद्धान्तमें प्रज्ञा, प्राण, इन्द्रिय, देवता, विषय—सब-के-सब प्रातीतिक ही हैं। सुषुप्ति-अवस्थामें भानाभावरूप लय होता है और जाग्रद्-अवस्थामें भानरूप उत्पत्ति होती है।

अब प्रश्न यह है कि सुषुप्तिमें सुषुप्त पुरुषको प्राणकी भी प्रतीति नहीं होती। ठीक है। उत्तर यह है कि व्यवहार-दशामें अन्यकी दृष्टिसे ही 'प्राण' शब्द स्वीकार किया गया है। 'प्राण' शब्द आत्माका उपलक्षक है। श्रुति स्पष्ट कहती है कि जाग्रत्-दशामें अपने आत्मासे ही विस्फुलिंगके समान इन्द्रियगण उत्पन्न होते हैं। इन्द्रियोंसे अभिमानी देवता और अभिमानियोंसे विषयरूप लोकोंकी उत्पत्ति होती है। ब्रह्मानुभवी पुरुष इस दृष्टि-सृष्टि प्रक्रियाको बड़े आदरसे देखता है। निश्चय ही जैसे जाग्रत् होनेपर स्वप्न-सृष्टिका लय हो जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होनेपर संसारका भी लय हो जाता है। इसी न्यायसे मृत्यु, मूर्च्छा, समाधि आदि अवस्थाओंमें भी भानाभावरूप लय ही स्वीकार करने योग्य है।

अब लयावस्थाको प्राप्त जगत्का पुनरुत्थान क्रम वर्णन करते हैं। जब प्राणोपाधिक जीवात्मा व्यवहार करनेकी इच्छा करता है तब वाक् शब्दकी सृष्टि करती हैं। जीव वाक्से उसी शब्दका उच्चारण करता है। यह क्रम सब इन्द्रियोंमें एक-सा ही है। इसलिए प्राणमें ही सर्वप्राप्ति है। प्रज्ञा प्राणसे अभिन्न ही है। अतः प्राणमें सर्वप्राप्ति कहनेका अभिप्राय प्रज्ञामें सर्वप्राप्ति है। जैसे वाक्की प्रेरणा प्राणके आश्रित है वैसे ही प्रज्ञाके एक अंश अभिमानके भी आश्रित है। अतएव वाक् प्रज्ञा, प्राणके द्वारा संचालित है इसी प्रकार त्वचा आदि इन्द्रियगण भी काम करते हैं। ध्येय, ज्ञेय, भोग्य—सबमें एक ही रीति है। किसी भी इन्द्रियकी ऐसी कोई भी प्रवृत्ति नहीं है जिसमें प्रज्ञांश अभिमान और उत्थापकांश प्राण न हो। अन्वयव्यतिरेककी रीतिसे सब समझ लेना चाहिए। प्रज्ञासे वाणी-पर आरूढ़ होकर जीव वचन बोलता है। वह कहता है—मेरा चित्त अन्यत्र था, इसलिए मैं नहीं बोल सका। 'मैं बोलूँगा'—इस अभिमानको 'वागारोह' कहते हैं। 'मैं सोचूँगा'—इस अभिमानको 'चित्तारोह' कहते हैं। अभिमान प्रज्ञाकी एक वृत्ति है। ध्यान भी उसीकी एक वृत्ति है। इसलिए प्रज्ञा पहले अभिमान करती है, पीछे ध्यान करती है। लय और उत्पत्तिके समय सम्पूर्ण जगत् प्राणमें अवस्थित रहता है। स्थिति कालमें सम्पूर्ण जगत् प्रज्ञामें अवस्थित रहता है। प्रज्ञा और प्राण आत्माकी मुख्य उपाधि हैं। इन्हींके द्वारा विवेकी पुरुषको प्रारम्भमें जीवात्माका स्वरूप समझना चाहिए।

श्रुति स्पष्ट आदेश-निर्देश करती है—'वाक् और उसका विषय क्या है ? इसकी जिज्ञासा मत करो। वक्ताको जानो।' बात यह है कि जो कुछ भी वाणीसे बोला जाता है, उसका कर्ता होता है; क्योंकि बोलना कृषिके समान एक क्रिया है और उसका कर्ता मैं हूँ—यह स्पष्ट अनुभव होता है। शब्द, स्पर्श आदि इन्द्रिय-विषयोंमें कोई भी ऐसा अहंभाव नहीं कर सकता कि 'मैं शब्द हूँ'—'मैं स्पर्श हूँ'। किसी भी एक इन्द्रियमें, इन्द्रियोंके समूहमें एवं अनेक वस्तुओंसे बने देहमें किसीको अहंभाव नहीं होता; क्योंकि ये सब ममतास्पदके रूपमें अर्थात् 'ये मेरे हैं'—इस रूपमें भासते हैं। इस शरीरमें नखके नोकसे लेकर शिखापर्यन्त समग्र शरीरमें अहंकार व्याप्त होकर रहता है। वही शुद्ध चेतन और आभास चेतन, जिसे चिद्बिम्ब और चित्प्रतिबिम्ब कहते हैं, के द्वारा व्याप्त होकर कर्ता हो जाता है। लोक-व्यवहारमें चेतनको ही क्रियावान् कहते हैं। वस्तुतः चेतनसे व्याप्त अहंकार ही कर्ता है। सभी इन्द्रियोंके द्वारा सम्पन्न होनेवाले सब व्यापार यही कर्ता करता है। इसप्रकार प्राण प्रज्ञाधारी चेतन अर्थात् जीवात्माका विवेक करके फिर शुद्ध-चेतन आनन्दरूप परमात्माका विवेक करना चाहिए। साभास बुद्धि ही जीवके नामसे व्यवहारमें कर्ता-भोक्ता मानी जाती है। यही प्रतिबिम्बयुक्त अहंकृति है। इस प्रतिबिम्बमें ही इससे विलक्षण साक्षीका विवेक कर लेना चाहिए। साक्षी ही शुद्ध ब्रह्म है, क्योंकि देश, काल, वस्तु आदि सब कुछ इसी शुद्ध-साक्षी ब्रह्ममें आरोपित है। ग्राह्यरूपसे भूततन्मात्रा और ग्राहकरूपसे प्रज्ञातन्मात्रा संसारका निर्वाह कर रही हैं। भूतमात्रासे ग्राह्य देह, विषय आदि हैं और प्रज्ञामात्रासे ग्राहक चित्तवृत्ति एवं इन्द्रियगण हैं। ये दोनों ही विभाग आत्मतत्त्वमें प्रकल्पित हैं। जैसे रथकी नेमि अरोंके आश्रित होती है और अरे नाभिके आश्रित होते हैं, वैसे ही विषय इन्द्रियोंके और इन्द्रिय प्राणोपलक्षित आत्माके आश्रित रहते हैं। चेष्टा-कल्पनाका हेतु प्राण है और वृत्ति-कल्पनाका हेतु प्रज्ञा है। इन दोनोंके आरोपका अधिष्ठान परमात्मा आनन्द-स्वरूप है। हमारे जीवनमें—सबके जीवनमें जो परम प्रेमास्पद-रूपसे भास रहा है वह नित्यानन्द-स्वरूप परमात्मा है। वह अजर है, अमृत है। वह पुण्यसे देवता नहीं बनता और पापसे पशु नहीं बनता। चिदाभास युक्त अहंकार ही पापी या पुण्यात्मा होता है। पाप-पुण्य अहंकारके हैं। जरा-मृत्यु शरीरके हैं।

अज्ञानी पुरुष उनको अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त साक्षी स्वरूपमें आरोपित कर लेता है। इसलिए उसको कर्मानुसार देव, पशु आदि योनियोंकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे इसी आरोपका बाध हो जाता है। बाध अर्थात् मिथ्यात्व-निश्चय, भानका अभाव नहीं। तदनन्तर कर्म दग्ध-बीजके समान हो जाता है अतः आत्माके शुद्ध स्वरूप निर्लेप परमात्मामें जगदंकुरकी सम्भावना नहीं है। आत्मा न कर्मसे घटता है और न कर्मसे बढ़ता है। 'न साधुना कर्मणा भूयान्'। प्रश्न यह है कि परमात्मामें कार्योपाधि न होनेपर भी कारणोपाधि तो है ही, फिर उसमें कर्म क्यों नहीं हैं? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा कर्माध्यक्ष है, कर्म-कर्ता नहीं। वह अज्ञानी जिसको निजस्वरूप समझता है उस आभाससे पुण्य कर्म कराकर स्वर्गलोकमें भेजता है और पाप कराकर नरकमें। उसकी सन्निधि मात्रसे ही तत्तद् वासना युक्त अन्तःकरणके द्वारा तादृश प्रवृत्ति होती है। शास्त्रमें इसे 'पर्जन्य-न्याय' कहते हैं। जैसे मेघ वृष्टिके द्वारा भिन्न-भिन्न बीजोंका विविध रूपमें सवर्द्धन करता है। कोई अधिक बढ़ता है, कोई कम; कोई मधुर होता है, कोई कटु; कोई खड़ा बढ़ता है, कोई पड़ा; कोई-कोई सड़-गल भी जाता है। इससे मेघमें किसी प्रकारकी विषमता नहीं आती। उत्तमाधम भाव बीजके निमित्तसे ही है। इसी प्रकार वासना-भेदसे जीवोंकी नरक-स्वर्गादि गतियाँ होती हैं, उत्तमाधम कर्ममें उनकी प्रवृत्ति भी होती है—इनमें परमात्माका केवल सन्निधानमात्र है, कर्तृत्व नहीं। परमात्मा ही माताके समान पालन करता है। पिताके समान शिक्षा देता है। स्वामीके समान शासन करता है। आत्मा ही परमात्मा है। यह सब कुछ मायाकी उपाधिसे करता हुआ जान पड़ता है। परमात्मामें मायाकी उपाधि रहनेपर भी उसे ज्ञात है कि यह मिथ्या है। अज्ञानी जीवको मायाका मिथ्यात्व ज्ञात नहीं हैं। ज्ञान-अज्ञानका ही भेद है, परमार्थ-स्वरूपमें भेद नहीं है। वस्तुतः आत्मा कहो या परमात्मा एकरस परमानन्द ही है। ज्ञान और अज्ञान ही जीव ईश्वरका भेदक है। परमार्थतः कोई भेद नहीं है। अज्ञानी संसारी जीवकी दृष्टिसे ही इस परमार्थ सत्यको सर्वेश्वर कहते हैं। निज आत्मदृष्टिसे तो यह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अखण्ड-एकरस आनन्द ही है। प्रतर्दन! तुम इसी आत्माको जानो। इन्द्रके इस अनुग्रहपूर्ण उपदेशके श्रवणमात्रसे प्रतर्दन कृतकृत्य हो गया।

अनुभव=अपरोक्ष

अनुभव कभी परोक्ष नहीं होता। वह सदा अपरोक्ष ही रहता है। जब अपूर्ण वस्तुका अनुभव होता है तब वह कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूपमें परोक्ष हो जाती है। विषय-वस्तु परोक्ष होती है और उसके साथ तादात्म्य अध्यासके कारण अनुभव भी परोक्ष भासने लगता है। परिपूर्ण वस्तुका अनुभव किसी अवस्थामें, देशमें, कालमें, किसी भी प्रतीयमान रूपमें परोक्ष नहीं होता। उसमें परोक्षताके लिए अवकाश नहीं है। वस्तुतः परिपूर्णतामें अनुभव एवं विषय-वस्तु पृथक्-पृथक् नहीं हैं। अतः परोक्षताके लिए कोई अवसर नहीं है।

यही कारण है कि परिपूर्ण अनुभवमें स्मृतिकी आवश्यकता नहीं होती। जब अनुभवरूप वस्तु ही साक्षात् अपरोक्ष है, तब स्मृति कहाँसे

हो। स्मृति उसी वस्तुकी होती है, जिसका अनुभव विगतमें अन्यत्र अन्य रूपमें हुआ हो। कल अनुभव किया था, आज स्मरण कर रहे हैं। वहाँ देखा था, यहाँ स्मरण हो रहा है। निश्चय ही परोक्षकी स्मृति होती है। परिपूर्ण अखण्ड आत्मा ब्रह्म कभी कहीं परोक्ष नहीं होता। अतः एक बार, केवल एक बार अज्ञानान्धकार अथवा भ्रमकी निवृत्ति होनेपर न आत्मवस्तु कभी परोक्ष होती है और न तो उसका स्मरण करनेकी आवश्यकता पड़ती है।

केवल ब्रह्मानुभूतिमें ही स्मरणकी आवश्यकता न हो, सो बात नहीं। सहज वैराग्यमें भी स्मरणकी अपेक्षा नहीं होती। इसपर ध्यान देना चाहिए। राग या द्वेषका अभाव ही वैराग्य है अभावपदार्थ अपने अधिष्ठान ब्रह्मसे अभिन्न है। राग-द्वेष सर्वदा सविषयक ही होते हैं। अर्थात् किसी दृश्य-पदार्थसे ही राग अथवा द्वेष होता है। वैराग्यका स्मरण करने लगेंगे, तो वह स्मरण राग-द्वेषके साथ ही होगा। मैंने इतना धन छोड़ दिया, मैंने इतने सम्बन्धियोंसे आसक्ति नहीं की, मैंने इन-इन शत्रुओंके सतानेपर भी उनसे द्वेष नहीं किया, इस प्रकारका वैराग्य-स्मरण संसारका ही स्मरण होगा। अतएव वैराग्यवान् पुरुष वर्तमान उपलब्ध विषयोंमें ही अनासक्त रहते हैं। मैंने यह वैराग्य किया और यह वैराग्य करूँगा, इस प्रकारका चिन्तन नहीं करते। महात्माका स्वरूप है—साक्षात्-अपरोक्ष-अद्वितीय। उसकी सहज स्थिति है—वैराग्य।

एक दिन किसी संसारी जिज्ञासुने प्रश्न किया—महाराज! आप पहले जंगलोंमें वृक्षके नीचे धूलपर लेटे रहते थे, आँख खोलकर देखते तक नहीं थे, रोम-रोमसे उदासीनता व गम्भीरताकी वर्षा होती थी, अब वैसे क्यों नहीं रहते?

महात्माने उत्तर दिया— भइया! वह अच्छा था कि यह अच्छा है? उस स्थितिका स्मरण होना कर्तृत्वपूर्वक किये हुए कर्मका मानसिक अभ्यास है। स्मृति विषयकी ही होती है। स्थिति कृत्रिम थी। यह स्थिति सहज है।

यथा तथा यत्र तत्र सम एवावतिष्ठते।

सन्त ज्ञानदेवका अमृतानुभव

विक्रमी सं० १३३२ के लगभग महाराष्ट्र प्रान्तमें सन्त ज्ञानदेवका प्रादुर्भाव हुआ था। उन्हें आध्यात्मिक जगत्में भगवान् विष्णुके अवतारके रूपमें माना गया। उन्होंने ओवी छन्दमें केवलाद्वैत सिद्धान्तके प्रतिपादक 'अमृतानुभव' ग्रन्थका निर्माण किया। यह छन्द संस्कृतके अनुष्टुप् छन्दके समान होता है। इस ग्रन्थमें १० प्रकरण हैं। प्रखर युक्तियों एवं हृदयस्पर्शी अनुभवोंसे युक्त अजात-सिद्धान्तका उत्कृष्ट निरूपण है।

ब्रह्मगीतामें, जो कि सूतसंहिताके अन्तर्गत है, कहा गया है कि यह भासमान नाम-रूपात्मक जगत् परिपूर्ण शिव ही है। जिसको ऐसी प्रतीति अपरोक्ष रूपसे होती रहती है, उसकी सभी स्थितियाँ शिवपूजारूप ही हैं। उसका सहज आचरण ही अखण्ड ब्रह्मस्वरूप है। उसका जैसा तैसा स्वभाव शिवपूजा ही है। स्पष्ट कहा गया है कि स्वरूपचैतन्य ही पाँच भूतोंके रूपमें उल्लसित हो रहा है। पञ्चभूतात्मक लोकत्रय भी चिन्मात्र ही है। मैं भी चिन्मात्र ही हूँ। मैं स्वतःसिद्ध आत्मसंवेदन हूँ। आत्मस्फुरणसे ही जगत्का भान होता है। चैतन्य है अखण्ड-अद्वय। इसमें भेदकी गन्ध भी नहीं। 'मैं जीव हूँ' यह भाव भ्रमजनित है, अतएव मिथ्या है। चाहे घट है, पट है—इस प्रकार 'है है' के रूपमें हो अथवा 'घट जान पड़ता है, पट जान पड़ता है' इस प्रकाशके रूपमें हो। भेदमें वस्तुता नहीं है। सत्प्रकाश ही वस्तु है। अपने आत्मामें प्रकाशसादृश्यके कारण अज्ञानसे ही चिज्जडग्रन्थिरूप चिदाभासका भ्रम होता है। वह केवल अविवेकियोंके लिए ही है, विवेकियोंके लिए नहीं।

तत्त्वतः न बन्ध है, न मोक्ष है, न जगत्का उदय और न विलय है। देखिये, वराह-उपनिषद्का यह वचन—

अज्ञानमेव न कुतो जगतः प्रवृत्तिर्जीवेश-देशिकविकल्पकथाऽतिदूरे।
एकान्त-केवल-चिदेकरस-स्वभावे ब्रह्मैव केवलमहं परिपूर्णमस्मि॥

केवल चिदेकरस, एकान्तस्वभाव वस्तुतत्त्वमें अज्ञान ही नहीं है, तो जगत्की प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि कहाँसे होंगे ? जीव, ईश्वर एवं गुरुसम्बन्धी भेदकी चर्चा भी बहुत दूर, अविवेक दशामें ही रह जाती है। मैं केवल परिपूर्ण, अद्वय, परब्रह्म तत्त्व ही हूँ। ब्रह्मज्ञानका अत्यन्ताभाव होनेके कारण केवल आत्मचित् ही सत्तत्त्व है।

वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्यने भी ऐसा ही कहा है :

सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः कृत्स्नवस्तु यतोऽद्वयम्।
सम्भवस्तद्विरुद्धस्य कुतोऽकृत्स्नस्य वस्तुनः॥

छान्दोग्य-श्रुतिके **सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्** इत्यादि वचनोंसे सिद्ध है कि प्रतीयमान कृत्स्न वस्तु अद्वय ही है। इसके विरुद्ध अकृत्स्न वस्तुकी उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है ?

निश्चय ही अज्ञानके सम्बन्धमें लौकिक या वैदिक कोई भी प्रमाण नहीं है। परमार्थतः उत्पत्ति और निरोध दोनों ही निषिद्ध हैं। अन्नपूर्णोपनिषद्का वचन है :

नास्ति चित्तं न चाविद्या न मनो न च जीवकः।
ब्रह्मैवेकमनाद्यन्तमब्धिवत् प्रविजृम्भते॥ १॥
गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
न विचारपरं चेतो यस्य सोऽमृत उच्यते॥ २॥

न चित्त है और न अविद्या। मन तथा जीव भी नहीं है। एक समुद्रके समान अनादि, अनन्त, अद्वय ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। वह सत्पुरुष है अमृत जिसका चित्त कभी सोते-जागते, चलते या ठहरते किसी वस्तुके विचारमें, उधेड़बुनमें नहीं फँसता। तेजोबिन्दु-श्रुतिने तो यहाँतक कह दिया है :

यद् यदुक्तं पुराणेषु यद् यद्वेदेषु निर्णयः।
सर्वोपनिषदां भावः सर्वं शशविषाणवत्॥ १॥

सर्वं ब्रह्मेति नास्त्येव ब्रह्म इत्यपि नास्ति हि।
चिदित्येवेति नास्त्येव चिदहं भाषणं नहि॥

पुराणोंमें जो कुछ कहा गया है, वेदोंमें जो कुछ निर्णय किया गया है और उपनिषदोंका जो कुछ भाव गृहीत होता है, वह सब शशविषाणके समान मिथ्या है। 'सब ब्रह्म है' यह भी मिथ्या ही है। ब्रह्मशब्द भी मिथ्या ही है। 'केवल 'चित्' ही है' ऐसा कथन भी सत्य नहीं है। 'मैं ही चिन्मात्र हूँ' यह भाषण भी नहीं है। सर्वज्ञात्ममुनिका वचन है :

बहु निगद्य किमत्र वदाम्यहं शृणुत संग्रहमद्वयशासने।
सकलवाङ्मनसातिगता चितिः सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक्॥

इस सम्बन्धमें बहुत विस्तारके साथ युक्ति-प्रयुक्तियोंके द्वारा क्या सिद्ध करूँ? अद्वैतशास्त्रका संक्षिप्त संग्रह आप लोग सुन लीजिये। सम्पूर्ण वाणी और मनसे परे है चित्तत्त्व एवं सम्पूर्ण वाणी-मनके व्यवहारका विषय है चित्तत्त्व।

मराठीभाषासे संस्कृतभाषामें अनुवादके प्रारम्भमें ग्रन्थकी यह पृष्ठ-भूमि दी हुई है। श्री ज्ञानदेवने विभिन्न नामोंसे गुरुतत्त्व एवं परम तत्त्व-की वन्दना करनेके अनन्तर कहा है कि वस्तुतः उपाधिहीन तत्त्व ही जगत्का कारण है। वह स्वयं है। उसको शिव, शक्ति, पुरुष, प्रकृति किसी भी नामसे कहा जा सकता है।

प्रश्न यह है कि जो एक ही तत्त्व है, वह उपाधिहीन होनेपर जगत्-का कारण कैसे हो सकता है? सच पूछो तो तत्त्वको एक कहना भी द्वितीयकी अपेक्षासे ही है। यही एकत्व जगत्-कल्पनाका मूलस्थल है। जब अपनी ही दृष्टिसे अपने आपको देखते हैं, तब स्वयं स्व ही देखनेवाले विषयी और देखे जानेवाले विषयके रूपमें प्रतीत होता है। सृष्टि-समस्या-का हल करनेके लिए यही मार्ग है, दूसरा नहीं। अनुभव-पथमें अपना अभाव नहीं है। अपना आपा ही भोक्ता और भोग्य दोनोंके रूपमें प्रतीत हो रहा है। वही ज्ञाता है और वही ज्ञेय। द्रष्टाका जो परमार्थरूप है वही दृश्यका भी है। अतः स्वयं स्व ही ज्ञाता-ज्ञेय एवं भोक्ता-भोग्य है। अन्य उपाधियोंका सम्बन्ध नहीं है, स्वयं उपाधि भी है। उपाधिकी अन्यता भी नाममात्र ही है। कोई विकार है नहीं, दृश्य दीख रहा है। कोटि-कोटि उपाधियाँ भासें, पर तत्त्व निरुपाधिक ही है। तब वन्दना क्या है? तुम और मैं का भेद किये बिना जो स्थिति है वही वन्दना है। उसके पूर्व

वन्दिता वही है और अनन्तर वन्दनीय भी वही है। शिव ही आदि है, शिव ही मध्य है, शिव ही अन्त है। आत्मा और अनुभूति ये शब्द दो हैं, वस्तु एक है। वही अद्वितीय सत् है। सन्त ज्ञानदेवने अपने मङ्गलाचरणका यह विवरण दिया है।

अद्वैतशिवमें द्वैतका भान प्रतीतिमात्र है, वास्तविक नहीं। आश्चर्य है, आश्चर्य है! सम्पूर्ण द्वैतभास स्वसंवेद्य ही है। निर्द्वन्द्व सुख ही द्वैतके रूपमें भास रहा है। जैसे कपूरमें सौरभ है वैसे ही अद्वैतमें द्वैतलीला है। कोई कहे, गुड़में गुड़त्व है या मधुरमें माधुर्य, तो यहाँ अधिकरण विभक्तिका प्रयोग केवल विकल्पमात्र ही है। भास्य और भासककी सन्धि ऐसी नहीं है जैसे दो कपालसे निर्मित घटमें होती है। वह तो केवल चिन्मात्र है। चिन्मात्रको देखना भी देखना नहीं है। दृङ्मात्र स्वरूपमें द्रष्टा-दृश्य क्या? यह ज्ञान अज्ञानका प्रतियोगी नहीं है, स्वयं ज्ञानस्वरूप है। प्रपञ्चका निषेध होनेपर ही अभिन्न वस्तु सिद्ध होती है। यदि कोई ऐसा चाहे तो निसर्गसिद्ध अभेदमें ही भेदकी कल्पना करनी पड़ती है। जहाँ अभेद सिद्ध करनेके पूर्व ही अभेद है, वहाँ निष्फल परिश्रम क्या अर्थ रखता है? अतएव जहाँ-जहाँ द्वैतभ्रम है वहाँ-वहाँ उसके विनाशके लिए ही प्रमाकी उत्पत्ति सफल होती है। द्वैतभ्रमकी अपेक्षासे ही अद्वैत-प्रमा है। अभेदमात्र ही वस्तु है। इसके लिए प्रयत्नका कोई उपयोग नहीं है। प्रयत्नसे उत्पन्न अनित्य ही होता है, घटवत्। अतः पृथक्ताकी प्रतीति चाहे स्वरूपाभिमुख होनेपर हो, चाहे प्रपञ्चाभिमुख होनेपर, निरुपाधिक ही है। यह प्रतीति अर्थात् भेदाभेदविहीन स्फुरण ही जगत्का कारण है। लोक-व्यवहारमें यही प्रकृति-पुरुषके नामसे प्रसिद्ध है। प्रमाता, प्रमेय आदि आभास इसीकी वंशपरम्परा है। श्रीज्ञानेश्वरके निरूपणकी प्रक्रियामें यही विशेषता है।

सन्त ज्ञानदेवका कहना है कि अद्वैत शुद्धचैतन्य ही जगत्कारणरूपसे कल्पित होता है। किसी अचेतन कारणकी कल्पना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। शुद्ध चैतन्यको अपनी सिद्धिके लिए किसी हेतु-दृष्टान्तकी आवश्यकता नहीं। चित् ही पञ्चभूत है, चित् ही भुवनत्रय। आत्मा ही चित् है।

कर्म

चारु चिन्तन

धर्म

धर्मका मूल :

भौतिक ज्ञान, तद्गत विशेषताओंका अनुसन्धान 'विज्ञान'के नामसे प्रसिद्ध है। कर्मका ज्ञान और तद्गत विशेषताओंका अनुसन्धान 'धर्माधर्मविज्ञान' कहलाता है। साधारण धर्म सच्चिदानन्दघन अद्वय ब्रह्म-स्वरूप उपादानकी प्रधानतासे होता है। वस्तुतः निखिल प्रपञ्चका मूलतत्त्व परब्रह्म परमात्मा है। अतएव वह सर्वदेश, सर्वकाल, सर्ववस्तु एवं सर्वव्यक्तिमें अनुगत रहता है। साधारण धर्म सर्वदा सर्वत्र सर्व प्रकारके अधिकारियोंके लिए आवश्यक होते हैं और यथाकथञ्चित् गुप्त-प्रकट रूपसे उनमें रहते भी हैं। सृष्टिमें जहाँ पूर्णता अधिक विकसित होती है वहाँ वे अधिक मात्रामें होते हैं और जहाँ कम मात्रामें होती है वहाँ कम। पूर्णतामें तारतम्य नहीं होता, अभिव्यक्तिके प्रकारमें तारतम्य होता है। प्राणी-अप्राणी सभी पदार्थोंमें धर्माधर्मका ह्रास-विकास होता रहता है। पूर्णताका सर्वाधिक विकास मानव शरीरमें होता है। मनुष्यमात्रके लिए साधारण धर्म उपादानसे ही प्राप्त है। उपादानगत धर्मके विकासमें सत्से जीवन, चित्से ज्ञान तथा आनन्दसे सुखका प्रकाश होता है। अद्वयता अभेद और मेल-मिलापके रूपमें प्रकट होती है। जीवनदान, ज्ञानदान, सुखदान और प्रेमदान जीवमात्रके लिए अकृत्रिम सहज धर्म है। इसमें प्रकाश तारतम्यसे ही ह्रास-विकास अथवा तारतम्य प्रतीत होता है।

मनुष्यमें ही धर्माधिकार :

धर्म सभी पदार्थोंमें होता है। अभिव्यक्तिके भेदसे उनमें परस्पर वैधर्म्य भी होता है। कोई रोगका हेतु है कोई औषधका हेतु; कोई मधुर है तो कोई कटु; कोई शुक्ल है कोई कृष्ण। इन विशेषोंकी गणना आवश्यक नहीं है। मनुष्यके शरीरकी रचना अधःस्रोत है। वृक्ष ऊर्ध्वस्रोत होते हैं और पशु-पक्षी तिर्यक् स्रोत। इसका अभिप्राय यह है कि विरञ्चि-प्रपञ्चमें रचनागत जितनी चातुरी है वह मनुष्यके निर्माणमें प्रकट हो गयी है। अब यह विशेष धर्मका आश्रय लेकर अपनेको प्रपञ्च-जालसे मुक्त करनेका प्रयास नहीं करेगा तो फिर पशु-पक्षियोंके समान तिर्यक्-स्रोत अथवा लता-वृक्षके समान ऊर्ध्वस्रोत जातियोंमें जन्म ग्रहण करेगा; क्योंकि योग्यताके अनुसार ही पदकी प्राप्ति होती है।

मनुष्यके दो हाथ उसके कर्माधिकारकी सूचना देते हैं। वृद्धिकी विशेषताको सूचित करते हैं—नये-नये आविष्कार। विविध गन्ध, स्वाद, सौन्दर्य, स्पर्श, स्वर आदिकी सृष्टि उसकी सुख-वासनाको निवारण करती रहती है। परस्पर-सम्बन्ध आनन्द-भावके, प्रेम-भावके, अभेद-भावके सूचक हैं। ऐसी स्थितिमें मनुष्य यदि अपनी विशेष योग्यताका उचित और उपयुक्त प्रयोग न करे तो वह उत्थानकी दिशासे च्युत होकर पतनकी ओर भ्रष्ट हो जाता है। निष्कर्ष यह कि मनुष्य अपने स्वभाव-प्राप्त योग्यताका उचित उपयोग करके अभ्युदय-निःश्रेयस प्राप्त कर सकता है और उनका ठीक-ठीक उपयोग न करनेपर उन योग्यताओंसे वञ्चित होकर पतनीय दशाको प्राप्त हो जाता है।

मानव शरीरमें स्वतः प्राप्त योग्यताकी ग्लानि-म्लानि न हो और वह अपनी सहज पूर्णताको अभिव्यक्त कर ले इसके लिए कर्म-क्षेत्रमें विशेष धर्मकी आवश्यकता होती है।

धर्मका निमित्त :

प्रपञ्चके उपादानको ब्रह्म, प्रकृति, परमाणु, पुद्गल, शून्य, विज्ञान, भूतचतुष्टय—कुछ भी कहें वह भेदकी अभिव्यक्तिसे पूर्वकी दशा ही है। भेद प्रकट होनेपर उनका समत्व सबमें अनुगत ही रहता है। विवर्त, परिणाम या आरम्भ कुछ भी क्यों न हो—मूल तत्त्व अर्थात् उपादानकी दृष्टिसे धर्माधर्मका विभाग नहीं हो सकता। सभी कार्योंमें प्रतीयमान विक्रिया समान ही होती है। अतएव मनुष्यके द्वारा कर्तृत्वपूर्वक या

प्रयत्नपूर्वक किये जानेवाले व्यापारोंमें धर्माधर्मका विभाग आवश्यक हो जाता है। वह उपादानकी दृष्टिसे नहीं होता, अनुशासनकी दृष्टिसे होता है। कुछ भी हो धर्माधर्मका विभाजक-निमित्त उपादान कारण नहीं, संविधान शास्त्रगत विधि-निषेध ही है। भले ही वे विधि-निषेध देश, काल, समाज, जाति, सम्प्रदाय, अवस्था, वय, शक्ति, बुद्धिके अनुसार भिन्न-भिन्न क्यों न हों।

भेद-सृष्टिमें विक्रिया स्वाभाविक है और क्रिया कर्तृत्वपूर्वक की हुई। क्रियामें ही मनुष्यका स्वातन्त्र्य है कि वह क्या करे क्या न करे? कोई वस्तु जैसे चाँदी, सोना दुष्ट नहीं है। उनके साथ धर्माधर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु उनको ग्रहण करना या त्याग देना यह क्रिया मनुष्यके अधीन है। इसलिए उसीके साथ धर्माधर्मका सम्बन्ध होता है। कोई भी स्त्री-पुरुष स्वभावसे दूषित नहीं हैं परन्तु उनमें-से कौन, किसके उपभोगका अधिकारी है, इस उपभोगकी क्रियासे ही धर्माधर्मका सम्बन्ध है, स्त्री-पुरुषसे नहीं। तात्पर्य यह कि जिस कर्मको करनेमें मनुष्यका स्वातन्त्र्य है उसीके करने, न करनेके विधि-निषेध होते हैं और विधि-निषेधके आचरण और उल्लंघनसे ही धर्माधर्मकी उत्पत्ति होती है। स्वच्छन्द प्रवृत्ति तत्काल सुखाभास उत्पन्न कर सकती है परन्तु भविष्यके लिए वह वस्तु, व्यक्ति, स्थान, समय, क्रिया या भोगके परतन्त्र बना देती है। स्वच्छन्द प्रवृत्ति ही पराधीनताका मूल कारण है। अनुशासनके द्वारा उसीको नियन्त्रित किया जाता है। शिष्टानुशिष्ट कर्म मिष्ट-मिष्ट इष्ट फलका जनक होता है। इसीको 'विशेष धर्म' कहते हैं। वह जीवनमें स्वतः नहीं आता, लानेका प्रयास करना पड़ता है। इसमें अधिकारी, संकल्प, विधि-पूर्वक अनुष्ठान सामग्री और समग्रताकी अपेक्षा होती है। धर्मका एक अंग भी फलप्रद होता है परन्तु अंगवैगुण्य होनेपर प्रत्यवायकी भी उत्पत्ति होती है। समग्र धर्म समयपर समग्र फल देता है। वह कर्त्तामें या उसके अन्तःकरणमें अपूर्वके रूपसे तबतक रहता है जबतक उसका फल उदय न हो जाय। **कर्मका विहित नियन्त्रण धर्म है। वासनाका विहित नियन्त्रण उपासना है। वृत्तिका विहित नियन्त्रण योग है।**

नियन्त्रणके बिना कोई भी साधना अपने साध्य आकारके रूपमें परिणत नहीं होती है। जैसे दूध विधिपूर्वक जमानेपर दही हो जाता है

और उससे नवनीत निकलता है इसी प्रकार कर्म विधिपूर्वक करनेपर धर्म हो जाता है और उससे सुखकी प्राप्ति होती है। कर्ममें विधि-निषेध, उपासनामें आवाहन-विसर्जन, योगमें अभ्यास-वैराग्य और तत्त्वज्ञानमें अध्यारोप-अपवाद ये सब मिलते-जुलते साधनाके प्रकार-भेद ही हैं। इनमें सामान्य एक ही है। मूल वस्तु ज्यों-की-त्यों है। कर्म, उपासना, योग और ज्ञानके द्वारा उसका शोधन अथवा अनुसन्धान ही सम्पन्न होता है। परम्परया अथवा बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग रूपसे सब साधन समन्वित होते हैं और एक ही लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते हैं।

नाम-रूप सृष्टि और वेद :

यह कहा जा चुका है कि सामान्य धर्म जगत्के मूल उपादान सच्चिदानन्दघन अद्वय-ब्रह्मकी प्रधानतासे होते हैं और विशेष धर्म अपने निमित्त कारण अनुशासनकी प्रधानतासे। जैसे सृष्टि अनादि है वैसे ही दृष्टि भी अनादि है। जैसे रूपात्मक सृष्टि अनादि एवं प्रवाहरूपसे नित्य है ऐसे ही नामात्मक सृष्टि भी अनादि और अनन्त है। जैसे मूल धातुमें रूप व्याकृत होते हैं वैसे ही मूल धातुमें शब्द भी व्याकृत होते हैं। नाम-रूपका विभाग कार्यावस्थामें ही है, कारणावस्थामें नहीं। अतएव प्रलयके समय रूप-प्रपञ्चके समान ही नाम-प्रपञ्च भी विलीन रहता है और सृष्टिके समय उनका आविर्भाव हो जाता है। मूलतः नाम और रूप एक ही तत्त्व हैं। परावाणीमें नाम-रूपका विभाग नहीं है। अतएव द्रष्टाके सम्मुख जब दृश्य-रूप आते हैं तभी दृश्य-शब्द भी आते हैं। अतएव वेदवाणीका निर्माण नहीं होता, दर्शन होता है। संस्कृत भाषामें 'ऋषि' शब्दका अर्थ भी द्रष्टा है। जैसे ईश्वरके सन्निधानसे यथापूर्व सृष्टिका उदय होता है वैसे ही वेदोंकी आनुपूर्वीका भी। इसीसे वेदको अनादि-निधन नित्य कहा गया है। उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता।

धर्म-प्रामाण्य—वैलक्षण्य :

ज्ञानका जो परमार्थ-स्वरूप है वही वेदका भी परमार्थ-स्वरूप है। ज्ञानका प्रथम निर्माता कोई नहीं है, न ईश्वर, न जीव क्योंकि निर्माणमें ज्ञानकी अपेक्षा होती है। यदि कोई निर्माण करेगा तो ज्ञानके अनुसार ही करेगा। ईश्वर-जीवका विभाग भी ज्ञानसे ही सिद्ध होता है। ईश्वर

जीवरूप-पुरुषके द्वारा निर्मित न होनेके कारण वेद अपौरुषेय हैं। इनमें पुरुषनिष्ठ भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (ठगी) कर्णापाटव (ऐन्द्रियक शक्तिकी न्यूनता) आदि दोष-पंककी कलंकरेखा नहीं है। वेद वह विज्ञान नहीं है जो लौकिक वस्तुओंका अनुभव करके उदय होता है। वह नित्य-सिद्ध विज्ञान है। धर्मका निर्णय करनेमें वही प्रमाण है। वैदिक विज्ञानके निमित्तसे ही धर्माधर्मका निश्चय होता है। कहना न होगा कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके धर्म-ग्रन्थके स्वरूप एवं आविर्भावके सम्बन्धमें इस प्रकारकी गम्भीर दृष्टि परिलक्षित नहीं होती। अतएव वेदके समकक्ष किसी भी साम्प्रदायिक ग्रन्थको रखा नहीं जा सकता। वेद सम्प्रदाय-विशेषके धर्म-विशेषका प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ-विशेष नहीं है, वह सार्वकालिक उदय-विलयशील प्रपञ्चका शाश्वत धर्मबोध है। किसी भी राष्ट्र, जाति, लिङ्ग या समाजकी सीमामें वह आबद्ध नहीं है। सर्वदेश, सर्वकाल, सर्व व्यक्तियोंके लिए अधिकारानुसार अर्थात् सबकी योग्यताके अनुसार सबके हितके लिए अनुष्ठेय धर्मका प्रतिपादन करता है।

यह अनन्त वेदराशि दो प्रकारसे पदार्थका निरूपण करती है—१. सिद्ध वस्तुका वर्णन; २. साध्यवस्तु और उसकी प्राप्तिके उपाय। पहला ब्रह्म है और दूसरा धर्म। सिद्धवस्तुका साक्षात्कार होता है तद्विषयक अविद्याकी निवृत्तिसे। अविद्याकी निवृत्ति होती है तद्विषयक विद्यासे। ब्रह्मविद्या है ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान। एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञान होता है यह वेदकी प्रतिज्ञा है। इसके लिए स्वर्ण, लौह आदि मूल धातुओंके दृष्टान्त हैं। प्रतीयमान सब कुछ ब्रह्म मात्र ही है। केवल प्रज्ञानघन तन्मात्र आत्माका कभी बाध नहीं हो सकता। आत्मासे भिन्न होनेपर ब्रह्मको कल्पित या जड़ मानना पड़ेगा। महावाक्य स्पष्ट रूपसे आत्मा और ब्रह्मकी एकताका वर्णन करते हैं। अतएव ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्मा-ब्रह्मकी एकताका बोध भेदका बाध है। अद्वय ब्रह्म ही सिद्धवस्तु है। शम, दम आदि सम्पन्न जिज्ञासु अधिकारीके लिए वेद इसीका निरूपण करता है।

जिनकी दृष्टि विशेष-विशेष सृष्टिमें तादात्म्यापन्न हो गयी है, ब्रह्मात्माके सिद्ध-स्वरूपके अज्ञानसे परिच्छिन्न पदार्थमें अहंता-ममता करके जड़प्राय: हो गयी है, जो अपनेको कर्ता, भोक्ता, संसारी, परिच्छिन्न

मानकर दृश्यके मोहजालमें फँस गये हैं; उनको वहाँसे छुड़ानेके लिए मातासे भी अधिक वात्सल्यवती, भगवती श्रुति क्रममार्गका उपदेश करती है। स्वच्छन्द-प्रवृत्तिका निरोध ही क्रम-मार्गका प्रारम्भ है। दुश्चरित, दुर्वासना, दुर्गुण, चाञ्चल्य आदि दोषोंका परिहार करके अन्तः-करणको शुद्ध करना और सिद्धवस्तुके साक्षात्कारके योग्य बनाना, इसी धर्मका कार्य है। धर्म-साधनामें क्रमकी स्वीकृति ही सम्प्रदायका मूल है। साधन अनेक हैं। उनका फल है अन्तःकरणकी शुद्धि, वही साध्य है। धर्मानुष्ठान साध्याकार वत्तिको उत्पन्न और स्थिर करता है। शुद्धाकार वृत्ति शुद्ध चिन्तनकी धारा है। उसीमें शुद्धतत्त्वकी जिज्ञासा और महा-वाक्यके निमित्तसे भ्रम-निवर्तक ब्रह्मात्मैक्यप्रमाका जन्म होता है। वह भ्रमको मिटाकर निष्प्रयोजन हो जाती है और स्वरूपमें स्वयं बाधित हो जाती है।

धर्मका वास्तविक प्रयोजन : आत्म-पदार्थ शोधन :

अन्तःकरण शुद्धिके लिए पाँच बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है, १. कर्म शुद्धि; २. भोग शुद्धि; ३. भाव शुद्धि; ४. अहंता शुद्धि; ५. शुद्ध चिन्तन। अन्तःकरण चिन्तनात्मक है। अतः जब चिन्तन शुद्ध हो जाता है तब अन्तःकरण भी शुद्ध हो जाता है। कल्पित वस्तुके त्यागके बिना अकल्पित यथार्थ परमार्थ सत्यवस्तुका साक्षात्कार नहीं होता।

धर्मानुष्ठानके कुछ अंग हैं। उनसे अधिकार सम्पत्तिके सम्पादनमें अत्यधिक सहायता मिलती है। जैसे वर्ण-व्यवस्था। माण्डूक्योपनिषद्में तत्त्वका निरूपण करनेके लिए साधन और सिद्धिके रूपमें आत्माका चार विभागोंमें निरूपण किया है। वैश्वानर शूद्र है और तैजस वैश्य, प्राज्ञ क्षत्रिय है तथा तुरीय ब्राह्मण है। सेवा, व्यापार, वाणिज्य, उपसंहार एवं तत्त्वज्ञान इनकी वृत्ति हैं। इसी क्रमसे आश्रम-व्यवस्था भी है। ब्रह्मचारी वैश्वानर है तथा गृहस्थ तैजस, वानप्रस्थ प्राज्ञ और संन्यासी तुरीय हैं। जाग्रत्-स्वप्न आदिकी उपाधिसे जैसे आत्मामें गुण-धर्मका आरोप होता है, इसी प्रकार चारों वर्णों एवं आश्रमोंके भी गुण-धर्म होते हैं। जैसे स्थानानुरूप स्थानीका अनुसन्धान करनेसे आत्म-पदार्थका विवेक होता है वैसे ही साधार वर्णाश्रम-व्यवस्थाका चिन्तन एवं तदनुकूल धर्मानुष्ठानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। अनुष्ठानसहित चिन्तन बुद्धिको

निर्मल एवं तदाकार बना देता है। अतएव धर्मज्ञानको धर्मानुष्ठानकी तथा धर्मानुष्ठानकी धर्मज्ञानकी अपेक्षा होती है। जो अध्यात्मको ठीक-ठीक नहीं समझता वह वेदज्ञान एवं क्रिया-फलसे भी वञ्चित हो जाता है; ऐसा शास्त्रवचन है।

निषिद्ध कर्मानुष्ठानके कारण जितनी अशुद्धियाँ उत्पन्न हुई वह सब अन्तःकरणमें ही हुईं। ईश्वरमें कोई अशुद्धि नहीं होती। इसलिए अन्तःकरण ही शुद्ध किया जाता है, ईश्वर शुद्ध नहीं किया जाता। अपने अन्तःकरणकी कल्पनाके अनुसार ही ईश्वरमें गुण-दोष प्रतीत होते हैं। यहाँ तक कि अन्तःकरणमें जबतक भ्रम है और उसका मूल अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है तभीतक ईश्वरके स्वरूपमें मायाका भी आरोप होता है। मायाके आरोपसे विनिर्मुक्त ईश्वर ब्रह्म ही है। अतएव बुद्धिगत दोष-आवरणके निवारणके लिए ज्ञान एवं मल-विक्षेपके निवारणके लिए धर्मानुष्ठानकी आवश्यकता होती है।

धर्म-विवेक :

धर्मके चार रूप हैं—१. नित्य कर्म-सन्ध्यावन्दनादि, २. नैमित्तिक-कर्म—संक्रान्ति, ग्रहण आदिके अवसरपर कर्तव्य, ३. काम्यकर्म—स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए यज्ञ-यागादि, और ४. प्रायश्चित्तकर्म—ज्ञात-अज्ञात त्रुटियोंके दोषको मिटानेके लिए शास्त्रोक्त कर्म। इन चारोंका अन्तःकरणकी शुद्धिमें उपयोग है। ये चार प्रकारसे अन्तःकरण शुद्ध करते हैं—१. अधःपतनके कारणभूत प्रत्यवायको मिटा देते हैं। २. जन्म-जन्मान्तरके या सङ्गदोषसे उत्पन्न मलविक्षेपको भगा देते हैं। ३. अनात्म-चिन्तनसे वैराग्य होनेके कारण आत्म-चिन्तनके लिए उन्मुख करते हैं अर्थात् जिज्ञासा देते हैं। ४. इन्हींके द्वारा ज्ञानोत्पत्ति भी होती है। इस प्रकार धर्मानुष्ठान हमारे जीवनको पूर्णताके सन्निकट पहुँचा देता है।

धर्ममें पुरुषार्थ-सिद्धि :

शास्त्रोक्त सकाम-कर्मसे भी अन्तःकरण शुद्धि होती है; क्योंकि अलौकिक स्वर्ग-सुख ब्रह्मलोक आदि भोगनेका सामर्थ्य अन्तःकरणमें नहीं रहता। धर्मानुष्ठानके द्वारा उनके भोग-योग्य अन्तःशरीरका निर्माण होता है, वह लौकिक शरीरसे विलक्षण होता है। सकाम-कर्म अशुद्धियोंको दूर करके इस शुद्ध सात्त्विक शरीरको उत्पन्न करता है। यदि बीचमें ही

कदाचित् वैराग्यका उदय हो जाय तो परमार्थस्वरूप परमात्माका भी साक्षात्कार हो जाता है।

संसारके पदार्थ इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। उनकी प्राप्तिकी इच्छा अर्थ-पुरुषार्थके नामसे कही जाती है। वे अपने शरीर और मनसे बाहर रहते हैं। उनका संयोग श्रमसाध्य है और वियोग नैसर्गिक। उनकी प्राप्तिमें पराधीनता है, चिन्तनमें तन्मयता होनेसे जड़ता है, अप्राप्त होनेपर दुःख है, प्राप्त होनेपर भी विनाशका भय है। अर्थमें भी सुख नहीं है। अर्थके मिलनकी कल्पना या उसके मिलनकी अनुभूतिमें सुख है? सुख सर्वथा एक मानसिक अनुभूति है। बाह्य-पदार्थोंमें, मानसिक अनुभूतिके लिए, निमित्त होनेकी कल्पनाभर की जा सकती है। बाह्य-पदार्थ स्थान, काल, अभिरुचि, अवस्था अथवा स्वगत परिवर्तनके कारण कभी सुख देते हैं कभी दुःख देते हैं। इसलिए कामनापूर्तिके अनुकूल होनेपर ही अर्थ पुरुषार्थ होता है। प्रतिकूल परिस्थितियोंमें वही दुःखप्रद हो जाता है। अर्थ मुख्य पुरुषार्थ नहीं है, काम पुरुषार्थका अंग होनेसे गौण पुरुषार्थ है।

अर्थ बहिरङ्ग है, काम अन्तरङ्ग है। यह अन्तःकरणमें ही रहता है, बाहर नहीं। मनोरूप होनेसे इसकी गति उच्छृङ्खल है। अनुभूतके संस्कार, दूरकी वस्तुओंके सम्बन्धमें मनोराज्य, प्राप्तके प्रति ममता और अभिमान, भोगमें आत्मविस्मृति, ये सब काम-पुरुषार्थके सहचर हैं। यह सब होनेपर भी काम-पूर्तिमें सुख है, इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह अनुभव-सिद्ध है कि अभिरुचिके अनुरूप भोग प्राप्त होनेपर सुख होता है। तो क्या इसको रुचिपर ही छोड़ देना चाहिए? चाहे जिस वस्तु और व्यक्तिपर स्वत्व स्थापित कर लें, उसका उपभोग कर लें, ऐसा क्या अपने हितमें या समाजके हितमें उपयोगी है? ऐसी स्थिति तो पशुसे भी गयी बीती होगी। इसलिए बहिरङ्ग-अर्थ और अन्तरङ्ग-काम दोनोंके नियन्त्रणके लिए जीवनमें धर्मकी आवश्यकता है। धर्मका निवास बुद्धिमें है। उपनिषद्का वचन है—विज्ञान ही यज्ञका विस्तारक है। अर्थ-संग्रह और भोग-प्रवृत्तिका नियन्त्रण करनेके लिए अन्तर्यामी परमेश्वरकी ही एक शक्ति बुद्धिमें अवतीर्ण होती है। वह बुद्धिस्थ होकर ही उचित-अनुचित, ग्राह्य-त्याज्य, कर्तव्याकर्तव्यको इंगित करता रहता है। धर्ममें स्थिरता है, प्रतिष्ठा है, विश्वास है,

आत्मबल है और प्रज्ञाकी अपराधीनता है। विषयवासनाका आक्रमण होनेपर भी प्रज्ञा हारती नहीं, धर्मके बलपर प्रतिष्ठित रहती है। लक्ष्योन्मुख जीवनको धर्म ही आगे बढ़ाता है और पथभ्रष्ट होनेसे त्राण करता है। वह कल्याणका मूल है, निर्वाणका सोपान है।

धर्म उच्छृङ्खल अर्थ-तृष्णाको संयत करता है भोगलिप्साको नियमित करता है। इस प्रकार दुराचरणके आन्तरिक निमित्तोंको ही कुण्ठित कर देता है। धर्मके दो काम हैं—स्वच्छन्द-प्रवृत्तिका अवरोध और निवृत्तिकी परिपुष्टि। अवरोधसे अर्थ-कामपर नियन्त्रण होता है और निवृत्तिकी परिपुष्टिसे मोक्ष पुरुषार्थकी प्राप्ति में सहायता मिलती है। इस प्रकार धर्म पराधीनताके बन्धनको काटता है और मुक्तिका मार्ग उन्मुक्त कर देता है। चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्षका निवास आत्मामें है, वह आत्मरूप ही है। अतएव निवृत्तिकी परिपुष्टिके बिना उसकी उपलब्धि नहीं होती। धर्मका चाहे कोई भी अंग हो वह दुःखप्रद संसारके किसी-न-किसी अंशका निवर्तक होता है जो किसी दोषका निवर्तक नहीं है। वह धर्म ही नहीं है।

मिथ्याज्ञान-मूलक राग-द्वेष मोहरूप दोष ही प्रवृत्ति-विस्तारके मूल कारण हैं। योग-दर्शनके अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश-रूप क्लेशोंका मूल भी अविद्या ही है। वे अविद्याके खेतमें पनपते-फलते एवं फूलते हैं। अविद्या स्वयं महाक्लेश है। वेदान्त अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित स्वतःसिद्ध आत्माको ही मोक्षकी संज्ञा देता है। अतएव मोक्ष-पुरुषार्थीको निवृत्तिप्रधान धर्मका ही आश्रय लेना चाहिए।

परमधर्म : योग

योगाङ्गोंपर एक दृष्टि :

निवृत्तिप्रधान धर्म है 'योग'। याज्ञवल्क्यने आत्म-दर्शनके साधन योगको 'परम धर्म' कहा है। योग पौरुष-साध्य है। जीवके द्वारा अनुष्ठित होता है। उसकी भी एक विधि है। वह त्वं-पदार्थ प्रधान है। द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान ही योग है। इसलिए निवृत्ति-प्रधान साध्य धर्मके अन्तर्गत योगका भी सन्निवेश है। योगके आठ अंग हैं। अंगोंके क्रमपर एक चलती-फिरती दृष्टि डाल लें। पहला **यम**—यमके पाँच विभाग हैं—सत्य-अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य। शत्रु चार हैं और निवर्तक

पाँच हैं। कामका निवर्तक ब्रह्मचर्य है। सबके अन्तमें इसकी गणना इसलिए है कि पराधीन करनेवाली वृत्तियोंमें यह सबसे प्रमुख है और पहलेके चार गुणोंके सहकारसे ही इसपर विजय प्राप्त की जा सकती है। कामकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है। वह बार-बार जीने-मरनेका स्वाँग करता रहता है। आत्मासे अतिरिक्त देशान्तर, कालान्तर या वस्त्वन्तर रूपमें विद्यमान या वर्तमान किसी वस्तुको चाहना काम है। न चाहनेके रूपमें भी काम ही रहता है। इसीसे कामरूपको 'दुरासद' कहते हैं। उसको पकड़ पाना कठिन है। नित्यप्राप्त सत्ताके खो जानेकी भ्रान्ति और अन्यकी प्राप्तिकी इच्छा कामका मूल है। इसकी निवृत्तिके लिए अद्वय तत्त्वका, ब्रह्मका, आत्मरूपसे ज्ञान अपेक्षित है। उसी ब्रह्मकी प्राप्तिकी साधनाका नाम 'ब्रह्मचर्य' है। यह स्त्री-पुरुषकी परस्पर कामनासे लेकर भ्रम-प्रमा-मूलक वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा तक पहुँचता है। ब्रह्मके लिए चर्या ही इस इच्छाको मिटा सकती है।

यमों द्वारा व्यावृत्त्य :

स्तेय, लोभ एक दुर्गुण है। यह दो रूप धारण करके आता है। जिस वस्तुपर अपना स्वत्व नहीं है उसको किसी प्रकार प्राप्त करना, इसका नाम 'स्तेय' है। दूसरा रूप है—जो वस्तुएँ अपने पास हैं, जिनपर अपना स्वत्व है उन्हें अधिक-से-अधिक संग्रह करके अपने साथ रखें, परिग्रह करें, इसका नाम 'परिग्रह' है। लोभके इन दोनों तरुण-तनयोंको वशमें करनेके लिए अस्तेय और अपरिग्रह नामकी दो वृत्तियाँ आवश्यक होती हैं, पहले अन्याय-पूर्वक उपार्जनका परित्याग, फिर आवश्यकतासे अधिक संग्रहका परित्याग।

काम और लोभकी पूर्ति न होनेपर मनुष्यके मनमें क्रोधका उदय होता है। इच्छापूर्तिमें बाधा डालनेवालेके प्रति द्वेष भी होता है। द्वेष और क्रोध ज्वलनात्मक-वृत्तिके रूपमें प्रचण्ड हो उठते हैं और हिंसा तथा विद्रोहके रूपमें झण्डा उठाते हैं। यह क्रोध आग है और हिंसा उसकी ज्वाला। हिंसाके निरोधके लिए अहिंसाकी आवश्यकता होती है। अहिंसा आत्मस्वरूपके अनुरूप अन्तःकरणका एक गुण है। यह स्वरूप-स्थितिके अधिक अनुकूल पड़ता है। यह करुणा तथा क्षमासे भी अन्तरङ्ग है; क्योंकि वे दोनों व्यवहार-दशामें ही रहते हैं। अहिंसा शान्तिके रूपमें व्यवहारशून्य दशामें भी विद्यमान रहती है।

यमोंका प्रयोजन :

हमारी वाणी, कर्म-कलाप, कामसंकल्प, विचार-विवेक, असत्यसे अनुविद्ध हो गये हैं। हमारी बुद्धि अधिकांश असत्यको ही सत्यके रूपमें ग्रहण करती है और व्यवहार करती है। व्यवहारमें माता के लिए सत्य अलग होता है, पत्नीके लिए अलग। यह सत्यकी विभाजक-रेखा समाधि लगाये बिना टूट नहीं सकती और स्वरूप-सत्यका साक्षात्कार होनेके लिए ऐसा आवश्यक है। ऐसी अवस्थामें यदि केवल वाणीसे ही सत्य-भाषण प्रारम्भ कर दिया जाये तो सत्य क्या है, यह जिज्ञासा जाग जायेगी। हम सत्यको जानेंगे तब सत्यको बोलेंगे। क्या बौद्धिक, मानस या ऐन्द्रियक सत्य ही सत्य है? आत्मसत्य सर्वथा गुप्त-लुप्त-सुप्त हो गया है? आत्मसत्य क्या है? इस जिज्ञासाका बीज सत्य-भाषणमें निहित है। आपकी दृष्टिसे जो असत्य है वह न बोलें, न करें, न सोचें। आपके जीवनमें एक दिन ऐसा आयेगा जब आप वास्तविक मौनका महत्त्व समझ जायेंगे। सत्यके साक्षात्कारके बिना बोलनेमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी। सत्यकी अभिव्यक्ति मौनमें होती है।

कहना न होगा कि अष्टाङ्गयोगका यह प्रथम अंग यम न केवल अपने लिए हितकारी है, प्रत्युत लोक व्यवहारमें समाज-सेवाके लिए भी बहुत उपयोगी है। धर्म-कक्षामें साधारण धर्मका सार यही है। वेदान्तके साधन-चतुष्टयमें शम-दम आदि रूप षट्-सम्पत्ति भी इसीका परिपाक है। यह यम ही आदिमें धर्म है और अन्तमें अधिकार-सम्पत्ति। यह जिज्ञासुके जीवनमें इतना घुल-मिल जाता है कि तत्त्वज्ञान होनेपर भी इसमें शिथिलता नहीं आती। जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखका आधार बनकर जीवन्मुक्त पुरुषके जीवनमें उल्लसित होता रहता है। अन्तर्मुखताके साधनोंमें यही प्रथम है, इसके बिना किसी साधनकी नींव मजबूत नहीं होती।

दूसरा अंग : नियम :

योगका दूसरा अंग है **नियम**। यह व्यक्तिगत जीवनके निर्माणका आवश्यक साधन है। एक वस्तु जब दूसरी वस्तुके साथ मिश्रित हो जाती है तब दोनों ही अपने शुद्ध रूपमें नहीं रहते। मिट्टी और पानी मिलकर कीचड़ वन जाते हैं। शक्कर और जलका मिश्रण शर्बत हो

जाता है। न शुद्ध जल रहा, न शुद्ध शक्कर। इसी प्रकार मनुष्यका चरित्र भी भिन्न-भिन्न वस्तुओं और व्यक्तियोंके समागमसे अपने शुद्ध रूप अर्थात् पवित्रताको खो बैठता है। आत्मा-अनात्माका मिश्रण भी अशुद्धि ही है। मनुष्यके चरित्रमें जब पवित्रताकी रुचि उदय होती है तब वह बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग दोनों ही प्रकारसे पवित्र रहनेका प्रयास करता है। शरीरपर मैल चढ़नेसे धोनेकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार मनमें शत्रु-मित्रके प्रवेशसे क्रोध-काम-रूप मलिनता आजाती है और उसके निवारणके लिए द्वेषकी आग बुझानी पड़ती है और रागका रंग छुड़ाना पड़ता है। ऐसा कोई भी रंग नहीं है जो शरीरके बहिर्देश या अन्तर्देशमें प्रवेश कर जाय और उसको निकालना न पड़े, इसको शौच कहते हैं। यह अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके मलको प्रक्षालित करनेकी प्रक्रिया है। स्नान, सन्ध्या-वन्दनगत अघमर्षणसे यह सम्पन्न होता है। शरीरमें जो भोगका अभ्यास हो गया है वह गहराईमें उतर गया है। भोगका अभ्यास एक रोग है, वह जितना-जितना बढ़ता है उतना-ही-उतना राग-संस्कार घनीभूत होता है, साथ ही भोगके कौशल बढ़ते हैं। भोगी पुरुष किसी-न-किसीको दुःख पहुँचाकर ही भोग करता है। अतएव भोगवृत्तिके संकोचका नियम लेना चाहिए। अपनी रुचिके अनुसार कुछ न हो, न मिले, कोई न बोले तो थोड़ा कष्ट सहकर भी अपनेको संयत रखना चाहिए। संयमहीन मनुष्य पशु हो जाता है। चाहे जिस खेतमें, चाहे जिसकी खेतीपर मुँह मार दिया। जो स्वधर्म-पालनके लिए कष्ट सहन नहीं करता वह धर्मात्मा नहीं, ढोंगी है। योगसम्बन्धी नियममें जो तप है वही वेदान्तियोंकी षट् सम्पत्तिमें तितिक्षा बनकर प्रकट होती है। तपकी माँ है धृति, बेटी है तितिक्षा। जिसके जीवनमें तप नहीं है वह किसी मन्त्रकी रक्षा या ज्ञानके धारणमें समर्थ नहीं हो सकता।

शौच है—तन-मनमें बाहरसे लगे हुएको निकाल देना। तप है भीतर-ही-भीतर तन-मनको तपाकर कुन्दन बना देना। इसके बाद अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होनेके लिए तत्सम्बन्धी ज्ञान तथा तन्मयता प्राप्त करनेके लिए स्वाध्यायकी आवश्यकता पड़ती है। धर्ममें स्वाध्यायका अर्थ होता है सांगवेदोंका अध्ययन। कम-से-कम अपनी शाखाके वेदोंका अध्ययन। उपासनामें स्वाध्यायका अर्थ होता है इष्ट देवताके दर्शनके लिए जप। जपसे प्रपञ्चकी विस्मृति और बारम्बार लक्ष्यका स्फुरण होता

है। स्वाध्याय बार-बार प्रपञ्चका विस्मरण कराता है और लक्ष्यका स्फुरण। इससे अभ्यास एवं वैराग्यकी परिपुष्टि होती है। जपमें स्वरूपतः अभ्यास है, दुहराना है और लक्ष्यसे अतिरिक्त वृत्तिका उच्छेद है। स्वाध्यायसे लक्ष्यकी ओर अभिरुचि बढ़ती है।

साधकके लिए यह आवश्यक है कि अपने साधन-शरीरको परिपुष्ट रखनेके लिए किसी बाह्य वस्तुके लिए व्याकुल न हो। निर्वाह-मात्रके लिए ही खान-पान, परिधान, शयन-स्थान अपेक्षित हैं, सुख लेनेके लिए या ममता करनेके लिए नहीं। यदि बाह्य वस्तुओंसे ही अपनेको गौरवशाली महामहिम माना जाय तो अन्तरमें जो गरिमा सुषुप्त है वह जाग्रत् नहीं होती; क्योंकि उसकी ओर पीठ हो जाती है। आप असंग आत्मा होनेसे श्रेष्ठ हैं कि बहिरङ्ग पद-प्रतिष्ठा, प्रशंसा, भोग-रागकी प्राप्तिसे? आपकी आत्मतुष्टि कहाँ है? **सन्तोष**के बिना साधना निष्प्राण हो जाती है। हाँ, वह सन्तोष लक्ष्य-प्राप्तिकी साधनासे नहीं, बाह्य-वस्तुओंकी लिप्सासे विरतिके रूपमें होना चाहिए।

यह जीव जबतक शिवसे एक नहीं हो जाता, जबतक पूर्णता एवं अपूर्णता—प्रतीति दृष्टि, उल्लास या कल्पना मात्र नहीं हो जाती, तबतक अपनी अल्पज्ञता और अल्पशक्तिताके बन्धनसे मुक्त नहीं हो पाता। जीव जीव ही है। साधनकी सभी कक्षाओंमें जीवत्व अनुगत रहता है। जीवत्व-के साथ निर्बलता जुड़ी हुई है। वह कभी उदास होता है, कभी निराश होता है, कभी थोड़ी देरके लिए उल्लास भी तरंगायित हो जाता है। जैसे शरीर स्वस्थ-अस्वस्थ होता रहता है, वैसे मन भी खिलता-मुरझाता रहता है। जैसे शरीरके लिए चिकित्सक और चिकित्साकी आवश्यकता होती रहती है वैसे ही मनके लिए भी। मनके रोगोंकी चिकित्सा है—**ईश्वर-प्रणिधान**। ईश्वर शाश्वत है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति है, करुणा-वरुणालय है, परम गुरु है। जैसे साँसके साथ हवा रहती है, आँखके साथ प्रकाश-ज्योति रहती है, वैसे ही प्रत्येक मनमें जो सत्त्वांश है वह महासत्त्व शरीर परमेश्वरका ही रूप है। मन कण है तो ईश्वर मृत्तिका, मन बिन्दु है तो ईश्वर सिन्धु, मन घट है तो ईश्वर घटाकाश। अतएव 'ईश्वरमें स्वतः समर्पणकी विद्यासे मनको देखना प्रणिधान है।' ईश्वर है प्रकृष्टनिधान। सत्त्वात्मक मनका खजाना है, कोश है। स्थिति-मति-गति-रतिका कारण है—परमेश्वर। उसमें अपने मनको समर्पित करना,

उसीके उद्देश्यसे अपने समस्त, क्रिया-कलापोंका अनुष्ठान ईश्वरके प्रति आत्म-समर्पण 'प्रणिधान' अथवा शरणागतिभाव है। क्या हो रहा है, मिल रहा है, किया जा रहा है, बोला जा रहा है? इसकी ओर न देखकर सर्वत्र परम गुरु परमेश्वरका करुणामय, हितमय वरद हस्त-कमल ही देखना चाहिए। उसकी उपस्थितिमें, उसकी आँखोंके सामने जो कुछ हो रहा है उसमें अनिष्टकी सम्भावना ही क्या है? इस सम्पूर्ण समर्पणसे साधक लौकिक चिन्ताओंसे मुक्त होकर तथा परमार्थकी प्राप्तिमें आशावान होकर विश्वासपूर्वक दृढ़तासे अपने साधनमें संलग्न हो जाता है। जहाँ भक्तिमार्गमें समर्पणको साधनकी पूर्णता मानते हैं वहाँ योगमार्गमें समर्पणको योग-साधनामें सहायक अङ्गीकार करते हैं।

यम-नियम साधन-मात्रकी प्रथम भूमिका है। साधन-मार्गपर चलनेके लिए ये अत्यन्त आवश्यक एवं अनिवार्य पाथेय हैं। ये मार्गमें मिलनेवाले प्रलोभनों एवं प्रतिबन्धोंसे रक्षा करते हैं। किसीको हानि पहुँचाये बिना एवं स्वयं हानि उठाये बिना आगे बढ़नेके लिए यही अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग बलसम्बल हैं।

योग-सिद्धान्त और साधना :

योग-सिद्धान्तमें सृष्टि दो प्रकारकी है; (१) प्रकृतिका परिणाम (२) अविद्याका परिणाम। अविद्या ही मैं-मेरा, अपना-पराया एवं भयकी सृष्टि करती है। इन्हींको योगकी भाषामें अस्मिता, राग-द्वेष तथा अभिनिवेश कहा जाता है। ये क्लेश हैं। धन-हरण, जन-मरण अथवा भवन-दहन क्लेश नहीं हैं, क्लेश है—धन, जन, भवनमें ममता एवं अहंता। यह अविद्याके कारण ही होती है। जब प्रकृति-पुरुषका विवेक होता है और समग्र सृष्टिप्रपञ्च प्रकृतिमें समाधिस्थ कर दिया जाता है जैसे मुर्देको कब्रमें गाड़ दिया गया हो तब ज्ञानस्वरूप द्रष्टा समाधिमें नहीं गड़ता; वह समाधिसे पृथक् होकर विवेक-ख्यातिके द्वारा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। जबतक विवेक-ख्याति नहीं होती तबतक सम्प्रज्ञात-समाधि होती है। विवेक-ख्यातिके अनन्तर असम्प्रज्ञात समाधि हो जाती है। योगके अंगोंमें यह समाधि अन्तिम अंग है, इसलिए साधनाके प्रारम्भसे ही समाधिका प्रारम्भ हो जाता है। योग-सिद्धान्तके अनुसार तत्त्व केवल दो ही हैं—पुरुष और प्रकृति। असंग द्रष्टा पुरुष अपरिणामी है। प्रकृति

क्षण-परिणामी है। प्रकृति ही प्रथम कारण है। यह अनेक रूप धारण करती है। पञ्चभूत अन्तिम कार्य हैं। बीचके तत्त्व अपने कार्यके प्रति कारण हैं एवं अपने कारणके प्रति कार्य हैं अर्थात् उभयात्मक हैं। पुरुष इस कार्यकारणात्मक सृष्टिसे विलक्षण असंग एवं उदासीन है। वह कभी किसी रूपमें परिणत नहीं होता। उसके विविक्तरूपका साक्षात्कार समाधिसे हो जाता है। योगकी भाषामें उसे साक्षात्कार नहीं कहते, स्वरूपमें अवस्थान कहते हैं। उसके पूर्वके जितने साधन हैं, उनमें समाधि किसी-न-किसी रूपमें अनुगत रहती है।

प्रकृति त्रिगुणमयी है। गुण हैं सत्त्व, रज, तम। ये परिणामके क्रमसे प्रलयके समय साम्यावस्थामें होते हैं और सृष्टिके समय वैषम्य दशामें। साधन तमसे रजमें, रजसे सत्त्वमें वृत्त्याकार-सत्त्वसे शान्तसत्त्वमें प्रतिष्ठित करता है। यही कारण है कि आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार तीनों अपने-अपने स्थानपर समाधिके लिए आवश्यक साधन हैं।

यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रकृतिका अन्तिम कार्य पञ्चभूत ही है। पशु-पक्षी-मनुष्य आदिके जो विविध शरीर हैं वे कार्य नहीं हैं, कार्याभास हैं तथा पञ्चभूतमें क्लृप्त अथवा कृत्रिम हैं। कार्यका कार्य नहीं हुआ करता। अतएव शरीरोंका आदि एवं अन्त पञ्चभूत ही हैं। उन्हींमें ये दीखते हैं और समाप्त हो जाते हैं। इसमें मैं-मेरा अविद्या अथवा अविवेककी रचना है, प्रकृतिकी रचना नहीं। अतः शरीरोंको योग-साधनके द्वारा द्रव्य-समाधि दी जाती है। शरीरकी स्थिरता उसे पञ्चभूतसे एक कर देती है। व्यष्टि-मूढ़ता समष्टि-मूढ़तासे एक हो जाती है। यही शरीरकी द्रव्य-समाधि है। यदि किसी प्रकारकी पीड़ाका अनुभव किये बिना आरामसे शरीर चिरकालतक स्थिर रह जाय और चेतनाका लोप न हो तो तमोगुणका व्यष्टि-कार्याभास समष्टि-कार्यमें समाधिस्थ हो गया। यही आसनकी सिद्धि है। इससे क्षुधापिपासापर विजय प्राप्त हो जाती है। पञ्चभूतोंका जीवन ही शरीर-जीवनके लिए पर्याप्त हो जाता है।

आसन और प्राणायाम :

रजोगुण विक्षेप-रूप है। उसकी प्रधानतासे क्रियाएँ होती हैं, विक्रिया भी होती है। अविद्याके कारण देहमें मैं-मेरा होता है और तद्गत क्रिया-

शक्ति प्राणमें भी मैं-मेरा होता है। इसीसे शरीरमें श्वासोच्छ्वास, रक्त सञ्चार, पाचन, मलापसरण केशवृद्धि, आंगिक-परिवर्तन और तो क्या, क्रिया-विक्रिया सब-की-सब होती रहती हैं। प्राणायामकी साधना इन क्रिया-विक्रयाओंकी प्रक्रियाको ठप्प कर देती है, केवल श्वासक्रिया मात्र शेष-रहती है। समष्टिगत क्रिया ही व्यष्टिकी क्रिया हो जाती है। समष्टि क्रियामें व्यष्टि-क्रियाकी समाधि ही प्राणायामकी सिद्धि है। इससे देहमें स्वाभाविक बलका विकास और दीर्घजीवनका प्रकाश भी आजाता है। प्रारम्भमें आसन-प्राणायाम दोनोंके अनेक भेद हो सकते हैं, परन्तु समाधि-के लिए उपयोगी एक ही आसन और एक ही प्राणायाम होता है। हिलते हुए या सोते हुए शारीरिक आसन योगके लिए उपयोगी नहीं हैं। पहलेमें विक्षेप है और दूसरेमें लय है। अतएव जैसे समाधिके लिए बैठे हुए शरीरका आसन उपकारक है वैसे ही विविध प्राणायामोंमें कुम्भक-प्रधान प्राणायाम ही योगके लिए उपयोगी होता है।

योगाङ्गोंमें प्रत्याहार :

इन्द्रिय एवं विषयोंका सन्निकर्ष ध्यानात्मक ही होता है। आसनसे द्रव्यशक्ति, प्राणायामसे क्रियाशक्ति एवं प्रत्याहारसे विविध ज्ञानात्मक इन्द्रियशक्तिको समाधिस्थ किया जाता है। इन्द्रिय एवं विषय दोनोंकी शक्ति सीमित होती है। वे अपने-अपने मण्डलमें परस्पर मिलते रहते हैं। वे कितनी दूरीतक, कितनी देरतक और किस प्रकार स्वयंमें मिलते-बिछुड़ते हैं, यह उनकी शक्तिपर अवलम्बित है। वस्तुतः सारी सृष्टिका चित्त-सत्त्व एक है। इन्द्रियोंकी उपाधिसे भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय-शक्तियाँ चित्त-सत्त्वकी वृत्ति हैं। जैसे जल बहनेके समय तरंगायित होता है, स्थिरताके समय शान्त होता है; उसी प्रकार इन्द्रियोंके द्वारा सत्त्वात्मक ज्ञान-शक्ति भी पृथक्-पृथक् विषयोंको ग्रहण करते समय वृत्ति रूपसे विक्षिप्त होती है। और विषयोंका ग्रहण न करनेपर अपने गोलकमें शान्त हो जाती है। इन्द्रिय-वृत्तियोंका अपने-अपने विषयोंका आहार न करके अपने-अपने गोलकमें स्थिर हो जाना ही **प्रत्याहार** है। ऐन्द्रियक ज्ञानवृत्तियोंकी समाधि ही प्रत्याहारका मुख्य रूप है, इससे विषयोंके आकर्षण, प्रलोभन एवं तद्-जन्य प्रतिबन्धको निवृत्त करनेमें पूरी सहायता मिलती है। अतएव योगके अंगोंमें आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार द्रव्य-समाधि, क्रिया-

समाधि तथा ऐन्द्रियक वृत्ति-समाधिके द्वारा चित्त-वृत्ति-निरोधमें पूर्णतः उपयोगी हैं। इन्हींके द्वारा शरीर कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रियोंका वशीकरण सम्पन्न होता है। **निरोधका अर्थ मारण नहीं होता, स्वायत्तीकरण होता है।** इन तीनोंमें इतना अन्तर अवश्य है कि आसन और प्राणायाम तो बिना वैराग्यके केवल अभ्याससे किये जा सकते है। परन्तु प्रत्याहार अपनी स्थिरताके लिए वैराग्यकी अपेक्षा रखता है। यम-नियममें धर्म, आसन-प्राणायाममें अभ्यास और प्रत्याहारकी स्थिरतामें वैराग्य हेतु है। अपने लक्ष्यको बारम्बार स्पर्श करना अभ्यास है। लक्ष्यके विरोधीकी उपेक्षा कर देना वैराग्य है। लक्ष्यके विरोधीके प्रति भी स्पर्धा, द्वेष, क्रोध या ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए।

धारणा, ध्यान, समाधि और उनका विज्ञान :

इन पाँच साधनोंके बाद इनकी अपेक्षा तीन अन्तरङ्ग-साधनोंका प्रारम्भ होता है, उनका नाम है धारणा, ध्यान और समाधि। इस बातपर बहुत कम लोगोंका ध्यान जाता है कि न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसामें द्रव्यरूपसे स्वीकृत देश-काल योगाभ्यासमें कहाँ लुप्त हो जाते हैं? देश तथा काल योगसिद्धान्तमें पदार्थ ही नहीं हैं। वृत्तिके संकोच-विस्तारका नाम 'देश' है और उदय-विलयके क्रमका नाम 'काल' है। ये न प्रकृति हैं, न विकृति हैं, न उभयात्मक हैं। वृत्ति-निरोधसे ही इनका निरोध सम्पन्न हो जाता है। जैसे पञ्चभूतोंमें कल्पित आकृतियों अर्थात् कार्याभासोंको वस्तु समझना अविवेक है, वैसे ही व्यष्टि-समष्टि देश तथा व्यष्टि-समष्टि कालको वृत्तिसे पृथक् मान बैठना अविवेक ही है। धारणाके द्वारा देशाकार-वृत्तिका मुख्यरूपसे संकोच किया जाता है और ध्यानके द्वारा प्रधानतया कालाकारवृत्तिका संकोच किया जाता है। वृत्तिके संकोचनसे साक्षात् सम्बन्ध होनेके कारण ही पूर्वोक्त तीन साधनोंसे ये दोनों अन्तरङ्ग हैं।

पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर, ऊर्ध्व-अधः, अन्तर्बहिरूप वृत्तियाँ ही दिशाओं के आकारमें फैली हुई मालूम पड़ती हैं। देशके किसी एक आकारमें वृत्तिको बाँध दीजिये—मूलाधार या सहस्रार, दिव्य देश वैकुण्ठ, या आध्यात्मिक हृदय-देश इनमें-से कहीं भी एक हृदय-देशमें वृत्तियोंको बाँध दीजिये द्विभुज, चतुर्भुज आदि मूर्तियोंमें भी लम्बाई-चौड़ाई होती

है, शालिग्राम शिलामें भी गोलाई होती है। उसमें कहीं भी वृत्तिको स्थिर कर लेना, दूसरा स्थान स्फुरित न हो। इसको यहाँसे भी शुरू कर सकते हैं कि हम अपनी मनोवृत्तियोंको मकान, कमरे या शरीरके घेरेसे बाहर नहीं जाने देंगे। शरीरगत किसी चक्रमें वृत्तिको तदाकार कर दीजिये। धीरे-धीरे देशकी कल्पना सूक्ष्म होकर लुप्त हो जायगी और वृत्तिका स्थानान्तरण नहीं होगा। वस्तुतः वृत्तिका स्थानान्तरण नहीं होना। स्थानाकार कल्पना ही नाना रूप धारण करती है। न वृत्ति देशमें रहती है, न विदेश जाती है। वृत्ति ही तत्तत् रूपसे परिणत होती रहती है। जब वृत्ति अणु-देशमें स्थित होती है तब देशका विस्तार लुप्त हो जाता है और केवल वृत्ति ही रहती है। यह देश-कल्पना-विनिर्मुक्त वृत्ति, वृत्ति परिणामरूप देशके आश्रयसे संकोच-विस्तारसे मुक्ति पा लेती है और चित्त-सत्त्वसे एकता अर्थात् समाधिकी योग्यतासे प्राप्त कर लेती है समाधि और समाधानका अर्थ एक ही है। सम्यक् आधान अर्थात् वृत्तिका अपने चित्त-सत्त्वरूप कारण-द्रव्यसे अभिन्न होकर स्थित होना है।

वृत्तियाँ क्रम अथवा अक्रमसे उदय-विलयको प्राप्त होती रहती हैं। उदय एवं शान्तिका क्रम तो रहता ही है। क्रमकी संख्या ही वृत्तिका कालाकार परिणमन दिखाती है। भूत, भविष्य, वर्तमान सब वृत्तिमें ही हैं; न प्रकृतिमें, न पञ्चभूतमें। द्रष्टासे तो इनका सम्बन्ध कल्पित रूपसे भी नहीं हो सकता। वस्तुतः काल वृत्ति-रूप ही हैं। वृत्तियोंकी लयदशामें काल-संवित् नहीं रहती। जबतक संवित् है तभीतक काल है। जबतक काल है तभीतक तदाकार संवित् है। वृत्ति और कालको पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता। जब वृत्ति पुनः-पुनः एक ही लक्ष्यकी ओर प्रवाहित होने लगती है, एक ही लक्ष्यके सम्बन्धमें ताना-बाना फैलाने लगती है तो धीरे-धीरे वृत्तिकी गाढ़ता होनेपर काल अणु होता जाता है और उसके साथ ही वृत्ति भी अणु होती जाती है। अणु-दशामें जाकर काल. अपने अस्तित्वकी कल्पना खो देता है और वृत्ति कालाकार परिणामको छोड़कर लक्ष्याकार हो जाती है। फिर कालका बोध नहीं रहता। वृत्ति क्रमसे हो, अक्रमसे हो, प्रतिलोमक्रमसे हो, कैसे भी क्यों न हो उसमें अणुकाल जान पड़ता है। ध्यानकी पराकाष्ठामें उसी काल-कल्पनाका लोप हो जाता है। इस समाधि अथवा समा-

धान दशामें लक्ष्य-ही-लक्ष्य फुरता है, वह काल नहीं। इसलिए ध्यान समाधिका अव्यवहित पूर्ववर्ती साक्षात् साधन है।

समाधि विज्ञान :

यही कारण है कि आत्मा अथवा ब्रह्म देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है यह सिद्ध करनेके लिए योगसाधनामें आवश्यकता ही नहीं होती। वृत्तियोंका निरोध अथवा समाधि होनेपर देश, काल और विविध कार्य-वस्तुएँ भासती ही नहीं। चित्तवृत्तियाँ एक अखण्ड चित्त-सत्त्वसे एक हो जाती हैं और उसका द्रष्टा समग्र चित्त-सत्त्वका विभु—द्रष्टा होता है। दूसरा पुरुष है, कोई ईश्वर है, प्रकृति प्राकृत है, यह सब वृत्ति-विलास है। वृत्ति जब चित्त-सत्त्वमें लीन हो जाती है, तब द्रष्टा किसीका द्रष्टा नहीं, दृङ्मात्र ही रहता है। इसीको 'कैवल्य' कहते हैं।

वृत्तिका चित्त-सत्त्वमें शान्त होना समाधि है। इसके दो विभाग हैं; विवेकख्यातिके पूर्व और उसके पश्चात्। पहलीका नाम सम्प्रज्ञात समाधि, दूसरीका नाम असम्प्रज्ञात समाधि है। इनमें विवेक ख्याति ही विभाजक रेखा है। प्राकृत प्रपञ्चका स्वाभाविक उदय-विलय पुरुषके कैवल्यका हेतु नहीं है। अभ्यासजन्य समाधिसे कैवल्य होता है। अतः समाधि-स्थिति लाभ करनेके लिए प्रयत्न आवश्यक है।

चित्त-सत्त्वका साम्योन्मुख या वैषम्योन्मुख स्पन्दन ही वृत्ति है। साम्यमें आकार सम होते हैं और वैषम्यमें विषम। 'वर्तनम् वृत्तिः' व्यापृत होनेका नाम वृत्ति है। योगदर्शनमें इन्हें पाँच प्रकारका माना गया है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। ये अविद्या आदि पञ्चक्लेशों-से युक्त भी होती हैं और वियुक्त भी। इनका रूप चाहे कुछ भी क्यों न हो निरोध करने योग्य ही है। लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक सभी प्रकारकी वृत्तियाँ निरोध्य कोटिमें ही आती हैं। धर्मानुष्ठान; भगवद्भक्ति, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, इनमें-से किसीको योगी लोग निरोध्यसे बाहर नहीं मानते। जब प्रमाण, प्रमेय एवं प्रमारूप समग्र व्यवहार ही वृत्तिरूप है और उसका निरोध करना है तब दूसरी वृत्तियोंकी तो महत्ता ही क्या है? यह एक अलग दर्शन है। भक्ति-दर्शन और वेदान्त-दर्शन इस प्रकारके समाधि-योगको स्वीकार नहीं करते, क्योंकि भक्ति और ब्रह्मविद्या दोनों ही वृत्तिरूप हैं और उन्हें निरोध कर देनेके

बाद भगवदाकारताकी प्राप्ति और अविद्याकी निवृत्तिके लिए कोई साधन ही नहीं रह जाता। इसीका नाम शास्त्रोंमें प्रस्थान-भेद है। अस्तु!

स्थूल-आलम्बनसे वृत्तियोंका निरोध, सूक्ष्म आलम्बनसे वृत्तियोंका निरोध, आनन्दालम्बनसे वृत्तियोंका निरोध—सम्प्रज्ञात समाधिके ये चार प्रकार हैं। इनके तीन विभाग और होते हैं—ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतामें समापत्ति। समाधिकालमें ज्ञान शब्द एवं अर्थका भेद मिट जाता है। योग-सिद्धान्तमें ज्ञान भी प्रकृतिका ही परिणाम है। इसलिए 'घट' शब्द 'घट' अर्थ और 'घट' ज्ञानकी एकता होनेपर प्राकृत ज्ञानमें ज्ञाता-ज्ञेयका भेद नहीं रहता। परन्तु अप्राकृत चितिशक्ति ज्ञानस्वरूप ज्यों-की-त्यों रहती है। यहीं प्राकृत ज्ञान और शुद्ध ज्ञानका पृथक्करण हो जाता है। इसे विवेक-ख्याति कहते हैं। समाधिकालमें प्रशान्त भावसे संस्कार प्रवाहित होते रहते हैं। जब द्रष्टाके सम्मुख त्रिपुटी अर्थ मात्र भासती है तब सबीज-समाधि है। जब उसका भी निरोध हो जाता है तब सबका निरोध हो जाता है और निर्बीज-समाधि सिद्ध हो जाती है।

सिद्धान्त वैलक्षण्य :

योग-सिद्धान्तकी यह विलक्षणता है कि वहाँ पुरुष कर्ता नहीं है। प्रकृति ही कर्तृ है। वह स्वाभाविक रूपसे परिणामको प्राप्त होती है और बुद्धिपूर्वक करती है। होना और करना प्रकृतिके दोनों ही रूप हैं। निद्रा स्वतः होती है और समाधि बुद्धिपूर्वक की जाती है। बुद्धि जब वृत्तियों-को बहिर्मुखताकी ओरसे निवृत्त करके अन्तर्मुखताकी ओर तीव्र संवेगसे धक्का दे देती है तब वे कर्तृत्वके बिना ही अपने लक्ष्यसे जाकर मिल जाती है; अर्थात् पुरुषके सम्मुख चित्त-सत्त्वसे एक होकर स्थिर हो जाती है। समाधिकी साधनामें बुद्धिका कर्तृत्व काम करता है। परन्तु विवेक-ख्याति हो जानेपर वह निष्क्रिय हो जाता है। इस प्रकार बहिर्मुख परिणामके द्वारा प्रकृति ही पुरुषको भोग देती है और अन्तर्मुख परिणामके द्वारा अपवर्ग देती है। पुरुष असंग उदासीन है, वह अपने कैवल्यमें स्थित है, उसमें न भोग है, न अपवर्ग है। योग-दृष्टिसे कृतार्थ पुरुषके प्रति प्रपञ्च नहीं रहता। परन्तु प्रपञ्च एक प्राकृत सत्य है। वह दूसरे अकृतार्थ पुरुषोंके प्रति ज्यों-का-त्यों बना रहता है। जो वृत्तिनिरोध करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जायगा वह मुक्त है और जो

ऐसा नहीं करेगा वह बद्ध है और वृत्तियोंके साथ घुल-मिलकर जैसी-जैसी वृत्तियाँ होंगी वैसा-ही-वैसा वह बनता रहेगा। शरीरमें अभिनिवेश होनेपर भयकी उत्पत्ति होती है, पञ्चतन्मात्राओंके प्रति राग-द्वेष होता है। अहंताकी कक्षामें अस्मिता जुड़ जाती है। महतत्त्वमें बुद्धिकी भ्रान्त करनेवाली अविद्या है। समाधि प्रकृति-लयकी समानान्तर-रेखापर है। परन्तु पुरुष इन सबसे विलक्षण है। संसारके सभी क्लेश वृत्ति-सारूप्यके कारण हैं। इन्हींसे परिवर्तन, ताप, संस्कार, गुण वृत्ति-विरोधके कारण दुःख होता है। अतः योगाभ्यासके सिवाय इनसे बचनेका कोई उपाय नहीं है।

योग विभूतियाँ :

योगानुष्ठानके साथ विभूतियोंका भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब वृत्तियाँ परिच्छिन्न देहका तादात्म्य छोड़कर परिपूर्ण चित्त-सत्त्वसे एक होने लगती हैं तो उसके पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्तिका सम्बन्ध वृत्तियोंसे भी होने लगता है। इससे अणिमा, महिमा, लघिमा आदि सिद्धियोंका प्रकाश होना सम्भव है। दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, परचित्त-ज्ञान, परकाया-प्रवेश—ये सब क्षुद्र सिद्धियाँ हैं। जब वृत्तियाँ चित्त-सत्त्वमें डूबकर निकलती हैं तो कुछ-न-कुछ ले आती हैं। ये विभूतियाँ, समाधि, विवेक-ख्याति एवं पुरुषकी स्वरूप-स्थितिके प्रति विघ्न हैं। यदि योगाभ्यास करते-करते कोई सिद्धि आ भी जाय तो मौनके द्वारा अर्थात् उसे गुप्त रखकर दबा देना चाहिए। सिद्धियोंके प्रति आकर्षण या प्रदर्शन या ख्यातिका भाव होनेपर यौगिक लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

योग और धर्म :

धर्म और योग—दोनों ही पुरुष-प्रयत्न-साध्य हैं। अतएव अपौरुषेय श्रुतिके द्वारा इनका उपदेश होनेपर भी यह त्वं-पदार्थ-प्रधान जीवके धर्म ही हैं। यही कारण है कि शास्त्रोंमें इन्हें अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके नामसे कहा गया है। अनुष्ठान-प्रवण बुद्धिके द्वारा धर्म होता है, शान्ति प्रवण बुद्धिके द्वारा योग। सिद्धि-लाभ तक इन दोनोंका समुच्चय नहीं चल सकता। सबके लिए इनका विकल्प भी योग्य नहीं है। अतः अधिकारीभेदसे ही इनकी व्यवस्था करनी चाहिए। जिसकी प्रवणता (झुकाव या रुझान) कर्मकी ओर है उसके लिए धर्मका विधान है, जिसका

झुकाव शान्ति एवं समाधिकी ओर है उसके लिए योगाभ्यासका। धर्म करण शुद्धिका प्रधान साधन है और योग कर्ताकी शुद्धिका। अतएव दोनों वेदोक्त त्वं-पदार्थके शोधनमें सहायक हैं।

भागवत धर्म

तत्पदार्थ और भक्ति :

अब तत्पदार्थ-प्रधान धर्मका विचार करते हैं। तत्-पद सर्वनाम भी है और ईश्वर-नाम भी है। 'ॐ तत् सत्' प्रसिद्ध है। धात्वर्थ है—प्रपञ्चका विस्तारक—तनोति। उसके स्वरूपका चिन्तन, स्मरण, श्रवण, कीर्तन, सब तत्पदार्थ-प्रधान धर्म हैं। जिससे मन उसमें लगे उसपर मनःकल्पित आवरण भंग हो। वह तत्पदार्थ-प्रधान धर्म होता है। लोक-भाषामें उसे भक्ति कहेंगे। संसारको और ईश्वरको विभागपूर्वक अलग-अलग करके ईश्वरका अनुसन्धान करना। 'भाग-विभाग' भक्ति है। 'भजन' भक्ति है। 'संसार-भञ्जन' भक्ति है। त्वं-पदार्थके चिन्तनमें आत्म-अनात्म-विवेकका जो स्थान है वही तत्-पदार्थके चिन्तनमें भक्तिका स्थान है। अपरोक्षका विवेक, परोक्षकी भक्ति। प्रत्यक्षानुमानवादी चार्वाक, बौद्ध आत्मा-परमात्माकी सत्ता स्वीकार नहीं करते। जैन संकोच-विकास-शील आत्माको मानते हैं, परमात्माको नहीं। जैन एवं बौद्धोंमें भक्ति तो है परन्तु वह वीतराग सिद्ध पुरुष तीर्थङ्कर अथवा बुद्धकी है, परमात्मा-की नहीं। न्याय-वैशेषिकमें युक्ति-सिद्ध परमात्मा है। योगदर्शनमें साधन-सिद्धिमें सहायक प्रयोजनसिद्ध परमात्मा है। तत्त्व-दृष्टिसे सांख्ययोगमें परमात्माको दृश्य-विभाग या द्रष्टा-विभागमें अन्तर्भूत करना पड़ेगा या द्रष्टा-दृश्यसे विलक्षण महाद्रष्टाकी कल्पना करनी पड़ेगी। पूर्वमीमांसामें आत्मा कर्ता है फलदाता परमात्मा स्वीकार नहीं है। कर्म स्वयं अपना फल दे लेता है। वेदान्त-दर्शनमें परमात्मा माया-उपाधिसे युक्त होकर जगत्का कर्ता भी है और जीवोंके कर्मका फलदाता भी है। यह केवल युक्ति-सिद्ध या भावकल्पित नहीं, श्रुतिसिद्ध है। परमार्थके अनुभवमें इसका एक स्थान है। जीव-ईश्वर अविद्या-मायासे विनिर्मुक्त-स्वरूपमें अभिन्न है।

प्रपञ्च कारणत्व-विचार :

प्रपञ्चके कारणके सम्बन्धमें भी विविध मत हैं। चार्वाक भूत-चतुष्टयसे सृष्टि मानते हैं। उन्हें उत्पत्ति-प्रलय स्वीकार नहीं है। अतएव कर्म

या ईश्वर-रूप निमित्तकी आवश्यकता नहीं होती। जैन सृष्टिकी उत्पत्ति एवं विनाश तो नहीं मानते परन्तु पुद्गलको उपादान एवं कर्मको निमित्त मानकर पदार्थोंके जन्म-मृत्युकी संगति लगाते हैं। भूत-चतुष्टय और पुद्गल दोनों बहिरङ्ग हैं, कर्म अन्तरङ्ग है। न्यायवैशेषिक परमाणुको उपादान, ईश्वरको निमित्त और कर्मादिको सहकारी मानते हैं। इसका उपादान भी बहिरङ्ग हैं। बौद्ध अन्तरङ्ग कारणवादी हैं। उनका विज्ञान चित्त, शून्य कर्म सब कुछ अन्तरङ्ग ही है। उनके कार्य-कारणवादमें परमात्माके लिए कोई स्थान नहीं है। सांख्य-योगमें प्रकृति उपादान एवं निमित्त दोनों ही है, वह स्वयं बनती है और स्वयं बनाती है। बुद्धि और पुरुषके बीचमें स्थित होनेके कारण वह अन्तरङ्ग है। पूर्वमीमांसक सृष्टिको अनादि-अनन्त मानते हैं। इसमें कर्म-निमित्तक विचित्रता है। आत्मा कर्ता-भोक्ता है। सृष्टि-बहिरङ्ग है परन्तु कर्म एवं कर्ता अन्तरङ्ग ही हैं।

वेदान्त तत्-पदार्थस्वरूप परमात्माका निरूपण करता है। उसमें दो धारा बन गयी हैं—सगुणवादी और निर्गुणवादी। सगुणवादीमें वैष्णव शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि अनेक अवान्तर भेद हैं। परन्तु आश्चर्य है कि ये सब-के-सब परमात्माको अभिन्न-निमित्तोपादान कारण मानते हैं। कोई विशेष्य-विशेषण, कोई कार्य-कारण, कोई स्वाभाविक, कोई औपाधिक, कोई विवर्त, कोई परिणाम मानते हैं। ऐसा मानना, जानना अनुभव करना इसलिए भी आवश्यक है कि श्रुतियोंमें एक विज्ञानसे सर्व विज्ञानकी प्रतिज्ञा है। मृत्तिका-लौह और स्वर्णके दृष्टान्तों द्वारा परमात्माकी एकताका प्रतिपादन है। उपनिषद् स्पष्ट कहती है—सब कुछ प्रज्ञान-घन ही है। ब्रह्म-सूत्र भी दुविधामें नहीं। उसका कहना है; श्रुतिका आदेश है कि केवल परमात्मा ही सत्य है। अन्यत्र श्रूयमाण प्रकृति भी परमात्माका ही एक नाम है। सब कुछ परमात्मासे अनन्य है, विकार वाचारम्भण (नाम) मात्र है। आत्मा सब है, ब्रह्म सब है, वह सब है, सत् सब है, अहं सब है, इस प्रकारके अनेकानेक मन्त्र उपलब्ध हैं। अतएव परमात्माके अतिरिक्त जो कुछ जान पड़ता है वह भ्रम-कल्पित है अथवा परमात्माका आत्म-विलास है। सत्के कार्य हैं परन्तु सत् अपरिणामी है। चित्की प्रतीतियाँ हैं परन्तु वह दृश्य कभी नहीं होता। आनन्दके लीला-विलास हैं परन्तु वह निर्विकार है।

परिणाम-रहितमें कार्य है। अदृश्यमें दृश्य है। भोक्ता-भोग्यके बिना आनन्द है। परमात्मोका यही वेदान्त-सिद्ध स्वरूप है। यह केवल श्रद्धाका विषय नहीं है। आवरण भंग होनेपर साक्षात् अपरोक्ष अनुभव-स्वरूप है, पहले श्रुति-सिद्ध है, पश्चात् अनुभव-स्वरूप है।

भजनीय तत्त्वकी अद्वयता :

यह परमात्मा यदि आत्मासे पृथक् हो तो प्रत्यक्ष होनेपर दृश्य, कार्य, जड़ एवं भोग्य हो जायेगा। परिच्छिन्न मानना पड़ेगा। यदि परोक्ष हो तो केवल कल्पित होगा। परमात्माकी प्रत्यक्ष-परोक्षसे विलक्षण साक्षात् अपरोक्षता, अभेदको स्वीकार किये बिना हो नहीं सकती। परमात्मा मुझसे अलग होकर कल्पित है, सत्ताशून्य है, मूर्च्छित है, जड़ है। परमात्मासे अलग होकर आत्मा मृत्युग्रस्त है, मूर्च्छित है, दुःखी है। अतएव श्रुति-सिद्ध परमात्मा अद्वितीय है। एकका दो-तीनमें अन्वय होता है। उनसे व्यतिरेक भी होता है। एकमें वृद्धि-ह्रास-विभाग-संयोग-पृथक्त्व आदि हैं परन्तु अद्वितीयमें यह सब कुछ नहीं है। अतः वेदान्तोंने निरुपाधिक स्वरूपमें आत्मा-परमात्माके अभेद एवं अद्वितीयताका ही निरूपण किया है। निश्चय ही तत् तथा त्वं-पदार्थका निरूपण करनेके लिए बहुत-से वेदान्त-वाक्य हैं, उन्हें अवान्तर-वाक्य कहते हैं। उन सबके द्वारा निरूप्य 'तत्-त्वं'का सामानाधिकरण्य एवं 'असि' पदके द्वारा सांकेतिक एकता दोनों पदार्थोंको उपाधिका निषेध करके स्वरूपकी अद्वितीयता बोधित करती हैं। अद्वितीयतामें उपाधियाँ बाधित हो जाती हैं, फिर प्रयोजन-पूर्ति हो जानेसे निषेध्य भेद-समर्पक एवं तन्निवर्तक वाक्य, महावाक्य भी बाधित हो जाते हैं। सत्य प्रत्यगात्मासे अभिन्न एवं अद्वय ब्रह्म है।

भागवतधर्ममें अधिकार-वैलक्षण्य :

अबतक यह विचार किया गया कि धर्म तथा परमधर्म अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ब्रह्मात्मैक्य-साक्षात्कारमें उपयोगी हैं। यह निश्चित है कि उनके विशेष-विशेष अधिकारी होते हैं। धर्मके अनुष्ठानमें वह अधिकारी होता है जो उसके साध्य-फलका इच्छुक हो, समर्थ हो, समझदार हो एवं शास्त्र-निषिद्ध न हो। अधिकार सम्पत्तिके बिना अविधि-पूर्वक निरुद्देश्य किया हुआ धर्मानुष्ठान अपूर्व द्वारा फलोत्पादक नहीं होता।

समाधिके द्वारा आत्मस्वरूपावस्थानके इच्छुक विवेकवान् अभ्यास-वैराग्य-परायण व्यक्ति योगके अधिकारी होते हैं। विवेक-वैराग्य-शमादि सम्पत्ति-युक्त मुमुक्ष जिज्ञासा-सम्पन्न होकर ब्रह्मात्मैक्य बोधके अधिकारो होते हैं। कहना न होगा कि इस प्रकारकी साधन-सम्पन्नता सर्वसाधारणके लिए सुगम नहीं है। मानसिक दुर्बलताओंके कारण पग-पगपर वासनाके वशीभूत होकर दुश्चरित्रताके गर्तमें गिरना, हीनताकी ग्रन्थिसे आबद्ध होना, भोग्य वस्तुओं एवं ममतास्पद व्यक्तियोंके प्रति अनर्थकारक आसक्ति, विद्या-बुद्धि-धन आदि आगन्तुक विनश्वर वस्तुओंका मिथ्याभिमान, अज्ञानको ही ज्ञान समझ बैठना, कुछ ऐसे बाधा-विघ्न हैं जिनके कारण मनुष्य धर्म, योग या ज्ञानकी साधना करनेमें समर्थ नहीं हो पाता। यह न कर पाना बलपूर्वक निषेधके कारण नहीं है परन्तु अपनी अयोग्यताओंके कारण है। इन अयोग्यताओंसे ऊपर उठनेके लिए किसी प्रबल आश्वासन अथवा दृढ़ आलम्बनकी आवश्यकता होती है। फिसलता हुआ सँभल जाय, गिरा हुआ उठ जाय, पिछड़ा हुआ भी आगे बढ़े, इसके लिए कोई दृढ़ आश्रयकी अपेक्षा होती है। गिरे हुएको गोदमें उठा ले, दीन-हीनको हृदयसे लगा ले, बेसहारेका सहारा बन जाय; ऐसा कोई-न-कोई होना चाहिए और ऐसा अवश्य कोई है। वह ऐसा होना चाहिए जो हमारी योग्यताओंकी ओर न देखे, क्योंकि वह तो अयोग्यता ही है। अपने सहज शील-स्वभावसे ही हमारा रक्षण, पालन-पोषण एवं संवर्द्धन करे। मनुष्यकी इसी आशाकी पूर्तिके लिए भागवत-धर्म प्रकट हुआ है।

भागवत-धर्मकी यह विशेषता है कि वह अधिकार-अनधिकारकी परीक्षा नहीं करता। वह निरीक्षण-समीक्षणके बिना ही क्षण-क्षण सत्रके ऊपर कल्याणकी वर्षा करता है। भागवत-धर्म एक ओर नारदादि ऋषियों, धर्मराजादि देवताओं, मनु आदि राजाओं, व्यास आदि विद्वानों शुक आदि अवधूतोंमें रहता है, तो दूसरी ओर वृत्रासुर आदि दैत्यों, गोपियों, गायों, पशुओं, पक्षियों, वृक्षों, लताओं और अजामिल आदि पतितोंमें भी प्रकट होता है। जैसे एक बगीचेका माली अपने लगाये हुए पौधेको निर्बल देखता है तो स्वयं उसकी गोड़ाई, सिंचाई, छँटाई, खाद एवं औषधियोंके प्रयोग करके उसका रोग मिटाता है, दोष दूर करता है और सव प्रकारके सम्वर्द्धन करता है। ठीक इसी प्रकार भगवान् जब अपने किसी बीज या जीवको निर्बलताके कारण पतित होते देखते हैं तो

उसको अपने हाथोंसे सँभाल लेते हैं। अधिकारियोंको अपने दरबारमें बुला लेना सगुण भगवत्ताकी सार्थकता नहीं है, दीन-परिपालनमें ही भगवत्ता सफल होती है। अधिकार-परीक्षाके बिना ही अपनी कृपा-वीक्षासे जीवको निहाल कर देनेके कारण ही भगवान्‌के धर्मको जिसका नाम भागवत-धर्म है सब धर्मोंकी अपेक्षा विशेषता प्राप्त है। यह सर्वसम्मत है कि भागवत-धर्म अधिकारी-निरपेक्ष है। मनुष्य हो या पशु, देवता हो या दानव, ब्राह्मण हो या शूद्र, स्त्री या पुरुष, धनी हों या दरिद्र, बालक हो या वृद्ध, दुराचारी हो या सदाचारी, मूर्ख हो या पण्डित, सभी इस धर्मके अधिकारी हैं। जब हम ब्रजकी लीलाओंमें या रामके वनवासमें पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, सभीको भगवत्प्रेमसे सराबोर होते देखते हैं तो बरबस ही लगने लगता है कि कृपणके घरमें छाँट-छाँटकर बड़े लोगोंको भोजन कराया जाता है परन्तु उदार पुरुषके घरमें सबके लिए द्वार खुला होता है। भागवत-धर्म सचमुच ऐसा ही उदार है इसका द्वार सबके लिए सर्वदा एवं सर्वत्र खुला हुआ है। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति प्रभुकी सहज करुणा ही भागवत-धर्मके रूपमें अवतीर्ण हुई है।

भागवतधर्मका स्वरूपवैलक्षण्य :

श्रौत-स्मार्त आदि धर्मोंमें यज्ञ-यगादि-रूप विशेष कर्म करने पड़ते हैं। अधिकार-विचारके साथ ही कर्मके सम्बन्धमें विधि-विधान होते हैं। विविध कर्मोंकी विविध विधा, उनमें थोड़ी-सी भी भूल हो जाये तो प्रत्यवायकी उत्पत्ति हो जाती है। संकल्पमें भूल हो जाये, क्रिया पूर्वापर हो जाये, अंग-संचालनमें त्रुटि हो जाये, सामग्री शुद्ध न हो, मन्त्र-वर्णका उच्चारण ठीक न हो, यजमानकी अन्यथा प्रवृत्ति हो जाये, पुरोहितसे त्रुटि हो जाये, अंग-वैगुण्य हो जाये, अनेक कारणोंसे अनुष्ठानात्मक-धर्मकी सफलतामें बाधा पड़ती है। कर्म-विशेषका नाम धर्म होता है, वह साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होना चाहिए। किसी-किसी यज्ञ-यागमें, परिसंख्या-विधिसे ही सही, हिंसाका भी समावेश होता है। उसके लिए श्रद्धा, उत्तमकाल, पवित्र-स्थान, न्यायोपार्जित वस्तु, वृत्ति-सन्तोष आदिकी भी अपेक्षा होती है। भागवत-धर्ममें यह सब कुछ अपेक्षित नहीं है चाहे जो भी कर्म हो वह भगवान्‌के प्रति अर्पित होना चाहिए। कर्म-विशेषका नियम नहीं है, समर्पण-भावकी विशेषता है। जहाँ श्रौत-स्मार्त-धर्ममें

कर्तृत्व, संकल्प, विधि, सामग्री एवं कर्म-समग्रताका बल है, फलकी प्राप्तिके लिए, वहाँ भागवत-धर्ममें बल है तो केवल एक भगवान्‌का। इसमें कर्ता-कर्मकी प्रधानता नहीं है, **उद्देश्यकी प्रधानता** है। आचार्योंकी वाणी है : प्रमेय-बलसे भक्ति बलवती है। विधानबलसे धर्म, अभ्यास-बलसे योग, प्रमाण-बलसे वेदान्त और प्रमेय बलसे भक्ति। धर्म और भक्तिमें यही महान् अन्तर है। धर्म प्रमाताका क्रिया-कलाप है, भक्ति प्रमेयका अवतरण है। इसलिए शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे, संस्कारजन्य स्वभावसे, जो कुछ भी करे वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर नारायणके उद्देश्यसे समर्पित कर दे। भागवतधर्ममें कर्मका स्वरूप निर्धारित नहीं है। **एकमात्र भगवदर्पण ही उसका स्वरूप है।** परधर्म रूप योगाभ्यासमें जहाँ क्रमशः अन्तर्मुख होते जाना आवश्यक है वह शर्त भी भागवत-धर्ममें नहीं है। भागवत-धर्ममें अनुष्ठान नाम-मात्र ही है। वस्तुतः यह तत्त्वज्ञानके समान **अनुष्ठान-निरपेक्ष आस्था-प्रधान धर्म है।** कहीं-कहीं तो आस्था भी प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आती जैसे अजामिलमें।

फल-वैलक्षण्य :

श्रौत एवं स्मार्त-धर्मकी भागवत-धर्मके साथ यदि फलकी दृष्टिसे तुलना करें तो महान् अन्तर है। धर्मानुष्ठानसे कर्तामें या उनके अन्तःकरणमें एक ऐसी अपूर्व वस्तु उत्पन्न होती है जो धर्मानुष्ठानके पूर्व नहीं रहती। वही समय पर फलके रूपमें प्रकट होती है। जितना धर्म उसी-के अनुपातमें फल। फल देकर अपूर्व नष्ट हो जाता है फल भी समय पर नष्ट हो जाता है। क्षणिक कर्मसे अविनाशी फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती; चाहे वह स्वर्ग हो या ब्रह्मलोक एक दिन न रहेगा। वहाँके सुखसे वञ्चित होनेपर दुःख भी अवश्यम्भावी है। कृतक अनित्य होता है, दृष्ट नष्ट हो जाता है। 'जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।' धर्मका फल उत्पाद्य, संस्कार्य, विकार्य या आप्यकी कोटिमें होता है! बल सीमित, फल सीमित। परन्तु भक्तिरूप भागवत-धर्मका फल भगवत्प्राप्ति है। भगवान् उत्पाद्य, संस्कार्य, विकार्य आप्य या विनाशी नहीं हैं, वे जड़-चेतन सबके परमार्थ-स्वार्थके रूपमें नित्य प्राप्त हैं। उनकी प्राप्ति—अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं है अपने आपकी ही प्राप्ति हैं। इसलिए भागवत-धर्मका फल भगवत्प्राप्ति विनश्वर नहीं है। गुण-विशिष्ट भगवान्‌की प्राप्ति भक्ति-विशिष्ट

ज्ञानसे होती है। अतएव सगुण परमेश्वरकी प्राप्तिमें भक्ति सर्वथा स्वाधीन है। इसको धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास अथवा निर्गुण ज्ञानकी किञ्चित् भी अपेक्षा नहीं है।

पूर्वमीमांसामें फलदाताके रूपमें ईश्वर स्वीकार नहीं है। उत्तर-मीमांसामें स्पष्ट रूपसे ईश्वरको फलदाता अंगीकार किया हुआ है। जैसे धर्मात्माको धर्मके फलस्वरूप स्वर्ग-सुखादिरूप फल चाहिए वैसे भक्तको भक्तिके सिवाय दूसरा कोई फल नहीं चाहिए। सम्पूर्ण साधनोंका फल भगवद्भक्ति है। यह स्वयं फल है; क्योंकि इसीमें भगवद्-रस प्रतिफलित होता है। जिस फलमें भगवद्रस प्रतिफलित नहीं होता वह फल परिणाममें कटु है। भक्तके लिए भगवान्से भी बढ़कर भक्ति है। जैसे सती स्त्री अपनी भक्तिसे अपने सज्जन पतिको वशमें कर लेती है वैसे ही भक्त भक्तिसे भगवान्को। भगवान्को वशमें करनेका सामर्थ्य भक्तिमें कहाँसे आया ?

भागवतधर्म रसात्मक है :

भक्तिके स्वरूपकी मीमांसा करते हुए सांख्यवादी कहते हैं कि यह सत्त्वगुणमयी प्रकृतिकी ही एक स्वाभाविक वृत्ति है। उनके दर्शनके अनुसार यह ठीक है, परन्तु जड़ चञ्चला परिणामिनी प्रकृतिकी वृत्तिमें भगवान्को वशमें करनेका सामर्थ्य नहीं हो सकता। योगी लोग समाधि-के साधनके रूपमें ईश्वरालम्बन-चित्तवृत्तिको भक्तिके रूपमें स्वीकार करते हैं। वे ईश्वर-प्रणिधानको महत्त्वपूर्ण तो स्वीकार करते हैं, परन्तु समाधि-सिद्धिके लिए उसे निरोध्य मानते हैं। अक्लिष्ट-वृत्ति अवश्य है, परन्तु है तो वृत्ति ही जिसको स्वयं निरोध-स्थानमें जाना है वह वृत्ति भगवान्को वशमें किस शक्तिसे करेगी ? प्रक्रियावादी वेदान्ती अविद्याके परिणाम अन्तःकरणकी भगवदाकारवृत्तिको भक्ति कहते हैं। परन्तु ब्रह्मविद्या द्वारा अविद्या एवं उसके कार्यका बाध होते ही मिथ्या हो जानेवाली भक्ति परमेश्वरको वशमें कैसे कर सकती है ? कोई कहते हैं भक्ति भी वैध क्रिया-कलाप अथवा रागानुग-भावनासे उदित भावनाका परिपाक-विशेष है, वह भी परमेश्वरको वशमें करनेमें असमर्थ है। कोई कहते हैं—भक्ति ईश्वरकी शक्ति है, परन्तु शक्ति शक्तिमान्को वशमें नहीं कर सकती। यह आह्लादिनी शक्ति भी नहीं है; क्योंकि उसका काम सेवा है, वशीकरण नहीं। वस्तुतः भगवान्की परमान्तरंगा आह्लादिनीका

सारसर्वस्व ही भक्तिके रूपमें प्रकट होता है। वह भगवद्-रससार-सर्वस्व राधा ही भक्तिके रूपमें प्रकट होकर भगवान्को अपने वशमें करती है। यह धर्मका फल नहीं है और न योगाभ्यासकी स्थिति। यह भगवद्-रसका स्वतःसिद्ध आविर्भाव है।

भागवतधर्ममें प्रामाण्य-वैलक्षण्य :

धर्ममें प्रमाण विधि-शास्त्र है, ब्रह्मज्ञानमें प्रमाण वेदान्तशास्त्र है। निश्चय ही दोनों वेद हैं, शाश्वत ज्ञानके निधान हैं। इन्होंने अपने अन्दर दुर्लभ रहस्यके रूपमें भक्तिको गुप्त रखा है। ऋषि-मुनियोंके मुखसे धर्म प्रकट हुआ। आचार्य महर्षियोंके द्वारा ज्ञान प्रकट हुआ। स्वयं भगवान्के श्रीमुखसे वह वेदोंका गुप्त खजाना प्रकट हुआ। भगवान्की अदभ्र करुणा उनके कोमल हृदयको भी कोमलातिकोमल बनाकर अपने साथ रहस्यात्मक भक्तिको उनकी वाणीपर ले आयी और उन्होंने स्वयं इसका उपदेश किया। भगवान्ने स्वयं अपनी प्राप्तिके लिए जो उपाय बतलाये हैं उसे 'भक्ति' कहते हैं। इसका अर्थ है भक्तिके वक्ता भी विलक्षण हैं। कोई अनुमानसे बता दे कि वह व्यक्ति अमुक-स्थानपर मिलेगा कोई सुन-सुनाके, कोई पूर्व स्मृतिके आधारपर कोई कल्पना ही कर ले; इससे उस व्यक्तिका मिलना सुनिश्चित नहीं हो जाता। परन्तु यदि वह व्यक्ति स्वयं ही अपने मिलनेका स्थान, समय, युक्ति बता दे तो उसका मिलना सर्वथा सुनिश्चित हो जाता है। भगवत्प्राप्ति न आकाशमें उड़नेकी बात है, न गुहामें प्रवेश करनेकी, न डोंड़ी पोटनेकी। यह भक्त, भगवान्का परस्पर प्रेम-मिलन है और वे स्वयं ही उसका संकेत करते हैं। भगवद्वचनकी विशेषता है—वह सबके लिए हितकारी होता है और सबके जीवनमें सद्भाव, चिद्भाव एवं आनन्दभावको भर देता है। भगवद्वचन छाँट-छाँटकर हित नहीं करता तथा रसदानमें किसी प्रकारकी कृपणता नहीं करता। अभिप्राय यह है कि भक्तिमें प्रमाण है भगवद्वाणी, जिससे वेदका गुप्त रहस्य प्रकट होता है। इस प्रकार वक्ताकी विशेषतासे भी भक्तिकी विशेषता है।

भागवतधर्मकी ये विशेषताएँ :

धर्म क्रियारूप है। वह अधिकारी पुरुषके द्वारा अनुष्ठित होता है। कर्ता विधि-विधानका ज्ञाता होता है। धर्म-महाराजकी पहचान ही यह

है कि उनका दर्शन कर-करके आर्य-पुरुष उनकी प्रशंसा करने लगते हैं और जय हो, जय हो बोलने लगते हैं। योग देवता पाँव दबाकर चलते हैं; किसीको पता न लग जाये। वे एकान्तवासी, पक्के अभ्यासीके जीवनमें आविष्ट होते हैं। ब्रह्मज्ञान शान्तदान्त, चिन्तनशील जिज्ञासुके हृदयमें चमक उठता है; परन्तु भक्ति माता अपने किसी भी पुत्रको अपनी गोदमें उठा लेती हैं और उसके रोम-रोमको अपने वात्सल्यरससे आप्लावित एवं आप्यायित कर देती हैं। उन्हें शास्त्रोक्त अधिकारी एकान्ताभ्यासी अथवा शान्त-दान्त जिज्ञासुकी अपेक्षा वह बालक अधिक प्यारा लगता है जो अज्ञानी है, अबोध है, कर्म करनेमें असमर्थ है। एकान्त होनेपर रोता है, डरता है, जिसे मुक्ति नहीं चाहिए, प्रेम-माधुरी-का बन्धन ही जिसको भाता है, वह कभी-कभी अपनी माताको भी भूल जाता है परन्तु माता उसे नहीं भूलती। माता अपने अबोध शिशुपर करुणाकी गंगा बहा देती है। एकान्तवासीको लोरी देने लगती है, अशुद्धके मल-मूत्रको प्रक्षालित कर देती है। भक्तके प्रति भगवान्‌के ममत्वको वही चरितार्थ करती है। वह जब देखती है कि हमारा शिशु मलिनतासे लथपथ हो रहा है, आगमें हाथ डालने जा रहा है, अहंकार-ममकारकी विघ्न-बाधासे व्यथित हो रहा है, तब भगवती भक्ति माँके समान हो उसपर छा जाती हैं और अपनी स्नेह-माधुरीसे उसको निर्मल बना देती हैं, कुमार्गसे बचा लेती हैं, उसके तन-मनमें मुस्कान भर देती हैं। वे नासमझको ज्ञान देती हैं, मलिनको स्वच्छ करती हैं, पीड़ितको सुखी करती हैं। वे अबोधको सँभालती हैं, मलिनता दूर करनेमें रुचि लेती हैं, स्वयं मुस्कान बिखेरकर बच्चेके मुखकमलको भी विकसित कर देती हैं, रोतेको चुप कराती हैं, चुपको हँसाती हैं, भूखे-प्यासेको तृप्त करती हैं। इन्हें भगवान्‌के किसी रूपसे, किसी शिशुसे, किसी लीलासे कोई परहेज नहीं है। सबमें अपने प्रभुका अनुभव करना ही भक्तिका स्वभाव है।

धर्मानुष्ठानमें त्रुटि होनेपर प्रत्यवाय होता है और फलभ्रंश हो जाता है। योगमें प्रमाद होनेपर समाधिमें विघ्न आजाता है। तपस्यामें मद होता है। वैराग्यमें भगवद्-सम्बन्धी पदार्थोंका भी तिरस्कार हो जाता है। पाण्डित्यमें अल्पज्ञोंका अपमान होता है। मौनमें दीनता आती है। ज्ञानाभिमानी दूसरेकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाको भी आदर न देकर

उनको अपनी पूर्व स्मृतिका विषय मान बैठता है—'यह तो मैं पहलेसे ही जानता था'। इस प्रकार प्रायः सभी साधनोंमें कुछ-न-कुछ विघ्न हैं। सिद्धियोंका लोभ समाधिको भी दूर भगा देता है। ऐसी स्थितिमें सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंसे असंस्पृष्ट भक्ति माता ही मनुष्यके लिए एकमात्र त्राण-कल्याण-निर्वाणकी जननी है। भक्तिकी ओर बिना समझे-बूझे, आँख बन्द करके दौड़ पड़ो, बीच-बीचमें साधन-पथका क्रमभंग भले ही हो जाय परन्तु न इसमें पाँव फिसलता है और न तो लक्ष्यकी प्राप्तिमें कोई बाधा पड़ती है। भक्तिके मार्गमें स्खलन तथा फलभ्रंश नहीं है।

धर्म अन्तःकरण शुद्धिके पहले आता है, शुद्ध करता है। तत्त्वज्ञान अन्तःकरण शुद्धिके पश्चात् आता है। अशुद्धि-कालमें अन्तःकरणको सँभालनेवाली भक्ति ही है। यदि किसीसे धर्म छूट जाय, भगवान्‌का भजन करते-करते भजनका भी परिपाक न हो, वह भजनसे विमुख हो जाय तो स्वयं भजन ही उसको सहारा देकर अपनी ओर खींच लेता है। परन्तु यदि नित्यसिद्ध भगवान्‌का बल न हो तो केवल अपने बलपर किया हुआ कृतक धर्म कुछ भी नहीं दे सकता। इसका कारण क्या है? भक्तिके हृदयमें विराजमान भगवान् ही इसके कारण हैं। आचार्योंने इसको वस्तुकी शक्ति कहा है। भक्तिके विषय भगवान्‌की महिमा प्रमेय-प्रभुका बल है। आप जानते हैं अनजानमें कोई अमृत पी ले तो अमर हो जायगा कि नहीं? अनजानमें कोई विष पी ले तो मरेगा कि नहीं? भगवत्सम्बन्धी पदार्थ अमृत हैं। उनमें वस्तु-गुण हैं, भगवद्-रस है। हम जानें, न जानें वे हमारे जीवनमें आते हैं और हमको भगवन्मय बना देते हैं। जातिहीन, ज्ञानहीन, आचारहीन व्यक्ति भी भगवत्सम्बद्ध वस्तुसे अनजानमें ही जुड़कर परम कल्याण-भाजन हो जाते हैं। कुब्जामें काम था, कंसमें भय था, शिशुपालमें द्वेष था, पौण्ड्रकमें दम्भ था। इनमें-से कोई भी भगवान्‌को पहचानता नहीं था, निष्काम प्रेम-भक्तिकी तो चर्चा ही व्यर्थ है। जादू तो वह जो सिर पर चढ़कर बोले। भगवान्‌की शक्ति तो वह जो अव्यक्त रहकर ही हृदयमें भक्ति-फलको अभिव्यक्ति दे दे। अजामिलने कौन-सा जान-बूझकर भगवान्‌का नाम लिया था? शबरीने कब विधि-विधानसे धर्माचरण किया था? भगवान्‌ने स्वयं ही अपनेको भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें प्रतिष्ठित कर दिया है। उनके गुण-धर्मका लोप कभी नहीं होता।

भागवत धर्मकी मूल दृष्टि :

सगुण ब्रह्म जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। अर्थात् वही बनता है, वही बनाता है। हिरण्यगर्भसे लेकर कीट-पतंग-पर्यन्त एवं प्रकृतिसे लेकर तृण-पर्यन्त सब भगवान्का ही रूप है। आकृति, संस्कृति, विकृति, प्रकृति पृथक्-पृथक् प्रतीत होनेपर भी उनके भेदसे तत्त्वमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता। वह अपने सुनिश्चित स्वरूपका परित्याग नहीं करता। सत् अविनाशी है, चेतन-निर्विकार है, आनन्द निर्विषय है। निराकार है सत्, निर्वृत्तिक है चित्, अभोग है आनन्द। परन्तु ये आकार-विकार-भोग जो देखनेमें आते हैं ये कौन हैं? वही अभिन्न-निमित्तोपादान कारण प्रभु। उपादान जैसे घड़ेमें माटी, निमित्त जैसे घड़ा बनानेवाला कुम्हार, सूत, डंडा, चाक, थापी, सब कुछ। यह जगत् घट है। इसका मूल मसाला कर्ता-धर्ता-संहर्ता, कर्मसंस्कार-फल सब परमेश्वर है।

ईश्वरवादो अवैदिक उसे केवल निराकार रूपमें ही मानते हैं, साकार रूपमें नहीं, जैसे ईसाई, मुसलमान। ईश्वरवादी वैदिकोंमें कुछ ऐसे हैं जो ईश्वरको साकार नहीं मानते, वे द्वैतवादो हैं, त्रैतवादी हैं जैसे ब्रह्मसमाजी, आर्यसमाजी। अभिन्न निमित्तोपादान कारणवादी सभी सम्प्रदायके वैदिक ईश्वरको साकार-निराकार दोनों ही मानते हैं। विश्व वही है, विश्वातीत साक्षी वही है, विश्वकर्ता कारण वही है, विश्व-रहित भी वही है। वह सब है, सबसे न्यारा है। इस दृष्टिकोणसे सृष्टिको देखिये। आपको कहीं ईश्वरकी नये रूपसे प्राण-प्रतिष्ठा नहीं करनी पड़ेगी, वह सर्वरूपमें विद्यमान तथा वर्तमान है।

केवल निराकारवादी चाहे वैदिक हों या अवैदिक, उनके मतमें मूर्ति-पूजा और अवतारकी संगति नहीं लग सकती। वे सबमें परमात्मा मान सकते हैं, परन्तु सबको परमात्मा नहीं मान सकते। अद्वैतवादी भी बाधित-वृत्तिसे अधिष्ठानाभेदेन सबको परमात्मा ही मानते हैं। अतः उनके मतमें भी मूर्तिपूजा एवं अवतार सिद्ध होता है। सगुण परमेश्वरमें शरीर-शरीरी-भावसे, कार्य-कारणभावसे, उपादान-उपादेय-भावसे मूर्तिपूजा सिद्ध होती है और जीवोंके उद्धारके लिए कृपा-पारावार प्रभुका अवतार भी सिद्ध होता है। अतएव सनातन धर्मके सभी सिद्धान्त, साधन-पद्धति एवं पूजा-

प्रक्रिया समंजस एवं सुसंगत हो जाती है। प्रकृति परमेश्वरका ही एक नाम है। ब्रह्मसूत्रमें यह अत्यन्त स्पष्ट है। अतः प्रकृतिके प्रत्येक पदार्थमें परमेश्वर-भाव करके उपासना की जा सकती है। कालके रूपमें एकादशी, पूर्णिमा, शिवरात्रि, जन्माष्टमी आदि परमेश्वरके ही रूप हैं। दिव्य देशके रूपमें काशी, मथुरा, नैमिषारण्य, श्रीरङ्गम् आदि परमेश्वर ही हैं। इनका तो विन्यास भी वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा तुरीयके रूपमें माना गया है, जैसे काशी, वाराणसी, अन्तर्वेदी एवं अविमुक्त-क्षेत्र। सभी तीर्थोंमें, क्षेत्रोंमें इसी प्रकारका विवेक है। वस्तुओंमें शालिग्राम-शिला, नर्मदेश्वर आदि। द्विभुज, चतुर्भुज, त्रिकोण आदि आकार; शुक्ल, कृष्ण आदि रूप; सब परमात्माके ही उपास्य रूप हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन सबमें परमात्माकी भावना और अनुभव किया जाता है। माता-पिता, पति-पत्नी, बहन-भाई, कुमारी-कुमारके रूपमें भी ईश्वरकी पूजा होती है। गोबरकी गौरी, सुपारीके गणेश, पीपलके वासुदेव, गाय, घोड़े, हाथी भी परमात्माके स्वरूप हैं। सर्वरूपमें परमेश्वर। इसका विज्ञान ही उसका अभिन्न निमित्तोपादान-कारण होना है। स्थलचर, जलचर, नभचरके रूपमें भी परमात्माका प्रकाश होता है। राम, कृष्ण, मत्स्य, वाराह इसीके उदाहरण हैं। यही भागवत धर्मका विज्ञान है और विशिष्टता है। अपने शरीरमें भी भगवान्‌की पूजा होती है और आकाशमें भी। सम्पूर्ण चराचर विश्व भगवद्रूप है, और भगवान् आत्मस्वरूपसे अभिन्न हैं। यही भागवत-धर्म है। राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति करनेवाला ऐसा कोई धर्म नहीं है।

विशेष-विशेष प्रयोजनकी सिद्धिके लिए विशेष-विशेष रूपमें भगवान्‌की आराधना की जाती है। ज्ञान-प्राप्तिके लिए ऋषियोंमें, ऐश्वर्य-वीर्य-भोगकी प्राप्तिके लिए देवताओंमें, वंश-परम्पराकी वृद्धि एवं सांस्कृतिक सम्पदाकी रक्षाके लिए पितरोंमें परमेश्वरकी ही पूजा की जाती है। इसीसे श्राद्ध-तर्पण आदिकी भी संगति लग जाती है। भागवत धर्म सनातन-धर्म ही है, उससे पृथक् कोई अलग धर्म नहीं है। यह किसी आचार्य-विशेषके द्वारा चलाया हुआ केवल अपने अनुयायियोंके लिए नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌में बनी बनायी निखिल-विश्व-सृष्टिके लिए है।

●

पाराशर माधवके आधारपर

दान

वेदोंमें दानकी महिमाका वर्णन है: 'सभी प्राणी दानकी प्रशंसा करते हैं। दान करना बहुत कठिन है। इसलिए श्रेष्ठ पुरुष दानमें रस लेते हैं।' दूसरी श्रुति भी है: दान यज्ञोंका समूह है, वह दक्षिणा है लोकव्यवहारमें प्रति प्राणी दाताके आश्रयसे जीवित रहते हैं। दानसे शत्रुका नाश होता है। दानसे शत्रु मित्र हो जाते हैं। दानमें सब प्रतिष्ठित है। अतः दानको परम धर्म मानते हैं।'

आदित्य पुराणमें कहा है : 'लोकत्रयमें दानसे बड़ा कुछ भी नहीं है। दानसे ही स्वर्ग और दानसे ही लक्ष्मीको प्राप्ति होती है। दानसे ही विद्या और स्त्रीकी प्राप्ति होती है। दान धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका श्रेष्ठतम साधन है। इसीसे शत्रुपर विजय और रोगका नाश भी होता है।'

श्रुति-स्मृति द्वारा की गयी दानकी प्रशंसा दान-विधिका उपस्थान करती है। याज्ञवल्क्यने स्पष्टरूपसे दानका विधान किया है। प्रतिदिन पात्र-व्यक्तिको कुछ-न-कुछ देना चाहिए, निमित्तके अवसरोंपर विशेष-रूपसे। माँगनेपर भी देना चाहिए, श्रद्धापूर्वक शक्तिके अनुसार। गाय, पृथिवी, तिल, स्वर्ण आदि आदरपूर्वक पात्रके प्रति अर्पित करना चाहिए। आत्म-कल्याणकामी पुरुषको भी चाहिए कि जान-बूझकर अपात्रको कुछ न दे। नित्य-नैमित्तिक दान स्वरूप-विधिके अन्तर्गत है। याचनादान काम है। मनुका कहना है : 'नित्य-नैमित्तिक दान धर्मका अपनी शक्तिके अनुसार अवश्य सेवन करना चाहिए।' दो बात विशेष है। एक तो दाताका मन सन्तुष्ट होना चाहिए। दूसरे जिसे दिया जाय वह पात्र होना चाहिए। अग्नि-पुराणमें दान विधानकी भूमिकाके रूपमें धनकी निरर्थकताका वर्णन है। कहा है कि जिसका धन दान अथवा दूसरे प्राणियोंके उपयोगके काममें नहीं आता, जिस धनसे कीर्ति या धर्मका उपार्जन नहीं होता वह धन निरर्थक है। इसलिए दैव या पौरुषसे धनकी प्राप्ति होनेपर उसका दान करना चाहिए। साथ ही कीर्तिका कीर्तन करना चाहिए। विष्णु-धर्मपुराणका वचन है : 'सामर्थ्य होनेपर दान न करनेसे नरककी प्राप्ति होती है।' ब्रह्म-पुराणका कथन है : 'जिन लोगोंने पूर्व जन्ममें दान नहीं किया वे ही वर्तमान जीवनमें याचकके रूपमें देखे जाते हैं। व्यास कहते हैं कि 'पूर्व जन्ममें जिन्हें 'नहीं-नहीं' का अभ्यास था वे ही अब 'दो-दो' कहते डोलते हैं।' स्कन्दपुराणमें कहा है कि 'जो सामने आकर 'दो'—ऐसा माँगता है ऐसा वह उपदेश करता है कि दान न करनेका यही फल होता है।' दानका हाथ ऊपर रहता है और प्रतिगृहीताका नीचे। इसीसे यह स्पष्ट होता है कि किसकी ऊर्ध्वगति होती है किसकी अधोगति। दानमें बाधा डालनेसे ही निम्न गतिकी प्राप्ति होती है। शातातपने भी इसी मतका समर्थन किया है।

महर्षि देवलने विस्तारसे दानके स्वरूप और तत्सम्बन्धी कर्तव्यका निरूपण किया है। उन्होंने इस प्रकार प्रारम्भ किया है 'पात्रकी प्राप्ति होनेपर श्रद्धाके साथ अर्थका दान, दानके नामसे कहा गया है।' अब हम इसकी व्याख्या करेंगे।

द्वे हेतु षडधिष्ठानं षडङ्गं षड् विपाकयुक्।
चतुः प्रकारं त्रिविधं त्रिनादं दानमुच्यते॥

दानके दो हेतु, छह अधिष्ठान, छह अंग, छह विपाक, चार प्रकार, तीन विद्या और तीन नाद होते हैं।

अब इनपर क्रमसे विचार करते हैं। वस्तुका कम होना या अधिक होना दानके फलोदयमें कारण नहीं है। दानके दो हेतु हैं, वह है श्रद्धा और शक्ति। इन्हींसे वृद्धि एवं श्रेयकी प्राप्ति होती है।

दानके छह अधिष्ठान हैं, इन्हींके आधारपर दान फलता-फूलता है। वे हैं धर्म, अर्थ, काम, लज्जा, हर्ष और भय। प्रयोजन-पूर्तिकी अपेक्षा न रखकर केवल धर्म-बुद्धिसे पात्रको कुछ देना यह धर्म-दान है। प्रयोजनकी अपेक्षा करके प्रसंगवश ऐहिक फलके लिए कुछ देना अर्थ-दान है। स्त्री-पान, मृगया, जुआ आदिके प्रसंगसे रागवश अयोग्य व्यक्तियोंको जो दान किया जाता है वह काम-दान है। भरी सभामें कुछ संकोचवश या स्तुति सुनकर जो याचित दान दिया जाता है वह लज्जा-दान है। प्रिय संवाद सुनकर या देखकर हृदयमें हर्ष होनेपर जो दिया जाता है वह हर्ष-दान है। निन्दा, अनिष्ट एवं हिंसाका निवाकरण करनेके लिए अपकारी व्यक्तिको जो दिया जाता है वह भय-दान है।

दानके छह अंग हैं। दाता, प्रतिग्रहकर्ता, श्रद्धा, देय पदार्थ और देश, काल। दाता धर्मात्मा और पाप-रोगसे अनाकान्त होना चाहिए। उसके मनमें देनेका उत्साह हो, व्यसनी न हो, पवित्र हो, अपनी जीविकाके लिए निन्दनीय कर्म न करता हो। इन गुणोंसे युक्त दाता श्रेष्ठ माना जाता है। प्रतिग्रहकर्ता पात्र हो, माता, पिता एवं आचार्यसे शिक्षित होनेके कारण शुद्ध हो। उसकी जीविका शुद्ध कर्मसे चलती हो। दयालु, जितेन्द्रिय एवं कुलीन होना चाहिए। जो अर्थीको देखकर प्रसन्न हो, पवित्र हो, शुद्धात्मा हो, सदाचारी हो, माँगनेवालेका दोष

न देखे तो उसके हृदयमें दानपर श्रद्धा है, यह समझना चाहिए। देय पदार्थ पवित्र वह होता है (वह चाहे थोड़ा हो या बहुत) जो सदाचारके अविरुद्ध कर्मसे प्राप्त हो, क्लेशसे युक्त न हो और अपने प्रयत्नसे प्राप्त किया गया हो। देश एवं काल वही श्रेष्ठ हैं जिनमें जो वस्तु अत्यन्त दुर्लभ हो, उसीका दान किया जाय। दाता और पात्रकी सम्प्राप्ति होनेपर हीन देश, काल भी श्रेष्ठ हो जाते हैं और विपरीत होनेपर श्रेष्ठ भी हीन हो जाते हैं।

फलकी दृष्टिसे भी दानके छह भेद होते हैं। इन्हें छह विपाक कहा जाता है। दुष्फल; निष्फल, हीन, तुल्य, विपुल और अक्षय दानके ये छह विपाक हैं। नास्तिक, चोर, हिंसक, जार, पतित, चुगलखोर, भ्रूणघाती इन्हें जो कुछ दिया जाता है वह 'दुष्फल' होता है। अर्थात् उसका बुरा फल मिलता है। बड़ी-से-बड़ी वस्तुका दान भी यदि श्रद्धासे रहित हो तो वह निष्फल हो जाता है। दूसरेको बाधा पहुँचानेवाला दान 'हीन' दान है। शास्त्रोक्त विधिसे किया हुआ दान भी यदि कलुषित चित्तसे किया जावे तो संकल्प-दोषके कारण 'तुल्य' ही रह जाता है वृद्धि एवं श्रेयकारण नहीं बनता। छहो अंग पूरा हो तो दान 'विपुल' होता है। दयावश दिया हुआ दान 'अक्षय' होता है।

दैविक दान-मार्ग चार प्रकारसे वर्णित हैं। ध्रुव, आजस्त्रिक, काम्य और नैमित्तिक। प्याऊ लगाना, बगीचा-सरोवर बनाना और उसको सबके लिए सर्मपित कर देना यह ध्रुव दान है। प्रतिदिन दान करना आजस्त्रिक है। सन्तान-विजय, ऐश्वर्य, स्त्री आदिकी प्राप्तिके लिए जो दान किया जाता है वह काम्य है। नैमित्तिक दान तीन प्रकारका होता है, अमुक समयपर देंगे, अमुक काम होनेपर देंगे और अमुक वस्तु मिलनेपर करेंगे। इनके भी तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। अन्न, विद्या, वधू, वस्त्र, गाय, भूमि, स्वर्ण, घोड़ा और हाथी इन उत्तम वस्तुओंका दान उत्तम दान है। ओढ़नेके कपड़े और औषध देना मध्यम दान है। जूता, वाहन, छाता, वर्तन, आसन आदि देना छोटा दान है। संसारमें वस्तुएँ बहुत हैं इसलिए उनकी गिनती नहीं की जा सकती। अपने मुँहसे बोलनेपर तीन बात बिगड़ जाती है—यज्ञ, दान और अध्ययन। अपनी श्लाघा और पश्चात्ताप ये दोनों इनके तेजको क्षीण कर देते हैं। इसलिए अपने द्वारा किये हुए अच्छे कामोंका वर्णन नहीं

करना चाहिए। गीतामें दानके तीन भेद कहे हैं—सात्त्विक, राजस, तामस। वे लोक-प्रसिद्ध हैं।

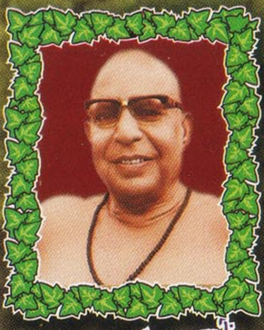
याज्ञवल्क्यका कहना है कि कोई भी व्यक्ति विद्वान् या तपस्वी होनेसे दानका पात्र नहीं हो जाता। जब सदाचारके साथ ये दोनों बातें रहती हैं तब मनुष्यको पात्र बना देती हैं। विद्वान्, धर्मात्मा, शान्त, क्षमाशील, दान्त, सत्यवादी, कृतज्ञ, स्वाध्यायशील, धैर्यशाली, गोरक्षक, याज्ञिक, दाता ब्राह्मण दानका पात्र होता है। जो पतनसे त्राण करे उसे पात्र कहते हैं।

स्कन्द पुराणमें विशेष रूपसे किसको दान करना चाहिए इस प्रसंगमें कहा है कि सबसे पहला दान अपने गुरुको दिया जाय वही सर्वोत्तम है। उसके बाद क्रमशः दूसरे ब्राह्मणोंको दान करना चाहिए। गुरु न हों तो उनके पुत्र, पत्नी, पौत्र, प्रपौत्र, दौहित या उनके वंशके किसी व्यक्तिको देना चाहिए। अब्राह्मणको जितना दिया जाता है उतना ही रहता है। सामान्य ब्राह्मणोंको देनेपर दुगुना हो जाता है। विद्यार्थीको देनेसे चौगुना हो जाता है और विद्वान्को देनेसे अनन्त। यह विद्वान् कौन है? जो सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलय, जीवोंके गमनागमन और मोक्ष-बन्धके हेतु विद्या-अविद्याको जानता है वही सच्चा विद्वान् है। पिता, माता, पुत्री एवं भाई-बन्धुओंको देनेसे भी दानका पुण्य होता है। बहिन, भानजे, मामा, बुआके लड़के यदि दरिद्र हों तो उन्हें भी दान करना चाहिए। अपने पासका पात्र सर्वोत्तम होता है। देश-विप्लवके समय धन, स्त्री आदि छिन जानेपर जो कष्टमें रहते हैं उनको देना अति पुण्यका काम है। जो अपनी बुराइयोंको ढककर किसी कारणवश व्रत करता है वह विडालव्रती है। जो कृष्ण, मिथ्या-विनयी, स्वार्थी और अधोदृष्टि है वह बकव्रती है इनको दान नहीं करना चाहिए। जो वेतन लेकर देवताकी पूजा करता है उसकी संज्ञा देवल हो जाती है वह दानका पात्र नहीं रहता। जो व्यापारके प्रसंगमें लेना-देना होता है वह भी दान नहीं है। वृद्ध मनु कहते हैं कि कोई ब्राह्मण भले वह उत्तम पात्र क्यों न हो यदि दान ग्रहण करके—प्रतिग्रह लेकर बुरे काममें खर्च करता है तो उसे कुछ नहीं देना चाहिए। जो सब जगहसे दान तो ले परन्तु उसे अपने पास इकट्ठा करता जाय, धर्मके लिए धनका उपयोग न करे उसे दान नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह तस्कर है—

पात्रभूतोऽपि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम्।
असत्सु विनियुञ्जीत तस्मै देयं न किञ्चन॥
सञ्चयं कुरुते यश्च प्रतिगृह्य समन्ततः।
धर्मार्थं नोपयुङ्क्ते च न तं तस्करमर्चयेत्॥

दान अपनी भूमिमें बैठकर करना चाहिए, यदि दूसरेकी भूमि हो तो भूमिके स्वामीसे अनुमति ले लेना चाहिए। एक बार ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करके जो आरूढ़पतित हो गया हो उसे भी दान नहीं करना चाहिए। अन्यायकी कमाई भी दानके काम नहीं आती, सदाचार एवं विद्यासे रहित व्यक्ति दानका अधिकारी नहीं है। पतित एवं तस्कर दानके पात्र नहीं है। जिसने अपने गुरुके मनमें क्रोध पैदा कर दिया हो उसे भी दान नहीं देना चाहिए, इत्यादि।

लँगड़े, अन्धे, बहरे, गूँगे और रोगियोंको दान नहीं दिया जाता, उनका भरण-पोषण किया जाता है। अयोग्यको देना और योग्यको न देना यह भी धर्महानि है। दानमें अपनी इष्ट, विशिष्ट न्यायानुसार प्राप्त वस्तु गुणवान् पुरुषको दी जाती है। अपना वंश चल रहा हो तो सर्वस्व-दान नहीं करना चाहिए। उसके लिए भी रखना चाहिए। अपने कुटुम्बका विरोध नहीं होना चाहिए। पत्नी-पुत्रका दान नहीं करना चाहिए। एकको देनेकी प्रतिज्ञा करके फिर दूसरेको नहीं देना चाहिए। अपने आश्रितोंको भोजन-पानकी व्यवस्था करके तब दान करना चाहिए। धनका तीन हिस्सा करना चाहिए। एक अंश अपने लिए और दो अंश धर्मके लिए। क्योंकि यह जीवन अनित्य है। यदि कोई महात्मा भोजनके समय आजाय तो घरके लोगोंको भूखा रखकर भी उसे खिला देना चाहिए।



अखण्डानन्द सरस्वती

चारु चिन्तन

परमपूज्य महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजके भक्ति-ज्ञान-कर्म पर लिखित लेखोंका अद्वितीय संकलन है यह 'चारु चिन्तन'।

जुलाई 1979 में सुश्री मिथिलेश शाहके आर्थिक सहयोग से 'आनन्द वृन्दावन चैरिटेबल ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित होने के पश्चात् यह अप्राप्य हो गया था।

महाराजश्री के परमकृपापात्र मुम्बईवासी श्रीलक्ष्मी नारायण मूंदड़ाजी महाराजश्रीके अनुपलब्ध/अप्रकाशित ग्रन्थोंके प्रकाशनमें रुचि रखते हैं-उन्हींके द्वारा प्रदत्त आर्थिक-सहयोग-महन्थ स्वामीश्री सच्चिदानन्द सरस्वतीजीके निर्देष पर सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा 'चारु चिन्तन'का प्रथम संस्करण आपके कर कमलोंमें शोभायमान है। विश्वास है आपको पसन्द आयेगा!

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

आनन्द कानन प्रेस
टेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337